अथ द्वितीयं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आशुशुक्षणि

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ १॥

१. **हे अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **द्युभिः**=इन ज्योतिर्मय सूर्यादि पिण्डों से **जायसे**=आविर्भूत होते हो। सूर्यादि पिण्ड आपकी महिमा को प्रकट करते हैं—आपकी ज्योति से ही तो ये ज्योतिर्मय हो रहे हैं। **त्वम्**=आप **आशुशुक्षणिः**=(आ शुच् सन्) सर्वतः दीप्यमान हैं—सब सूर्यादि पिण्डों को दीप्ति देनेवाले हैं। (आशु सनोति) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। **त्वम्**=आप ही **अद्भ्यः**=इन जलों से (जायसे=) प्रकट होते हैं। किस प्रकार ज्वलनशील हाईड्रोजन तथा ज्वलन की पोषक ऑक्सीजन से यह शान्ति को देनेवाला जल बन जाता है? **त्वम्**=आप **अश्मनः**=इन पाषाणों से भी तो **परि** (जायसे)=सब ओर प्रकट हो रहे हैं। एक मही भिन्न-भिन्न दबावों से प्रभावित होकर किस प्रकार विविध रूपों को धारण कर लेती है? २. हे **नृणां नृपते**=प्रगतिशील व्यक्तियों के रक्षक प्रभो! **त्वम्**=आप **वनेभ्यः**=इन वनों से तथा **त्वम्**=आप **ओषधीभ्यः**=इन ओषधियों से **जायसे**=प्रकट होते हैं। पर्वतों पर वनों की शोभा आपकी महिमा को प्रकट करती है। विविध प्रभावों से युक्त ओषधियाँ आपकी महिमा को किस ज्ञानी के लिए व्यक्त नहीं करतीं! **शुचिः**=आप ही सर्वत्र दीप्त हैं।

भावार्थ—देखनेवाले के लिए ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। प्रभु ही सर्वत्र देदीप्यमान हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सब कार्य प्रभु ही कर रहे हैं

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ऋतायतः**=यज्ञ को चाहनेवाले, पुरुष का **होत्रम्**=होतृकर्म **तव**=आपका ही है। यज्ञ को करनेवाले जो भिन्न-भिन्न ऋत्विज् हैं—उनसे किये जानेवाले कर्म आपकी शक्ति से ही हो रहे हैं। होता नामक ऋत्विज् निमित्तमात्र है, वस्तुतः उसके माध्यम से आप ही सब कार्य कर रहे हैं। **पोत्रं तव**=पोता नामक ऋत्विज् का कार्य भी आपका ही है। **ऋत्वियम्**=समय-समय पर होनेवाला **नेष्ट्रम्**=नेष्टा का कार्य भी **तव**=आपका है। **त्वम् अग्निन्**=आप ही अग्नीध्र हो। २. **प्रशास्त्रं तव**=प्रशास्ता का कार्य भी आपका ही है। **त्वम्**=आप ही **अध्वरीयसि**=अध्वर्यु का कार्य करते हैं। **च**=और आप ही **ब्रह्मा असि**=ब्रह्मा हैं। **च**=और **नः दमे**=हमारे इस घर

में **गृहपतिः**=गृहपति भी आप ही हैं। सब ऋत्विजों के माध्यम से तो आप कार्य कर ही रहे हैं, यज्ञ करनेवाले गृहपति के माध्यम से भी तो आप ही गृह का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—सब कार्य प्रभु कर रहे हैं, मनुष्य तो निमित्तमात्र है, अतः हमें कर्तृत्वाभिमान छोड़कर कर्म करते जाना चाहिए। वेदों का सार यही है—'**तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च। तस्माद्धर्मानिमान्सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत्।**'

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा-विधर्ता

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं, **सताम्**=सज्जनों के **वृषभः**=सब सुखों के वर्षण करनेवाले **असि**=हैं। २. **त्वम्**=आप ही **विष्णुः**=सर्वव्यापक हैं, **उरुगायः**=ख़ूब गायन के योग्य व स्तुत्य हैं, **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। ३. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **ब्रह्मा**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए हैं, सब गुणों की वस्तुतः चरमसीमा ही हैं। **रयिविद्**=सम्पूर्ण धनों के प्राप्त करानेवाले हैं। ४. हे **विधर्तः**=सबके धारण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **पुरन्ध्या**=पालक व पूरक बुद्धि से **सचसे**=समवेत होते हैं। सम्पूर्ण बुद्धि के आप स्वामी हैं। ५. मन्त्र के चार स्तुतिवाक्यों से स्तोता यह प्रेरणा प्राप्त करता है कि (क) ऐश्वर्यवान् व शक्तिशाली बनकर वह सज्जनों का रक्षक बने (ख) व्यापक मनोवृत्तिवाला बनकर प्रशंसनीय जीवनवाला हो (ग) ज्ञानी बनकर वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करे (घ) बुद्धि का सम्पादन करके धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो।

भावार्थ—हम अपने पिता प्रभु की तरह 'इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा व विधर्ता' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा-मित्र-अर्यमा-अंश

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **राजा**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं, **वरुणः**=दुःखों का निवारण करनेवाले हैं, **धृतव्रतः**=सूर्यादि सब देवों को अपने-अपने व्रत में (=नियमित कर्म में) धारण करनेवाले हैं। २. **त्वम्**=आप **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाले—मृत्यु से व पाप से त्राण करनेवाले हैं, **दस्मः**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले हैं, **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। ३. **त्वम्**=आप **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) सब कुछ देनेवाले हैं, **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं, **यस्य**=जिन आपका दान **सम्भुजम्**=उत्तम पालन करनेवाला व (सततभुजम्=) निरन्तर पालन करनेवाला है। ४. हे **देव**=सब व्यवहारों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **अंशः**=उचित संविभाग करनेवाले हैं, **विदथे**=हमारे ज्ञानयज्ञों में **भाजयुः**=(फलानां भाजयिता) फलों के प्राप्त करानेवाले हैं। ५. राष्ट्र में राजा को भी प्रभु का प्रतिनिधि बनकर (क) प्रजाओं के दुःखों का निवारण करना चाहिए सबको स्वकार्य में स्थापित करना चाहिए (ख) प्रजाओं के प्रति स्नेहवाला होना चाहिए (ग) सबके पालन का ध्यान करना चाहिए (घ) और धन के उचित विभाग का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभु 'राजा, वरुण, धृतव्रत, मित्र, दस्म, ईड्य, अर्यमा, सत्पति व अंश' हैं। स्तोता

को भी चाहिए कि इन गुणों को अपने में धारण करे।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

त्वष्टा-पुरूवसुः

त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्नावो मित्रमहः सजात्यम्।
त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यं त्वं नरां शर्धो असि पुरूवसुः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप ही **त्वष्टा**=इस ब्रह्माण्ड के निर्माता व दीप्तिवाले हैं। **विधते**=उपासक के लिए आप **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति होते हैं, आपकी उपासना से उपासक उत्कृष्ट शक्ति को प्राप्त करता है। २. **तव ग्नावः**=यह सब स्तुतिवचन आपके ही हैं, **मित्रमहः**=हे हितकारी तेजवाले प्रभो! **सजात्यम्**=आपका ही हमारे साथ सच्चा बन्धुत्व है। ३. **त्वम्**=आप **आशुहेमा**=शीघ्रता से प्रेरणा देनेवाले हैं, **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वसमूह को **ररिषे**=देते हैं। ४. **त्वम्**=आप ही **नराम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के **शर्धःअसि**=बल हैं, **पुरूवसुः**=पालक व पूरक धनों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही उपासक को शक्ति देते हैं। आप ही सच्चे बन्धु हैं। उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को आप प्राप्त कराते हैं। आप ही पालक व पूरक धनों के दाता हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

शंगयः='शान्ति के गृह' प्रभु

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **रुद्रः**=(रुत् दुःखं, दुःखहेतुः, पापं वा, तद्द्रावयति) दुःखों व पापों को दूर करनेवाले हैं। **असुरः**=(असून् राति) प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। वस्तुतः प्राणशक्ति को देकर ही आप हमारे दुःखों व अशुभवृत्तियों को दूर करते हैं। आप **दिवः महः**=द्युलोक से भी महान् हैं। द्युलोक आपमें स्थित है, आप द्युलोक में स्थित हो (इसमें ही समा गये हो) ऐसी बात नहीं। **त्वम्**=आप ही **मारुतं शर्धः**=वायु सम्बन्धी बल हैं। वायु का सब वेग आप ही के कारण है। **पृक्षः**=हवीरूप अन्न के **ईशिषे**=आप ही स्वामी हैं। २. **त्वम्**=आप ही **अरुणैः**=(ऋ गतौ) निरन्तर गतिशील **वातैः**=इन वायुवों में **यासि**=गति करते हैं। वायु को गति आप ही प्राप्त कराते हैं। **शंगयः**=आप शान्ति व सुख के घर हैं। **त्वं पूषा**=आप ही सबका पोषण करनेवाले हैं। **विधतः**=पूजा करनेवाले यज्ञशील पुरुषों को **नु**=निश्चय से **त्मना**=आप स्वयं ही **पासि**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—अग्नि वायु सूर्य आदि सब देवों में प्रभु की शक्ति ही काम करती है। प्रभु ही शान्ति के गृह हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

द्रविणोदा-रत्नधा

त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत्॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अरंकृते**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाले के लिए **द्रविणोदाः**=आप धनों के देनेवाले हैं। **त्वम्**=आप **देवः**=सब कुछ देनेवाले **सविता**=सबके प्रेरक **रत्नधाः असि**=रमणीय रत्नों के धारण करनेवाले हैं। २. **त्वम्**=आप **भगः**=ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। **नृपते**=हे नरों के रक्षक प्रभो! आप **वस्वः ईशिषे**=सब वसुओं के ईश हैं। **यः**=जो **दमे**=इस शरीररूप गृह में **ते अविधत्**=आपकी उपासना करता है, उसके **त्वं पायुः**=आप रक्षक हो।

भावार्थ—हम अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें तो प्रभु हमें धनों के देनेवाले होते हैं, सब रमणीय रत्नों को प्राप्त कराते हैं। उपासक प्रभु की रक्षा का पात्र बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनन्त तेजःपुञ्ज प्रभु

त्वामग्ने दम आ विश्पतिं विशस्त्वां राजानं सुविदत्रमृञ्जते।
त्वं विश्वानि स्वनीक पत्यसे त्वं सहस्राणि शता दश प्रति॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विश्पतिम्**=प्रजाओं के पालक **त्वाम्**=आपको **विशः**=प्रजाएँ **दमे**=इस शरीरगृह में **आऋञ्जते**=प्रसाधित करती हैं **त्वाम्**=उन आपको, जो आप **राजानम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के व्यवस्थापक (Regulator) हैं, तथा **सुविदत्रम्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले हैं, अथवा 'सुधन'-(विद् लाभे)-वाले हैं। २. हे **स्वनीक**=उत्तम बल व दीप्तिवाले प्रभो! आप (अनीक Splendour, brilliance, form तेजस्) **विश्वानि**=सम्पूर्ण बलों व दीप्तियों के **पत्यसे**=ईश्वर हैं। **त्वम्**=आप **सहस्राणि**=हज़ारों **शता**=सैकड़ों व **दश**=दसियों, अथवा 'दशशता सहस्राणि'=१०००००० तेजों के **प्रति**=प्रतिनिधि हो। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता-यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः' सहस्रशः सूर्यों के तेज के समान प्रभु का तेज है। वस्तुतः सब पिण्डों को प्रभु ही तो दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही रक्षक हो-सुविदत्र हो-तेजःपुञ्ज हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पिता, भ्राता व पुत्र

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत्त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नरः**=उन्नति पथ पर चलनेवाले मनुष्य **पितरं त्वाम्**=सबके पालक आपको **इष्टिभिः**=यज्ञों से (विधन्ति) पूजते हैं। वस्तुतः प्रभु यज्ञों के द्वारा ही हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु ने वेद के द्वारा इन यज्ञों का उपदेश देकर हमारे रक्षण की व्यवस्था की है। २. **तनूरुचम्**=हमारे शरीरों को दीप्ति प्रदान करनेवाले **त्वाम्**=आपको **शम्या**=कर्मों के द्वारा **भ्रात्राय**=भ्रातृत्व के लिए—भरण व पोषण के लिए पूजते हैं। वस्तुतः कर्मों में लगे रहना ही भरण का सर्वोत्तम साधन है। ३. **यः**=जो **ते**=आपका **अविधत्**=पूजन करता है, उसके लिए **त्वम्**=आप **पुत्रः**='पुनाति त्रायते' पवित्र करनेवाले व रक्षा करनेवाले **भवसि**=होते हैं। प्रभु पूजन ही पवित्रता व रक्षा का मूल साधन है। ४. **त्वम्**=आप **सखा**=उपासक के मित्र होते हुए **सुशेवः**=उत्तम सुखों के देनेवाले हैं और **आधृषः**=समन्तात् शत्रुओं के घर्षण करनेवाले होकर **पासि**=उस उपासक का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पिता-भ्राता व पुत्र' हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्न-भूख-धन

त्वमग्न ऋभुराके नमस्यस्त्वं वाजस्य क्षुमतो राय ईशिषे।
त्वं वि भास्यनु दक्षि दावने त्वं विशिक्षुरसि यज्ञमातनिः॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **ऋभुः**=ख़ूब ही भासमान हैं अथवा ऋत से देदीप्यमान हैं। आप **आके**=अन्तिकतमस्थान हृदय में **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। २. **त्वम्**=आप **क्षुमतः**=भूखवाले **वाजस्य**=अन्न के तथा **रायः**=ऐश्वर्यों के **ईशिषे**=ईश हैं। आप अन्न को देते हैं, साथ ही खाने की शक्ति भी देते हैं। जीवनरक्षा के लिए अन्य आवश्यक धनों को भी देते हैं। ३. **त्वम्**=आप **विभासि**=ख़ूब ही दीप्त हैं। आप **दावने**=हवि के देनेवाले यजमान के लिए **अनुदक्षि** (धक्षि)=क्रमशः वासनाओं का दहन करनेवाले हैं। त्याग के अनुपात में आप वासना को दग्ध करते हैं। ४. **त्वम्**=आप **विशिक्षुः असि**=विशिष्ट शिक्षा को देनेवाले हैं और हमारे जीवनों में **यज्ञमातनिः**=यज्ञ का विस्तार करनेवाले हैं। प्रभु वेदज्ञान द्वारा हमें यज्ञों का उपदेश करते हैं और इस प्रकार हमारे जीवनों में यज्ञों का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें अन्न, खाने की शक्ति व धनों को देकर इस योग्य बनाते हैं कि हम वेदज्ञान को प्राप्त करके यज्ञमय-जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्रहा सरस्वती

त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा।
त्वमिळा शतहिमासि दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती॥ ११॥

१. हे **देव**=सब कुछ देनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—हवि देनेवाले के लिए **अदितिः**=(अविद्यमाना दितिः यस्मात्) न खण्डन होने देनेवाले हो। इस दाश्वान् के स्वास्थ्य को आप ठीक रखते हो। २. **त्वम्**=आप ही **होत्रा**=होमनिष्पादिका—यज्ञादि सिद्ध करनेवाली **भारती**=आदित्य-रश्मिरूप वाणी हैं। **गिरा**=इस वाणी के द्वारा आप **वर्धसे**=बढ़ते हैं—इस वाणी से आपका ही स्तवन होता है। ३. **त्वम्**=आप ही **शतहिमा**=शत हिम ऋतुओं तक चलनेवाली **इडा**=यह पृथिवी **असि**=हैं और **दक्षसे**=सब प्रकार उन्नतियों का कारण होते हैं (दक्ष् to grow)। अध्यात्म में पृथिवी 'शरीर' है। यह सामान्यतः सौ वर्ष तक चलता है, अतः 'शतहिमा' कहा गया है। ४. हे **वसुपते**=सब वसुओं—ऐश्वर्यों के स्वामिन्! **त्वम्**=आप ही **वृत्रहा**=सब वासनाओं को नष्ट करनेवाली **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्वास्थ्य को नष्ट नहीं होने देनेवाले हैं (अदिति)। ज्ञान की वाणियों से यज्ञों का उपदेश देते हैं (होत्रा भारती)। शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले इस शरीर को देकर हमारा वर्धन करते हैं (शतहिमा इडा)। वासनाओं के विनाशक ज्ञान को प्राप्त कराते हैं (वृत्रहा सरस्वती)।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तमं वयः-श्रियः-वाजः-रयिः

त्वमग्ने सुभृत उत्तमं वयस्तव स्पार्हे वर्ण आ संदृशि श्रियः।
त्वं वाजः प्रतरणो बृहन्नसि त्वं रयिर्बहुलो विश्वतस्पृथुः॥ १२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **सुभृतः**=उत्तमता से धारण किये हुए होने पर **उत्तमं वयः**=उत्कृष्ट जीवन होते हैं। आपको धारण करने पर हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनते हैं। २. **तव**=आपके **स्पार्हे**=स्पृहणीय **सन्दृशि**=दर्शनीय **वर्णे**=वर्ण में **श्रियः आ**=सब लक्ष्मियाँ आश्रय पाकर रहती हैं। प्रभु 'आदित्यवर्णम्' हैं, इस आदित्य के समान चमकते वर्ण में सब लक्ष्मियों का निवास है। अथवा 'वर्णे' का अर्थ है—वर्णन-गुणस्तवन। प्रभु के गुणस्तवन में सब लक्ष्मियों का निवास है। प्रभु के स्तोता को सब लक्ष्मियाँ प्राप्त होती हैं। ३. **त्वम्**=आप ही **वाजः**=वह बल **असि**=हैं, जो कि **प्रतरणः**=हमें सब शत्रुओं से तरानेवाला है—सब शत्रुओं को जीतने की क्षमता प्रदान करता है तथा **बृहन्**=वृद्धि का कारणभूत है। ४. **त्वम्**=आप ही **रयिः**=वह धन हैं, जो कि **बहुलः**=बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाला है और **विश्वतः पृथुः**=सब दृष्टिकोणों से विस्तारवाला है। आप से दिया हुआ धन हमारी आवश्यकताओं का पूरण करता हुआ हमारी सब शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें उत्कृष्ट जीवन-श्री-शक्ति व धन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु ही हमारे आस्य व जिह्वा हैं

त्वामग्न आदित्यास आस्यं१त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे।
त्वां रातिषाचो अध्वरेषु सश्चिरे त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्॥ १३॥

१. **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **आदित्यासः**=सब गुणो का आदान करनेवाले देव **आस्यं चक्रिरे**=अपना मुख बनाते हैं। हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **शुचयः**=ये पवित्रान्तःकरणवाले देव **जिह्वां चक्रिरे**=अपनी जिह्वा बनाते हैं। आपको ही अपना मुख, आपको ही अपनी जिह्वा समझते हैं, अर्थात् इन खानपान की क्रियाओं को भी आपकी शक्ति से ही होता हुआ जानते हैं। २. **रातिषाचः**=दान से मेलवाले, अर्थात् सदा दान देनेवाले लोग **अध्वरेषु**=यज्ञों में **त्वाम्**=आपका ही **सश्चिरे**=सेवन करते हैं। **त्वे**=आप में ही **आहुतम्**=आहुति रूपेण डाली गयी **हविः**=हवि को **देवाः**=देव **अदन्ति**=खाते हैं। जब मनुष्य त्याग की वृत्तिवाला होता है तो यज्ञ को अपना पाता है। इन यज्ञों के द्वारा वह प्रभु का उपासन करता है। यज्ञ भी तो प्रभु द्वारा ही हो पाते हैं।

भावार्थ—वस्तुतः खानपान आदि भौतिक क्रियाओं और यज्ञादि अध्यात्म क्रियाएँ प्रभु- शक्ति से ही हुआ करती हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु से ही सब अन्न-रस प्राप्त होता है

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वया मर्तासः स्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विश्वे**=सारे **अमृतासः**=विषयवासनाओं के पीछे न मरनेवाले **अद्रुहः**=द्रोह की वृत्ति से रहित **देवाः**=दिव्यगुणोंवाले पुरुष **त्वे आहुतम्**=आपमें आहुत की गयी **हविः**=हवि को **आसा**=मुख से **अदन्ति**=खाते हैं, सदा त्यागपूर्व अदन करते हैं—यज्ञशेष को खाते हैं और वस्तुतः यह यज्ञशेष का सेवन ही इनके देवत्व का रहस्य है। २. **मर्तासः**=मनुष्य

त्वया=आपसे ही **आसुतिम्**=ओषधियों के रस को अथवा पशुओं के दूध को **स्वदन्ते**=आस्वादित करते हैं। **शुचिः**=पूर्ण पवित्र व देदीप्यमान आप ही **वीरुधाम्**=सब लताओं के **गर्भः**=गर्भस्थानीय **जज्ञिषे**=होते हैं। 'पुष्णामि ओषधीः सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मकः'=रसात्मक सोम के रूप में होकर आप ही सब ओषधियों का पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब अन्न-रस को प्राप्त करानेवाले हैं। सब ओषधियों का पोषण प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु की अद्वितीय शक्ति

त्वं तान्त्सं च प्रति चासि मज्मनाऽग्ने सुजात प्र च देव रिच्यसे।
पृक्षो यदत्र महिना वि ते भुवदनु द्यावापृथिवी रोदसी उभे॥ १५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **मज्मना**=अपने बल से **तान्**=गतमन्त्र में वर्णित उन सब देवों के साथ **सं** (गच्छसि)=संगत होते हैं। वस्तुतः आपके बल से ही तो वे बलवाले होते हैं। **च**=और आप **प्रति**=सब देवों के बल के प्रतिनिधि **असि**=हो। सब देवों का बल मिलकर एक ओर हो तो आपका बल उन सबके समान होता है। **च**=और इतना ही नहीं, हे **सुजात**=उत्तम विकासवाले **देव**=दिव्यगुणोंवाले प्रभो! आप बल के दृष्टिकोण से **प्ररिच्यसे**=उन सबके बल से अधिक बलवाले हो। उनके सम्मिलित बल से आपका बल अधिक है। उन सबकी शक्तियाँ आपके तेज के अंश के कारण ही हैं। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यद्**=जो **पृक्षः**=अन्न **अत्र**=यहाँ पृथिवीस्थ अग्नि में डाला जाता है वह **ते महिना**=आपकी ही अग्नि में स्थापित भेदक शक्ति से—**उभे**=दोनों **रोदसी**=परस्पर एक-दूसरे को आह्वान-सा करते हुए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक के **अनु विभुवत्**=अनुसार व्याप्त हो जाता है। अग्नि में डाले हुए घृत आदि पदार्थ अदृश्य सूक्ष्मकणों में विभक्त होकर सारे द्युलोक व पृथिवीलोक में व्याप्त हो जाते हैं। यह भी प्रभु की ही महिमा है। प्रभु ने ही पृथ्वीस्थ अग्नि में यह अद्भुत भेदकशक्ति रखी है।

भावार्थ—सब देवों के सम्मिलित बल से भी प्रभु का बल अधिक है। इस पृथ्वीस्थ अग्नि को प्रभु ने ही अद्भुत भेदकशक्ति प्राप्त करायी है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

यजमान व ऋत्विजों को स्वर्गप्राप्ति

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः।
अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १६॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ये सूरयः**=जो ज्ञानी यज्ञशील पुरुष **स्तोतृभ्यः**=प्रभुस्तवन करनेवाले स्तोताओं के लिए **गोअग्राम्**=गौवों की है प्रधानता जिसमें **अश्वपेशसम्**=अश्वों के सौन्दर्यवाली **रातिम्**=राति को—दक्षिणा को **उपसृजन्ति**=देते हैं, अर्थात् जब यजमान स्तोताओं को उत्तम गौ या घोड़ों को प्राप्त कराते हैं तो उस समय **अस्मान् च तांश्च**=हम यजमानों को और उन ऋत्विजों को **हि**=निश्चय से **वस्यः**=उत्कृष्ट वसु की ओर—स्वर्गरूप उत्कृष्ट निवासस्थान की ओर—**प्रनेषि**=ले चलते हैं। प्रभु यज्ञशील पुरुषों को स्वर्ग प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद्वदेम**=खूब ही आपका स्तवन करें। प्रभुस्तवन करते हुए हम

यज्ञिय जीवनवाले हों।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। ज्ञानयज्ञों में हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की व्यापक महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। अगला सूक्त भी प्रभुस्तवन के उपदेश से ही प्रारम्भ होता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यज्ञेन-हविषा-तना-गिरा'

य॒ज्ञेन॑ वर्धत जा॒तवे॑दसम॒ग्निं य॑जध्वं ह॒विषा॒ तना॑ गि॒रा।
स॒मि॒धा॒नं सु॑प्र॒यसं॒ स्व॑र्णरं॒ द्युक्षं होता॑रं वृ॒जने॑षु धू॒र्षद॑म्॥ १॥

१. **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **जातवेदसम्**=सर्वव्यापक व सर्वज्ञ प्रभु का **वर्धत**=वर्धन करो। प्रभु का उपासन यज्ञ से ही तो होता है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **यजध्वम्**=पूजो, उसके साथ मेल करो व उसके प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनो। यह पूजन **हविषा**=हवि के द्वारा होता है—दानपूर्वक अदन ही 'हवि' है। **तना**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा यह पूजन होता है। 'तनु विस्तारे'='शरीर की शक्तियों का विस्तार करना' यह प्रभु का समुचित समादर है—प्रभु से दिये हुए शरीर को स्वस्थ रखना यह हमारा कर्त्तव्य है ही। **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से यह आदर होता है। 'हविषा' शब्द हृदय की पवित्रता का संकेत करता है, 'तना' शरीर की शक्ति को बतलाता है तथा 'गिरा' मस्तिष्क की ज्ञानोज्ज्वलता का प्रतिपादक है। २. उस प्रभु का हम पूजन करें जो कि **समिधानम्**=ज्ञान से समिद्ध व दीप्त हैं, **सुप्रयसम्**=उत्तम अन्नोंवाले हैं। वस्तुतः उत्तम अन्नों के द्वारा हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त कराके हमारे ज्ञान को प्रभु उज्ज्वल करते हैं। **स्वर्णरम्**=इस प्रकार वे प्रभु हमें स्वर्ग की ओर ले जानेवाले हैं। **द्युक्षम्**=वे प्रभु दीप्त हैं—प्रकाशमयलोक में निवास करनेवाले हैं। हम भी अपने हृदयों को निर्मल बनाते हैं तो उन हृदयों में प्रभु का निवास होता है। **होतारम्**=वे प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। **वृजनेषु**=बलों में **धूर्षदम्**=मुख्य पद पर विराजनेवाले हैं—अपने उपासकों को भी शक्तिसम्पन्न बनानेवाले हैं।

भावार्थ—'यज्ञ, त्यागपूर्वक अदन, शक्तियों का विस्तार तथा ज्ञान की वाणियों का अध्ययन' यही प्रभुपूजन है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुस्तवन से प्रकाश की प्राप्ति

अ॒भि त्वा॒ नक्ती॑रु॒षसो॑ ववाशि॒रेऽग्ने॑ व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नवः॑ ।
दि॒व इ॒वेद॑र॒तिर्मानु॑षा यु॒गा क्षपो॑ भासि पुरुवार सं॒यतः॑॥ २॥

१. **न**=जिस प्रकार **धेनवः**=गौवें **स्वसरेषु**=(स्वयं सरणाधिकरणेषु सा०) स्वतन्त्रता से विचरण के आधारभूत गोष्ठों में **वत्सम्**=बछड़े के प्रति शब्द करती हैं, इसी प्रकार प्रजाएँ हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा अभि**=आपके प्रति **नक्तीः उषसः**=रात्रि और दिन **ववाशिरे**=प्रार्थना शब्दों को करते हैं। सब प्रजाएँ आपको ही पुकारती हैं। २. हे **पुरुवार**=पालक व पूरक है वरण जिनका ऐसे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **दिवः इव अरतिः**=द्युलोक की तरह व्याप्त हैं (अरतिः व्याप्तः विस्तृतः) 'खं ब्रह्म' हैं। **संयतः**=पूजा के द्वारा हृदय में बद्ध किये गये आप **मानुषा युगा**=इन मानव-दम्पतियों को **क्षपः**=रात्रियों में **भासि**=दीप्त करते हैं। कितना भी अन्धकारमय समय जीवन में आ जावे प्रभु

की आराधना से प्रकाश प्राप्त होता है और सब व्याकुलता दूर हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक घने अन्धकार में भी प्रकाश को देखता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय के अन्तस्तल में प्रभु का प्रेरण

तं देवा बुध्ने रजसः सुदंससं दिवस्पृथिव्योररतिं न्येरिरे।
रथमिव वेद्यं शुक्रशोचिषमग्निं मित्रं न क्षितिषु प्रशंस्यम्॥ ३॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **रजसः बुध्ने**=हृदयान्तरिक्ष के मूल में—हृदय के अन्तस्तल में **तम्**=उस प्रभु को **न्येरिरे**=निश्चय से प्रेरित करते हैं, जो **सुदंससम्**=उत्तम कर्मोंवाले हैं व सुदर्शनीय हैं, **दिवस्पृथिव्योः**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक में **अरतिम्**=गति करनेवाले व व्याप्त हैं अथवा इन द्युलोक व पृथ्वीलोक के ईश्वर हैं। २. जो प्रभु **रथम् इव वेद्यम्**=रथ की तरह जानने योग्य हैं—जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए वे प्रभु रथ के समान हैं—प्रभु को आधार बनाकर हम निश्चय से इस जीवनयात्रा को पूरा कर पाते हैं। **शुक्रशोचिषम्**=उज्ज्वल ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, अथवा प्रभुज्ञानदीप्ति हमारे जीवनों को निर्मल करनेवाली है। **अग्निम्**=वे प्रभु अग्रणी हैं। **मित्रं न**=सूर्य के समान देदीप्यमान हैं 'आदित्यवर्णम्'। **क्षितिषु प्रशंस्यम्**=मनुष्यों में प्रकर्षेण स्तुत्य हैं—अथवा सब लोकलोकान्तरों में स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष परमात्मा का ही हृदय के अन्तस्तल में स्मरण करते हैं। उसी का प्रशंसन करते हैं। यह शंसन ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वत्र व्याप्त आनन्दमय प्रभु

तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आ दधुः।
पृश्न्याः पतरं चितयन्तमक्षभिः पाथो न पायुं जनसी उभे अनु॥ ४॥

१. **तम्**=उस प्रभु को, जो कि **रजसि**=हृदयान्तरिक्ष में **आ उक्षमाणम्**=आनन्द रस का सर्वतः सेचन करनेवाले हैं, तथा **चन्द्रम् इव सुरुचम्**=चन्द्रमा के समान उत्कृष्ट दीप्तिवाले हैं, उन प्रभु को **स्वे दमे**=अपने ही शरीरगृह में **ह्वारे**=(उपह्वारे=The solitary place) वासनाशून्य एकान्त हृदयदेश में **आदधुः**=स्थापित करते हैं। २. उस प्रभु को स्थापित करते हैं, जो कि **पृश्न्याः पतरम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्षलोक में व्याप्त होनेवाले हैं। **अक्षभिः**=अपनी अनन्त आखों से (विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात्) **चितयन्तम्**=सबके सब कर्मों को जान रहे हैं। **पाथः न पायुम्**=उदक की तरह जो हम सबके रक्षक हैं—पानी जैसे भेषज है—सब रोगों का निवारण करनेवाला 'वारि' है, उसी प्रकार प्रभु हम सबके रक्षक हैं। **उभे जनसी**=दोनों जन्म देनेवाले पिता-माता के रूप में द्यावापृथिवी को **अनु**=व्याप्त किये हुए हैं। इस प्रभु को हृदय गुहा में धारण करते हैं। वस्तुतः इस प्रकार प्रभु को हृदय में धारण करने पर ही अद्भुत आनन्दरस का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने शरीर में वासनाशून्य विजन हृदयदेश में हम धारण करें। यह धारण ही हमें आनन्द की अनुभूति का देनेवाला होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञिय भावना व ज्ञान की वाणी

स होता विश्वं परि भूत्वध्वरं तमु हव्यैर्मनुष ऋञ्जते गिरा।
हिरिशिप्रो वृधसानासु जर्भुरद् द्यौर्न स्तृभिश्चितयद्रोदसी अनु॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **होता**=होता हैं—यज्ञों के लिए सब पदार्थों को देनेवाले हैं। **विश्वम् अध्वरम्**=सब यज्ञों को **परिभूतु**=सर्वतः व्याप्त करनेवाले हैं। **तम् उ**=उस प्रभु को ही **मनुषः**=विचारशील पुरुष **हव्यैः**=सब हव्य पदार्थों से—दानपूर्वक अदन से (हु दानादनयोः) तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **ऋञ्जते**=प्रसाधित करते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें—यज्ञशेष का सेवन करें और ज्ञान की वाणियों को अपनाएँ। २. इस प्रभुप्राप्ति के लिए ही एक उपासक **हिरिशिप्रः**=दीप्त हनु व नासिकावाला होता हुआ अर्थात् ख़ूब चबाकर खानेवाला तथा प्राणसाधना करनेवाला होता हुआ **वृधसानासु**=ओषधियों पर ही **जर्भुरत्**=अपना भरणपोषण करता है। वस्तुतः एक उपासक किसी प्राणी के मांस से अपने मांस को बढ़ाने का विचार कर ही नहीं सकता। ३. **न**=जिस प्रकार **द्यौः**=द्युलोक **स्तृभिः**=तारों से सारे लोक को प्रकाशयुक्त करता है, उसी प्रकार वे प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **अनु चितयत्**=अपने प्रकाश से परिपूर्ण करते हैं—सारे ब्रह्माण्ड को चेतना से युक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमारे मनों में यज्ञ की भावना हो और मस्तिष्क में ज्ञान की वाणी।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धन+प्रभुस्मरण

स नो॑ रे॒वत्स॑मिधा॒नः स्व॒स्तये॑ सन्दद॒स्वाव्र॒यिम॒स्मासु॑ दीदिहि।
आ नः॑ कृणुष्व सुवि॒ताय॒ रोद॑सी॒ अग्ने॑ ह॒व्या मनु॑षो देव वी॒तये॑॥ ६॥

१. **समिधानः**=गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों व ज्ञान की वाणियों से हृदय देश में समिद्ध किये जाते हुए **सः**=वह आप **नः**=हमारे लिए **रेवत्**=(रयिमत्) प्रशस्त धनयुक्त **स्वस्तये**=कल्याण के लिए हों। **रयिम्**=ऐश्वर्य को व धन को **सन्ददस्वान्**=देनेवाले आप **अस्मासु दीदिहि**=हमारे में दीप्त हों। २. **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **नः सुविताय**=हमारे भद्राचरण के लिए **आकृणुष्व**=सर्वथा करिए। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। मेरा मस्तिष्क व शरीर—ज्ञान व शक्ति दोनों सुवित के लिए हों। ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके मैं शुभमार्ग पर ही चलूँ। ३. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **हव्या**=हव्यपदार्थ **देववीतये**=दिव्यगुणों के विकास के लिए हों।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें—धन के साथ हमें प्रभु का स्मरण रहे। हमारा ज्ञान व बल हमें शुभमार्ग पर ले चले। 'त्यागपूर्वक अदन' हमारे में दिव्यगुणों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धन+ज्ञान+शक्ति व प्रभुस्मरण

दा नो॑ अग्ने बृह॒तो दाः स॑ह॒स्रिणो॑ दु॒रो न वाजं॒ श्रुत्या॒ अपा॑ वृधि।
प्राची॒ द्यावा॑पृथि॒वी ब्रह्म॑णा कृधि॒ स्व१॒॑र्ण शु॒क्रमुषसो॒ वि दि॑द्युतुः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारे लिए **बृहतः**=वृद्धि के साधनभूत ख़ूब ही धन को **दाः**=दीजिए। **सहस्रिणः**=सहस्र संख्यावाले धनों को **दाः**=दीजिए। २. **दुरः न**=द्वारों की तरह **श्रुत्या**=ज्ञान के लिए **वाजम्**=शक्ति को **अपावृधि**=हमारे लिए खोल दीजिए। जैसे किसी भवन के द्वारों को खोलकर भवन में प्रवेश के लिए सुगमता पैदा की जाती है, इसी प्रकार आप हमारे लिए शक्ति के द्वारों को खोलकर हमें ज्ञान में प्रवेश के लिए योग्य कीजिये। हम शक्ति व ज्ञान दोनों को प्राप्त करनेवाले हों। ३. आप हमारे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवी को **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **प्राची**=अग्रगतिवाला—उन्नतिवाला **कृधि**=करिए। इस ज्ञान को प्राप्त

करने से हमारे जीवनों में **स्वः न शुक्रम्**=आदित्य के समान देदीप्यमान आपको **उषसः**=उषाकाल **विदिद्युतुः**=(विद्योतयन्ति) विद्योतित करते हैं, अर्थात् हम उषाकालों में आपका ध्यान व स्तवन करते हुए आपको देखने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धन दीजिए, शक्ति व ज्ञान को प्राप्त कराइए, हमारे मस्तिष्क व शरीर को उन्नत करिए। हम प्रतिदिन आपका स्मरण करते हुए आपके देदीप्यमान रूप को देखने में समर्थ हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व प्रकाशमय सुन्दर जीवन

स इधान उषसो राम्या अनु स्वर्ण दीदेदरुषेण भानुना।
होत्राभिरग्निर्मनुषः स्वध्वरो राजा विशामतिथिश्चारुरायवे॥ ८॥

१. **सः**=वह **राम्या**=प्रभुस्मरण के कारण अत्यन्त रमणीय **उषसः अनु**=उषाकालों को लक्ष्य करके, अर्थात् उषाकालों में **इधानः**=हृदयान्तरिक्ष में ध्यान द्वारा दीप्त किया जाता हुआ प्रभु **अरुषेण भानुना**=आरोचमान दीप्ति से **स्वः न दीदेत्**=सूर्य के समान चमकता है, अर्थात् जब उपासक प्रभु का तल्लीनता से स्मरण करता है तो वे प्रभु एक उज्ज्वल प्रकाश के रूप में दिखते हैं। २. **मनुषः**=विचारशील पुरुष की **होत्राभिः**=स्तुतिवाणियों से वे प्रभु **अग्निः**=इस स्तोता को उन्नति पथ पर आगे ले चलनेवाले होते हैं। **स्वध्वरः**=वे प्रभु इस उपासक के जीवन में उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करानेवाले होते हैं। ये प्रभु इन सब **विशाम्**=प्रजाओं के **राजा**=जीवन को व्यवस्थित (Regulated) करनेवाले होते हैं। **अतिथिः**=उन्हें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं **आयवे**=गतिशील पुरुष के लिए ये प्रभु **चारुः**=सब गति को देनेवाले हैं (चरणशीलः) और उनके जीवन को सुन्दर बनानेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हैं—प्रभु हमारे जीवनों को प्रकाशमय करते हैं और उससे हमारे जीवन सुन्दर बनते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बुद्धि से ज्ञानधेनु का दोहन

एवा नो अग्ने अमृतेषु पूर्व्य धीष्पीपाय बृहद्दिवेषु मानुषा।
दुहाना धेनुर्वृजनेषु कारवे त्मना शतिनं पुरुरूपमिषणि॥ ९॥

१. हे **अमृतेषु पूर्व्य**=न नष्ट होनेवाले 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' इन तीन तत्त्वों में सर्वप्रथम स्थान में स्थित प्रभो! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **एवा**=इस प्रकार गतमन्त्रों के अनुसार प्रतिदिन आपका स्मरण करने से **नः**=हमें, **बृहद् दिवेषु**=ख़ूब ज्ञान की ज्योतियों की प्राप्ति के निमित्त **मानुषा धीः**=मनुष्य के लिए हितकारिणी बुद्धि **पीपाय**=आप्यायित करनेवाली हो। उपासना से हमें वह बुद्धि प्राप्त हो जो कि हमारी ज्ञानज्योति को निरन्तर बढ़ानेवाली हो। २. **कारवे**=कुशलता से कर्मों को करनेवाले के लिए **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली यह वेदवाणी रूप गौ **वृजनेषु**=पापवर्जन के निमित्त व शक्ति को प्राप्त कराने के निमित्त **दुहाना**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली होती है। यह धेनु **इषणि**=(एषणायां सत्यां) ज्ञानप्राप्ति की प्रबल कामना होने पर **त्मना**=स्वयं ही **शतिनम्**= शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले अथवा सैकड़ों धनों को प्राप्त करानेवाले **पुरुरूपम्**=अनन्त रूपोंवाले—विविध विषयों का निरूपण करनेवाले ज्ञान को दोहती है।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि देते हैं। इस बुद्धि के होने पर वेदवाणीरूप गौ हमारे लिए आवश्यक ज्ञान का दोहन करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुवीर्य-द्युम्न

वयमग्ने अर्वता वा सुवीर्यं ब्रह्मणा वा चितयेमा जनाँ अति।
अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषूच्चा स्वर्ण्ण शुशुचीत दुष्टरम्॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **अर्वता वा**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों से **ब्रह्मणा वा**=अथवा ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों से **जनान् अति**=सब मनुष्यों से लाँघकर **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट शक्ति को **आ चितयेम**=प्रकाशित करें। सब इन्द्रियों के अपने-अपने कार्य को ठीक प्रकार से करने के द्वारा हम अपनी शक्ति के द्वारा लोगों में चमक उठें। २. **अस्माकम्**=हमारा **द्युम्नम्**=ज्ञान धन **पञ्च कृष्टिषु**='ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र व निषाद रूप' पाँच भागों में विभक्त हुए मनुष्यों में **उच्चा**=ख़ूब उच्च हो, **दुस्तरम्**=किसी से पराजित न किया जानेवाला हो और **स्वः न**=सूर्य के समान **अधिशुशुचीत**=आधिक्येन दीप्त हो उठे।

भावार्थ—सब कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के ठीक होने से हम शक्ति व ज्ञान के द्वारा दीप्त हो उठें। कर्मेन्द्रियों के ठीक होने से हम **सुवीर्य,** दीप्त हों तथा ज्ञानेन्द्रियों के ठीक होने से **द्युम्न** से प्रकाशित हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिशाली ही प्रभु को पाता है

स नो बोधि सहस्य प्रशंस्यो यस्मिन्त्सुजाता इषयन्त सूरयः।
यमग्ने यज्ञमुपयन्ति वाजिनो नित्ये तोके दीदिवांसं स्वे दमे॥ ११॥

१. हे **सहस्य**=शत्रुओं के मर्षण करनेवाले बल में उत्तम प्रभो! **सः**=वे आप **नः बोधि**=हमारा ध्यान करिए। आपने ही तो हमारा पालन-पोषण करना है। **प्रशंस्यः**=आप ही शंसन के योग्य हैं। **यस्मिन्**=जिन आप में स्थित होनेवाले **सूरयः**=ज्ञानी पुरुष **सुजाता**=उत्तम विकासवाले होते हुए **इषयन्त**=गति करते हैं। २. वे आप हमारा पालन व पोषण करिए **यं यज्ञम्**=जिन उपासनीय आप को **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! उन आपको ये शक्तिशाली पुरुष प्राप्त होते हैं, जो आप **नित्ये तोके**=और सुपुत्र में जैसे पिता चमकता है उसी प्रकार **स्वे दमे**=अपने इस शरीरगृह में **दीदिवांसम्**=चमकनेवाले हैं। यह शरीर प्रभु से निर्मित होने से प्रभु-पुत्र के समान है। इसमें प्रभु दीप्त होते हैं—इसकी रचना में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। इस शरीर को शक्तिशाली बनाये रखना ही प्रभुपूजन है—प्रभु की दी हुई वस्तु को विकृत न करना प्रभु का समादर है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारा ध्यान करते हैं। हमें प्रभु में स्थित होकर कार्यों को करते हुए अपनी शक्तियों का विकास करना चाहिए। हमें प्रभु के दिये हुए इस शरीर को विकृत न होने देना चाहिए।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञानी भक्त

उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि।
वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्धि नः॥ १२॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **उभयासः**=दोनों **स्तोतारः**=आपका स्तवन करनेवाले **सूरयः च**=और ज्ञानी बनकर हम **ते शर्मणि स्याम**=आपकी शरण में हों (शर्म=Protection)। प्रभु का शरण ज्ञानी भक्तों को प्राप्त होता है। २. आप **नः**=हमें **रायः**=उस

धन को **शग्धि**=देने में समर्थ (दातुं शक्तो भवसि सा०) जो धन **वस्वः**=(निवासयति) उत्तम निवास का कारण बनता है, **पुरुश्चन्द्रस्य** (पृ पालनपूरणयोः, चदि आह्लादे) पालक व पूरक है तथा आह्लाद को प्राप्त करानेवाला है, **भूयसः**=जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त है, **प्रजावतः**=उत्तम विकास से युक्त है तथा **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तानोंवाला है। जिस धन के कारण सन्तानों में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। संसार में प्रायः धनी पुरुषों के सन्तान कुछ प्रमादी होकर हीन जीवनवाले हो जाते हैं। हमारा धन इस कमी को पैदा करने का कारण न बने।

भावार्थ—हम ज्ञान व भक्ति को अपनाकर प्रभु की शरण में स्थित हों, प्रभु हमें उत्कृष्ट धनों के प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्वर्गप्राप्ति

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः।
अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १३ ॥

२.१.१६ पर इसका व्याख्यान हो चुका है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुस्तवन के प्रकार का प्रतिपादन कर रहा है। 'प्रभु हमें दिव्यगुणों से युक्त करें' इस प्रार्थना से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-यजन

समिद्धो अग्निर्निहितः पृथिव्यां प्रत्यङ्विश्वानि भुवनान्यस्थात्।
होता पावकः प्रदिवः सुमेधा देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन् ॥ १ ॥

१. **समिद्धः**=ज्ञान और भक्ति के द्वारा (२.१२) हृदय में दीप्त किये गये वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पृथिव्यां प्रत्यङ् निहितः**=इस शरीररूप पृथिवी में स्थापित किये गये हैं। ये प्रभु ही **विश्वानि भुवनानि अस्थात्**=सब भुवनों के अधिष्ठाता हैं। प्रभु सब लोकों के अधिष्ठाता होते हुए हमारे हृदयों में आसीन हैं। ज्ञान व भक्ति के द्वारा इस हृदय के पवित्र होने पर हमें प्रभु का दर्शन होता है। २. इस प्रकार साक्षात् किये गये प्रभु **होता**=हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, **पावकः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं, **प्रदिवः**=अत्यन्त प्रकाशमय हैं, **सुमेधा**=उत्तम बुद्धि को देनेवाले हैं, **देवः**=हमारी सब वासनाओं को—काम, क्रोध आदि को जीतने की कामना करनेवाले हैं (दिव् विजिगीषा), **अग्निः**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **अर्हन्**=पूजा के योग्य हैं, ३. ये प्रभु **देवान् यजतु**=हमारे साथ देवों का संगतिकरण (मेल) करें। वस्तुतः जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते हैं उतना-उतना दिव्यगुणों के साथ सम्पर्क वाले होते हैं। महादेव का उपासन हमें अधिक से अधिक दिव्यवृत्तिवाला बनाता ही है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं। वे हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासन से हमारे में दिव्यता का विकास होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञों द्वारा दिव्यगुणों का विकास

नराशंसः प्रति धामान्यञ्जन्तिस्रो दिवः प्रति मह्ना स्वर्चिः।
घृतप्रुषा मनसा हव्यमुन्दन्मूर्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥ २॥

१. **नराशंसः**=मनुष्यों से शंसन के योग्य वे प्रभु **धामानि प्रति अंजन्**=तेजों को प्रत्येक स्थान में व्यक्त करते हैं। शंसन करनेवाले लोगों के तेजों को वे प्रभु ही व्यक्त करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि प्रभु ही हैं और बलवालों का बल भी वे प्रभु ही हैं। २. **तिस्रः**=तीनों **दिवः**='अग्नि विद्युत् व सूर्य' रूप ज्योतियों को **प्रति**=लक्ष्य करके वे प्रभु ही **मह्ना**=अपनी महिमा से **स्वर्चिः**=शोभनज्वाला वाले हैं। अग्नि आदि प्रकाशमय पिण्डों को प्रभु ही प्रकाश प्राप्त करा रहे हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। ३. **घृतप्रुषा**=मलों के क्षरण अर्थात् निर्मलता तथा ज्ञानदीप्ति से सिक्त **मनसा**=मन से **हव्यम् उन्दन्**=हव्य पदार्थों को घृत से क्लिन्न करता हुआ यह यज्ञशील पुरुष **यज्ञस्य मूर्धन्**=यज्ञ के अग्रभाग में **देवान् समनक्तु**=दिव्यगुणों को प्राप्त होनेवाला हो। (अंज्=गतौ) प्रभु जैसे अग्नि आदि देवों को प्रकाश से युक्त करते हैं उसी प्रकार इस यज्ञशील पुरुष के जीवन को भी दिव्यगुणों से अलंकृत करते हैं। यज्ञियवृत्ति दिव्यगुणों के विकास के लिए साधन बनती है।

भावार्थ—प्रभु से ही सूर्यादि सब देवों को देवत्व प्राप्त होता है। हम भी यज्ञशील बनें ताकि प्रभु हमें भी देवत्व को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणों का बल

ईळितो अग्ने मनसा नो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।
स आ वह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरो बर्हिषदं यजध्वम्॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अर्हन्**=पूजा के योग्य आप **मनसा ईडितः**=मन के द्वारा उपासित हुए **नः**=हमारे लिए **मानुषात् पूर्वः**=सब मनुष्यों से अधिक **अद्य**=आज **देवान् यक्षि**=देवों को संगत करिए। माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव भी हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाने में अपना-अपना स्थान रखते हैं। पर प्रभु का स्थान हमारे जीवनों के साथ दिव्यगुणों को संगत करने में सर्वप्रथम है। जो भी प्रभु की उपासना करता है प्रभु उसके जीवन को दिव्य बनाते हैं। २. हे प्रभो! **सः**=वे आप **अच्युतम्**=कभी भी च्युत न होनेवाले, मार्गभ्रष्ट न होनेवाले **मरुतां शर्धः**=प्राणों के बल को **आवह**=प्राप्त कराइए। अन्य इन्द्रियाँ असुरों से आक्रान्त होकर मार्ग भ्रष्ट हो जाती हैं—वाणी अपशब्दों को बोलने लगती हैं, आँख सिनेमा देखने लगती है और कान स्तुति-निन्दा की बातें सुनने लगते हैं, पर प्राणों पर आक्रमण करनेवाले असुर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं—इन प्राणों का बल अच्युत है। ३. इस प्राणों के बल को प्राप्त करने के लिए हे **नरः**=उन्नति पथ पर चलनेवाले लोगो! **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होनेवाले **इन्द्रम्**=उन सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु को **यजध्वम्**=पूजो—अपने साथ संगत करो तथा उसी के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनो।

भावार्थ—प्रभु हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं। हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। हम हृदय को पवित्र बनाएँ और वहाँ प्रभु को आसीन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वसु-विश्वेदेव-आदित्य'

देव बर्हिर्वर्धमानं सुवीरं स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम्।
घृतेनाक्तं वसवः सीदतेदं विश्वे देवा आदित्या यज्ञियासः ॥ ४ ॥

१. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अस्याम् वेदी (वेद्याम्)**=इस पृथ्वीरूप शरीर में—जो कि देवों के यज्ञ करने का स्थान है ,उसमें **बर्हिः**=यह वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=मेरे द्वारा बिछाया गया है। यह **वर्धमानम्**=सब उत्तम दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरत्व की भावना से परिपूर्ण है, **राये सुभरम्**=ऐश्वर्य के लिए धारण किया गया है—सब उत्तम गुणों के ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। यह हृदयरूप आसन **घृतेन**=मलों के क्षरण—निर्मलता तथा ज्ञानदीप्ति से **अक्तम्**=अलंकृत है—कान्त व सुन्दर है। २. **इदम्**=इस मेरे हृदयासन पर **सीदत**=बैठें। कौन? **वसवः**=वसु **विश्वेदेवाः**=सब देव तथा **आदित्याः**=आदित्य जो कि **यज्ञियासः**=आदरणीय व संगतिकरण योग्य हैं। 'वसु' वे सब दिव्यगुण हैं जो कि हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं, शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनते हैं। 'विश्वेदेवाः' से उन दिव्यगुणों का संकेत है जो कि मन को निर्मल बनानेवाले हैं तथा 'आदित्याः' शब्द से सूर्य की किरणों की तरह चमकनेवाली आदित्य- रश्मियों का प्रतिपादन है। हृदय के शुद्ध होने पर शरीर में वसुओं का स्थान बनता है तो मन में 'विश्वेदेवा' का और मस्तिष्क में 'आदित्यों' का।

भावार्थ—हमारा हृदय निर्मल हो। हम वसुओं—विश्वेदेवों तथा आदित्यों का अधिष्ठान बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियद्वार

वि श्रयन्तामुर्विया हूयमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा नमोभिः।
व्यचस्वतीर्वि प्रथन्तामजुर्या वर्णं पुनाना यशसं सुवीरम् ॥ ५ ॥

१. **देवीः द्वारः**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों के साधक इन्द्रियद्वार **विश्रयन्ताम्**=विशेष रूप से हमारा आश्रय व वे इन्द्रियद्वार जो कि **उर्विया हूयमानाः**=ख़ूब ही प्रभु के स्तवन में लगे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का प्रभुस्तवन यही है कि वे ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें तथा कर्मेन्द्रियों का प्रभुस्तवन यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहना है। ये इन्द्रियद्वार **नमोभिः**=प्रभु के प्रति नमन की भावना के साथ **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट मार्ग पर गति करनेवाले हों। २. **व्यचस्वतीः**=व्याप्तिवाले—अपनी-अपनी शक्ति के विस्तारवाले ये इन्द्रियद्वार **अजुर्याः**=न जीर्ण होते हुए **विप्रथन्ताम्**=विशेषरूप से फैलें। इनकी शक्तियों का पोषण हो। ये इन्द्रियद्वार **यशसम्**=यश से युक्त **सुवीरम्**=उत्तम शक्तिवाले **वर्णम्**=रूप को **पुनानाः**=(संपादयित्र्यः-शोधयित्र्यः सा०) शुद्ध करनेवाले हों, अर्थात् ये अपने अधिष्ठानभूत शरीर को ख़ूब तेजस्वी बनाएँ।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार अपने-अपने कार्यों को करते हुए प्रभु का स्तवन करें। ये हमें तेजस्वी व यशस्वी बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषासानक्ता

साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती ॥ ६ ॥

१. हे **उषासानक्ता**=दिन और रात्रि के अधिष्ठातृ देवो! **नः**=हमें **साधु अपांसि**=उत्तम कर्मों को **सनता**=प्राप्त कराइए। हम दिनरात उत्तम ही कर्मों को करनेवाले बनें। आप दोनों **उक्षिते**=प्रभु के प्रति श्रद्धा की भावना से सिक्त होवो। श्रद्धा व भक्ति से युक्त होकर हम प्रभुस्मरण करनेवाले बनें। **वय्या इव**=वयनकुशल जुलाहों की तरह **रण्विते**=आप स्तुत होवो। बुनने में कुशल जुलाहों की जिस प्रकार प्रशंसा होती है उसी प्रकार ये दिनरात भी उत्तम कर्मावरण को बुनने के कारण प्रशंसित हों। **ततम्**=ताने के रूप में फैलाये गये **तन्तुम्**=कर्मसूत्र को **संवयन्ती**=ये सम्यक् बुननेवाले हों। २. **समीची**=सम्यक् उत्तम गतिवाले (सम् अञ्च्) ये दिनरात **यज्ञस्य पेशः**=यज्ञ के सुन्दर रूप को (पेशः=रूप) **सुदुघे**=उत्तमता से हमारे में पूरित करनेवाले हों और **पयस्वती**=हमारा आप्यायन करनेवाले हों। 'दुह प्रपूरणे, प्यायी वृद्धौ'। हम दिनरात उत्तम विद्याओं को करते हुए यज्ञमय जीवनवाले हों, और अपनी सब शक्तियों का आप्यायन व वर्धन कर सकें।

भावार्थ—हम दिनरात उत्तम कर्मों को करते हुए यज्ञमय जीवनवाले बनें और अपना वर्धन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दैव्या होतारा (विदुष्टरा-वपुष्टरा)

दैव्या होतारा प्रथमा विदुष्टर ऋजु यक्षतः समृचा वपुष्टरा।
देवान्यजन्तावृतुथा समञ्जतो नाभा पृथिव्या अधि सानुषु त्रिषु ॥ ७ ॥

१. जीवनयज्ञ को चलानेवाले प्राणापान यहाँ 'दैव्या होतारा' कहे गये हैं। प्रभु से उत्पन्न किये जाने व प्राप्त कराए जाने के कारण से 'दैव्या' हैं—जीवनयज्ञ को चलाने के कारण 'होता' हैं। अन्य सब इन्द्रियाँ थक जाती हैं, परन्तु प्राणापान अनथक हैं यही इनकी दिव्यता व अलौकिकता है। चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा प्रभु को प्राप्त कराने के कारण भी ये 'दैव्या' कहलाते हैं—देवप्राप्ति के साधनभूत। २. ये **दैव्या होतारा प्रथमा**=शरीर में सर्वप्रथम स्थान रखते हैं और ये ही सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं (प्रथ विस्तारे)। **विदुष्टरा**=ये प्राणापान उत्कृष्ट ज्ञानी हैं—शक्ति के संयम द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ये हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले हैं। ये **ऋचा**=स्तुतियों के द्वारा **ऋजु**=सरलता से **संयक्षतः**=उस प्रभु का पूजन करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध होने पर प्रभुस्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है और स्वभाव में सरलता आती है। यह आर्जव सरलता ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'। ३. **वपुष्टरा**=हमारे शरीरों को भी सुन्दर बनाने वाले **देवान् यजन्तौ**=दिव्य गुणों को हमारे साथ संगत करते हुए ये प्राणापान **ऋतुथा**=(ऋ गतौ) नियमित गति के अनुसार—जितना-जितना हम दिनचर्या को नियमित रूप से करनेवाले होते हैं। उतना-उतना **समञ्जतः**=हमारे जीवनों को अच्छाइयों से अलंकृत करते हैं। ये प्राणापान हमें **पृथिव्याः नाभा**=पृथिवी के केन्द्र में अर्थात् यज्ञों में 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' स्थापित करते हैं और **त्रिषु सानुषु अधि**=तीनों शिखरों पर पहुँचाते हैं। शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण स्वास्थ्य ही उन्नतिपर्वत का शिखर है। मन के दृष्टिकोण से यह शिखर 'नैर्मल्य' है, तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह शिखर परा व अपरा विद्या की प्राप्ति है। प्राणसाधना हमें स्वस्थ निर्मल व ज्ञानदीप्त बनाकर शिखरत्रयी पर पहुँचाती है।

भावार्थ—प्राणापान हमारे जीवन यज्ञ के दैव्य होता हैं। ये हमारे ज्ञान व शरीर दोनों को ही उत्तम बनानेवाले हैं 'विदुष्टरा-वपुष्टरा'।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सरस्वती-इळा-भारती'

सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य॥ ८॥

१. **नः**=हमारी **धियम्**=बुद्धि को व कर्म को **साधयन्ती**=सिद्ध करती हुई **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती', **देवी**=हमारे सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली **इळा**=वाणी, तथा **विश्वतूर्तिः**=सब दोषों का संहार करनेवाली **भारती**=भरण-पोषण की देवी। ये **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वधया**=अपनी-अपनी धारणशक्ति के साथ **इदम्**=इस **बर्हिः**=मेरे वासनाशून्य हृदय में **आ निषद्य**=सर्वथा आसीन होकर **शरणम्**=इस शरीरगृह को **अच्छिद्रं पान्तु**=निरन्तर रक्षित करें। २. 'सरस्वती' की उपासना हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करके सुन्दर बनाती है। 'इळा' की उपासना हमारे सब व्यवहारों को ठीक करती है। हमारे सब व्यवहार वेदवाणी के अनुकूल होने लगते हैं। यह वेदवाणी हमारे लिए 'इ-डा'=एक कानून बन जाती है—वेद के अनुसार हमारे सब कर्म होते हैं 'श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै'। 'भारती' का उपासन हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है और हम स्वस्थ बनकर इस शरीर को प्रभु का सुन्दर मन्दिर बना पाते हैं।

भावार्थ—हम 'सरस्वती, इळा व भारती' की उपासना से मस्तिष्क, वाणी व शरीर को सुन्दर बना पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पिशंगरूप-देवकाम' सन्तान

पिशङ्गरूपः सुभरो वयोधाः श्रुष्टी वीरो जायते देवकामः।
प्रजां त्वष्टा वि ष्यतु नाभिमस्मे अथा देवानामप्येतु पाथः॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब पति-पत्नी 'सरस्वती, इळा व भारती' के उपासक बनते हैं तो उनकी सन्तान **देवकामः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावाली या दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाली होती है। **पिशंगरूपः**=यह हिरण्यवर्ण=स्वर्ण के समान देदीप्यमान—तेजस्वीरूपवाली होती है। **सुभरः**=यह उत्तमता से अपने भरण-पोषणवाली बनती है, **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करती है। **श्रुष्टी**=(श्रुष्टिः=Prosperity) यह अभ्युदय को प्राप्त करनेवाली व **वीरः**=वीरता से युक्त होती है। २. **त्वष्टा**=वह संसार का निर्माता प्रभु **अस्मे**=हमारे लिए **नाभिम्**=(नह बन्धने) वंशतन्तु को बांधे रखनेवाली—वंश को विच्छिन न होने देनेवाली **प्रजाम्**=सन्तान को **विष्यतु**=(विमुंचतु= वितरतु सा०) प्राप्त कराए। **अथा**=और **देवानाम्**=देवों का **पाथः**=(पाथस्=Food) भोजन **अपि एतु**=हमें प्राप्त हो। हम देवताओं से किये जानेवाले भोजन को अपनाएँ, हमारा भोजन सात्त्विक हो। वस्तुतः उत्तम सन्तान के लिए भोजन की सात्त्विकता का भी पूर्ण महत्त्व है। जहाँ हम 'सरस्वती, इळा व भारती' की आराधना करें, वहाँ देवान्न के भक्षण का भी ध्यान करें। ऐसा होने पर हमारी सन्तान अवश्य उत्तम होगी।

भावार्थ—हमें 'पिशंगरूप, सुभर, वयोधा, श्रुष्टी, वीर व देवकाम' सन्तान प्राप्त हो।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रजानन्-दैव्य-शमिता'

वनस्पतिरवसृजन्नुप स्थादग्निर्हविः सूदयाति प्र धीभिः।
त्रिधा समक्तं नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्॥ १०॥

१. **वनस्पतिः**=(वनस् a ray of light) ज्ञानरश्मियों का स्वामी **अवसृजन्**=काम-क्रोधादि को छोड़ता हुआ, इन वासनाओं से दूर होता हुआ **उपस्थात्**=प्रभु का उपासन करता है। **अग्निः**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाला बनकर **धीभिः**=प्रज्ञानों के साथ **हविः प्रसूदयाति**=अपने जीवन में हवि को प्रेरित करता है ज्ञान को प्राप्त करता है और सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनता है (हु दानादनयोः)। २. **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ, **दैव्यः**=दिव्यवृत्तियों को अपनानेवाला, **शमिता**=शान्त-स्वभाव यह पुरुष **त्रिधा**=तीन प्रकार से **समक्तम्**=सम्यक् अलंकृत किये हुए—शरीर में स्वास्थ्य से, मन में निर्मलता से तथा मस्तिष्क में ज्ञान से अलंकृत किये हुए **हव्यम्**=इस हवि से परिपुष्ट किये हुए देह को **देवेभ्यः उपनयतु**=देवताओं के लिए प्राप्त करानेवाला हो। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'=माता, पिता, आचार्य व अतिथियों की इस देह से सेवा करता है। वस्तुतः इन देवों का उपासन करता हुआ ही वह 'प्रजानन्-दैव्य व शमिता' बनता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करते हुए, क्रोधादि का परित्याग करके प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घतम्

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ ११॥

१. 'घृत' शब्द 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु से बनकर मलों के क्षरण व दीप्ति का प्रतिपादन करता है। मलों के क्षरण से शरीर स्वस्थ बनता है और मानसमलों का क्षरण 'मनःप्रसाद' का साधक होता है। 'स्वस्थ शरीर' व 'प्रसन्न मन' के होने पर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। इस **घृतम्**=घृत को **मिमिक्षे**=मैं अपने में सिक्त करता हूँ। **घृतम्**=यह मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति **अस्य योनिः**=इस जीव की सब उन्नतियों का कारण है। **घृते श्रितः**=वस्तुतः इस घृत में ही यह आश्रित है, **उ**=और **घृतम्**=घृत ही **अस्य**=इसका **धाम**=तेज है। सारी शक्तियाँ घृतमूलक हैं। २. इस घृतप्राप्ति के लिए जीव को निर्देश करते हैं कि (क) **अनुष्वधम् आवह** (स्व-धाम् अनु)=आत्मधारण के अनुपात में तू भोजन को प्राप्त कर। उतना ही भोजन करनेवाला बन, जितना कि तेरे पोषण के लिए पर्याप्त हो। 'मात्रा बलम्' यह मात्रा में किया हुआ भोजन तुझे बलवान् बनाएगा। (ख) **मादयस्व**=शरीर धारण के लिए भोजन करता हुआ तू आनन्द का अनुभव कर। 'मानस आनन्द' भी तेजस्विता-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। (ग) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् जीव! तू **स्वाहाकृतम्**= यज्ञों में अर्पित किये हुए यज्ञशेष के रूप में बचे हुए **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को ही **वक्षि**=(वह) धारण कर। अर्थात् सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बन। ३. इस प्रकार 'घृत'=मलों के क्षरण से होनेवाले स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं (क) मात्रा में भोजन (ख) मनः प्रसाद (ग) यज्ञशेष का सेवन।

भावार्थ—सब उन्नतियों का मूल 'घृत' है, ऐसा जानकर हम स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति के लिए मात्रा में भोजन करनेवाले हों—प्रसन्न रहें तथा यज्ञशेष का सेवन करें।

सारा सूक्त इस देह को यज्ञवेदि के रूप में चित्रित करता है। इस देह को यज्ञमन्दिर बनाकर हम इसे बड़ा पवित्र प्रकाशमय तेजोयुक्त बनाएँ। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि हम सोम की (वीर्य की) शरीर में ही आहुति देनेवाले 'सोमाहुति' बनें और अपने को परिपक्व ज्ञानवाले 'भार्गव' बनाएँ। यह 'सोमाहुति भार्गव' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आदेवे जने जातवेदाः

हुवे वः सुद्योत्मानं सुवृक्तिं विशामग्निमतिथिं सुप्रयसम्।
मित्रइव यो दिधिषाय्यो भूद्देव आदेवे जने जातवेदाः॥ १॥

१. मैं उस परमात्मा को **हुवे**=पुकारता हूँ जो कि **वः**=तुम्हारा **सुद्योत्मानम्**=उत्तम प्रकाशक है—हृदयस्थ होकर जो सब मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करा रहा है। **सुवृक्तिम्**=जो उपासकों के पापों का वर्जन करनेवाला है। वस्तुतः ज्ञान देकर वे प्रभु अशुभवृत्तियों को दूर करते ही हैं। **विशाम् अग्निम्**=सब प्रजाओं का जो अग्रणी है—उत्तम प्रेरणा व शक्ति को देकर वे प्रभु सबको आगे ले चल रहे हैं। **अतिथिम्**=वे प्रभु अतिथि हैं—निरन्तर गतिवाले हैं—सदा हमें प्राप्त होनेवाले हैं। **सुप्रयसम्**=(प्रयस्=Delight; food) आनन्दमय हैं, उपासकों को आनन्दित करनेवाले हैं अथवा उत्तम भोजनों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. ये प्रभु **मित्रः इव**=सूर्य की तरह **दिधिषाय्यः भूत्**=सबके धारक हैं। सूर्य प्राणशक्ति के संचार द्वारा सबका धारण करता है। इसी प्रकार प्रभु सबका धारण करनेवाले हैं। वस्तुतः सूर्य के अन्दर भी धारकशक्ति को प्रभु ही स्थापित करते हैं। वे प्रभु ही **देवः**=प्रकाशमय हैं। **आदेवे**=समन्तात् वर्तमान इन सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि देवों में तथा **जने**=शक्तियों के विकासवाले मनुष्यों में प्रभु ही **जातवेदाः**=(जातं वेदो धनं यस्मात्) सब धनों के उत्पन्न करनेवाले हैं। 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः, रसोऽहमप्सु कौन्तेय, तेजश्चास्मि विभावसौ। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम्, बलं बलवतां चाहम्'।

भावार्थ—प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं। प्रभु ही सब देवों व सब मनुष्यों में विभूतियों का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान व भक्ति के द्वारा प्रभु का धारण

इमं विधन्तो अपां सधस्थे द्विता दधुर्भृगवो विक्ष्वा३योः।
एष विश्वान्यभ्यस्तु भूमा देवानामग्निररतिर्जीराश्वः॥ २॥

१. 'अपां सधस्थ' शब्द अन्तरिक्ष के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ हृदयान्तरिक्ष का प्रतिपादक है। 'आपः' शब्द प्रजाओं का वाचक है 'आपो नारा इति प्रोक्ताः'। हृदय वह स्थान है जहाँ कि प्रजाएँ परमेश्वर के साथ मिलकर (सध+स्थ) रहती हैं। इस **अपां सधस्थे**=हृदयान्तरिक्ष में **इमम्**=इस प्रभु को **विधन्तः**=पूजते हुए **विक्षु**=प्रजाओं में **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले पुरुष (भ्रस्ज पाके) **द्विता**=ज्ञान व भक्ति के विस्तार द्वारा (द्वि+तन्) **दधुः**=धारण करते हैं। ज्ञान व भक्ति रूप दो अरणियों की रगड़ से ही प्रभु रूप अग्नि प्रकट होती है। २. प्रकट होने पर **एषः**=यह प्रभु **भूमा**=(भूमन्=Wealth) अपने ऐश्वर्य के द्वारा **आयोः**=गतिशील पुरुष के **विश्वानि**=सब कष्टों को **अभ्यस्तु**=अभिभूत करनेवाला हो। ३. यह प्रभु **देवानाम् अग्निः**=सब देवों का अग्रणी है—सभी देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाला है **अरतिः**=निरन्तर गतिशील है। **जीराश्वः**= क्षिप्रगतिवाले अश्वोंवाला है—इन क्षिप्रगतिवाले इन्द्रियाश्वों को यह हमें प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—ज्ञान और भक्ति के द्वारा हम प्रभु को अपने हृदयों में धारण करें। ये प्रभु अपने

ऐश्वर्य से हमारे कष्टों का निवारण करते हैं। हमें क्षिप्रगतिवाले इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अन्धकार में प्रकाश

अग्निं देवासो मानुषीषु विक्षु प्रियं धुः क्षेष्यन्तो न मित्रम्।
स दीदयदुशतीरूर्म्या आ दक्षाय्यो यो दास्वते दम आ॥ ३॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को, जो कि **प्रियम्**=सबको प्रीणित करनेवाला है, उसे **देवासः**=दिव्यगुण **मानुषीषु विक्षु**=विचारशील प्रजाओं में **धुः**=स्थापित करते हैं। जितना-जितना हम दिव्यगुणों का धारण करेंगे, उतना-उतना प्रभु का धारण करनेवाले बनेंगे। **नः**=जिस प्रकार **क्षेष्यन्तः**=(क्षि गतौ) कार्यार्थ बाहर जानेवाले लोग **मित्रम्**=मित्र को अपने घर में स्थापित कर जाते हैं। २. **सः**=वह प्रभु **उशतीः**=(कामयमानाः नि० ६.१३) प्रकाश की कामनावाली प्रजाओं को **ऊर्म्याः**=रात्रियों में **दीदयत्**=प्रकाश को प्राप्त कराता है। प्रभु वे हैं **यः**=जो कि **दमे**=शरीरगृह में आ (हितः) स्थापित किये जाने पर **दास्वते**=अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **आदक्षाय्यः**=सब प्रकार से वृद्धि का कारण हैं। प्रभु हमारे लिए घने अन्धकारों में प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। वे हमारे लिए सब प्रकार से वृद्धि का कारण हैं।

भावार्थ—जीवनयात्रा की अन्धकारमय घड़ियों में भी प्रभु हमारे लिए प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। उनको धारण करने पर हम उन्नति पथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु का धारण, प्रभु का दर्शन

अस्य रण्वा स्वस्येव पुष्टिः संदृष्टिरस्य हियानस्य दक्षोः।
वि यो भरिभ्रदोषधीषु जिह्वामत्यो न रथ्यो दोधवीति वारान्॥ ४॥

१. **अस्य**=इस अग्नि नामक प्रभु की **पुष्टिः**=अपने अन्दर धारण उसी प्रकार **रण्वा**=रमणीय है, **इव**=जैसे कि **स्वस्य**=आत्मा का धारण रमणीय होता है। प्रभु के धारण से हम वस्तुतः अपना ही धारण करते हैं। २. **अस्य**=इस **हियानस्य**=(हि गतौ वृद्धौ च) वृद्धि को प्राप्त कराते हुए **दक्षोः**=वासनाओं का दहन करते हुए प्रभु की **सन्दृष्टिः**=संदर्शना—आविर्भाव भी (रण्वा) रमणीय है। प्रभु का जो भी दर्शन करने का प्रयत्न करता है, प्रभु उसके ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं और उसकी वासनाओं का दहन करते हैं। २. **यः**=जो उपासक **ओषधीषु**=ओषधियों में **जिह्वाम्**= जिह्वा को **वि भरिभ्रत्**=विशेषरूप से धारित करता है, अर्थात् ओषधि वनस्पतिरूप भोजन को ही करता है, वह **अत्यः न**=सतत गतिशील घोड़े के समान **रथ्यः**=अपने शरीररूप रथ के वहन में उत्तम होता है। सात्त्विक भोजन के कारण इसकी बुद्धि सात्त्विक होती है, और यह इस शरीररथ से लक्ष्यस्थान की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है। यह उस घोड़े के समान ही **वारान्**=बालों को **दोधवीति**=कम्पित करता है। जैसे एक शक्तिशाली घोड़ा पूँछ के बालों से मक्खी आदि को दूर करने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार यह अपनी ज्ञानज्वालाओं से वासनाओं को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु का धारण व प्रभु का दर्शन हमारे जीवन को रमणीय बनाता है। ओषधि वनस्पतियों का सात्त्विक भोजन हमारी बुद्धियों को सात्त्विक बनाकर हमारी वासनाओं को दूर करता है।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जुजुर्वान्-युवा

आ यन्मे अभ्वं वनदः पनन्तोशिग्भ्यो नामिमीत वर्णम्।
स चित्रेण चिकिते रंसु भासा जुजुर्वाँ यो मुहुरा युवा भूत्॥ ५॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **अभ्वम्**=महत्त्व है उसे **वनदः**=(अव-नदः, अव के अ का लोप होकर 'वनदः') स्तोता लोग **आपनन्त**=सर्वथा स्तुत करते हैं। **न**=और (न=च सा०) उस समय यह प्रभु **उशिग्भ्यः**=इन मेधावी स्तोताओं के लिए **वर्णम्**=रूप को **अमिमीत**=निर्मित करते हैं। अपने रूप को इन स्तोताओं के लिए भी प्राप्त कराते हैं। स्तोता की स्तुति का उत्कर्ष इसी में है कि वह प्रभु के रूप में अपने को रंग ले 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'। २. सब **रंसु**=रमणीय पदार्थों में वे प्रभु ही **चित्रेण भासा**=अद्भुत दीप्ति से **चिकिते**=जाने जाते हैं। सूर्य चन्द्र तारों में वस्तुतः उस प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। ३. वे प्रभु **यः**=जो **जुजुर्वान्**=अत्यन्त पुराणकाल से चले आ रहे हैं, **मुहुः**=फिर **युवा आभूत्**=सर्वथा युवा ही है। प्रभु कभी जीर्णशक्तिवाले नहीं होते। उनकी शक्ति सदा एकरस बनी रहती है।

भावार्थ—स्तोता भी प्रभु के अनुरूप बनता है। उस प्रभु की दीप्ति ही सर्वत्र दीप्ति का प्रसार करती है। वे सनातन होते हुए भी सदा युवा हैं। उपासक भी प्रभु के समान एकरस बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दीप्ति की प्राप्ति व मार्ग का आक्रमण

आ यो वना तातृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत्।
कृष्णाध्वा तपू रण्वश्चिकेत द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः॥ ६॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **वना**=उपासकों को (वन्=संभजन) **तातृषाणः न**=अत्यन्त तृषित की तरह **आभाति**=दीप्त करते हैं (आभासयति सा०)। जैसे प्यासा पानी पीने के लिए आतुर होता है, उसी प्रकार प्रभु भक्त को ज्ञानदीप्त करने के लिए आतुर होते हैं—उसे शीघ्रता से ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराते हैं। प्रभु से ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके यह उपासक **वाः न पथा**=जल की तरह मार्ग से बढ़ता है—जल जैसे शान्तभाव से आगे और आगे बढ़ता चलता है, इसी प्रकार यह अपने कर्त्तव्यपथ पर अग्रगति वाला होता है। **रथ्या इव स्वानीत्**=रथ में जुते हुए घोड़ों के समान यह उत्साहयुक्त ध्वनि करनेवाला होता है अथवा (सु+आनीत्) उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है। प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके यह उत्साह व शक्ति से युक्त होकर मार्ग का आक्रमण करता है। २. **कृष्णाध्वा**=यह कृष्ण मार्गवाला होता है। 'कृष्ण' शब्द रंगों के अभाव का सूचक है—यह रंगीले मार्गवाला नहीं होता—जीवन में निर्लेपता से चलता है। **तपुः**=तपस्वी होता है, **रण्वः**=प्रभु का स्तवन करनेवाला (रण शब्दे) अतएव रमणीय जीवनवाला होता है। ३. **नभोभिः**=नक्षत्रों से **स्मयमानः**=मुस्कराते हुए **द्यौःइव**=आकाश की तरह यह **चिकेत**=जाना जाता है। जैसे द्युलोक नक्षत्रों से दीप्त है, उसी प्रकार इसका मस्तिष्करूप द्युलोक विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त होता है। यह सब दीप्ति उसे प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दीप्ति को प्राप्त करके उपासक निर्लेपता से कर्त्तव्यपथ पर बढ़ता है।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'पशुः-स्वयुः-अगोपाः'

स यो व्यस्थादभि दक्षदुर्वीं पशुर्नैति स्वयुरगोपाः ।
अग्निः शोचिष्माँ अतसान्युष्णान्कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम॥ ७॥

१. **सः**=वे प्रभु **यः**=जो कि **वि अस्थात्**=विशेषरूप से सब लोकों को अधिष्ठित कर रहे हैं, वे **उर्वीम्**=इस विस्तृत पृथिवी को **अभिदक्षत्**=सब प्रकार से बढ़ाते हैं। इस लोक में स्थित प्राणियों की वृद्धि का कारण वे प्रभु ही हैं। **पशुः न**=(पश्यति इति, न=इव) द्रष्टा के समान **एति**=वे गति कर रहे हैं 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'। सारे संसार का निर्माण करते हुए भी वे प्रभु निर्लेपता के कारण अकर्ता ही हैं 'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'। **स्वयुः**=वे (स्वयमेव गच्छन्) स्वयं गति देनेवाले हैं, उन्हें यह शक्ति किसी ओर से प्राप्त नहीं होती। **अगोपाः**=उनका कोई रक्षक नहीं है—प्रभु ही सबके रक्षक हैं। सब प्राकृतिक पिण्डों को वे प्रभु स्वयं गति दे रहे हैं और सब जीवरूप भेड़ों के वे 'गोपा' (चरवाहे) हैं। २. वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी हैं। **शोचिष्मान्**=दीप्तिवाले हैं। **अतसानि**=(अतसं=a weapon) आयुधों को—जीवों को जीवनसंग्राम के लिए प्राप्त कराये गये 'इन्द्रिय मन व बुद्धि रूप' आयुधों को **उष्णान्**=अग्नि में सन्तप्त करके निर्मल कर रहे हैं। **कृष्णव्यथिः**=(कृष्टाः व्यथयः येन, कृष्ण=कृष्ट) व्यथा के कारणभूत काम-क्रोधादि शत्रुओं को उखाड़ फेंकनेवाले वे प्रभु हैं। उपासक की वासनाओं को वे दग्ध करनेवाले हैं। **न**=और (न=च) इस प्रकार वे प्रभु उपासकों के जीवन को **भूम**=अत्यधिक **अस्वदयत्**=(आस्वादयति इव) आनन्दयुक्त कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-उपासकों के इन्द्रियादि आयुधों को ख़ूब चमका देते हैं, काम-क्रोधादि को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार उपासक के जीवन को आनन्दमय कर देते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'प्रभुरक्षण का स्मरण' व 'प्रभु-स्तवन'

नू ते पूर्वस्यावसो अधीतौ तृतीये विदथे मन्म शंसि।
अस्मे अग्ने संयद्वीरं बृहन्तं क्षुमन्तं वाजं स्वपत्यं रयिं दाः॥ ८॥

१. हे प्रभो! **ते**=आपके **पूर्वस्य**=प्रारम्भिक काल में होनेवाले **अवसः**=रक्षण का **अधीतौ**=स्मरण होने पर, 'किस प्रकार आपने गर्भावस्था में रक्षण की व्यवस्था की और किस प्रकार उत्पन्न होने पर मातृस्तनों में दूध प्राप्त कराके आपने रक्षण किया' इन बातों का स्मरण होने पर, **नु**=अब **तृतीये विदथे**=प्रकृति और जीवात्मा के बाद तीसरे स्थान में परमात्मा का (=आपके) ज्ञान होने पर **मन्म**=आपका स्तोत्र **शंसि**=हमारे से उच्चारण किया जाता है। वस्तुतः ज्ञान से ध्यान में विशेषता आ ही जाती है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! अब **अस्मे**=हमारे लिए **रयिं दाः**=उस धन को दीजिए जो कि **संयद्वीरम्**=संयम के द्वारा वीरता को पैदा करनेवाला है, **बृहन्तम्**=वृद्धि का कारणभूत है, **क्षुमन्तम्**=(क्षुः Food) उत्तम भोजन को प्राप्त करानेवाला है, **वाजम्**=शक्ति को देनेवाला है तथा **स्वपत्यम्**=उत्तम सन्तानोंवाला है। संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि धन के साथ संयम का कुछ अभाव सा होता है—वीरता जाती रहती है। हम हीन मार्ग की ओर झुक जाते हैं, पैशाचिक भोजनों में फंस जाते हैं, वैषयिक-वृत्तियों के कारण निर्बलता आ जाती है, सन्तान भी प्रायः सच्चरित्र नहीं रहते। हम प्रभु से उस धन की याचना करते हैं जो कि इन दोषों से रहित है और हमारे उत्कर्ष में सहायक होता है।

भावार्थ—जितना प्रभु के रक्षणप्रकार का स्मरण करते हैं उतना ही प्रभुस्तवन की ओर झुकते हैं। प्रभु हमें वह धन देते हैं जो कि हमें वीर व उत्तम सन्तानोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना व उत्कृष्ट जीवन

त्वया॒ यथा॑ गृत्सम॒दासो॑ अग्ने॒ गुहा॑ व॒न्वन्त॒ उप॑राँ अ॒भि ष्युः।
सु॒वीरा॑सो अभिमाति॒षाहः॒ स्मत्सू॒रिभ्यो॑ गृण॒ते तद्वयो॑ धाः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **गुहा वन्वन्तः**=हृदयरूप गुहा में उपासन करते हुए **गृत्समदासः**=(गृणन्ति माद्यन्ति) आपका स्तवन करनेवाले व प्रसन्न रहनेवाले भक्त **यथा**=जितना-जितना (जैसे-जैसे) आपके सम्पर्क में आते हैं उतना-उतना **उपरान् अभिष्युः**=(उपर region, direction) सब दिशाओं का विजय करते हैं, अथवा ज्ञानरूप सूर्य पर आवरण के रूप में आ जानेवाले वासनारूप बादल को अभिभूत कर लेते हैं। प्रभुस्तवन से विजय प्राप्त होती है, हम वासना के मेघों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। २. इन वासनाओं को विनष्ट करके हम **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हैं, **अभिमातिषाहः**=अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं। ३. हे प्रभो! आप **सूरिभ्यः**=ज्ञानियों के लिए तथा **गृणते**=स्तवन करनेवाले के लिए **तत्**=उस **स्मत्** (स्मत् इति श्रेष्ठार्थे)=उत्कृष्ट अथवा (सुमत् अतिप्रभूतम् सा०) दीर्घ **वयः**=जीवन को **धाः**=धारण करते हैं। ज्ञानी उपासक का जीवन उत्कृष्ट बनता है।

भावार्थ—हम जितना-जितना प्रभु का स्मरण करते हैं, उतना-उतना वासनाओं को अभिभूत करनेवाले बनते हैं। वासनाओं को अभिभूत करने के अनुपात में ही हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभु स्मरण—प्रभुदर्शन व प्रभुस्तवन के भाव से ओत-प्रोत है। अगले सूक्त के भी ऋषि व देवता 'सोमाहुतिः भार्गवः' व 'अग्नि' ही हैं। सो यही विषय अगले सूक्त में भी प्रस्तुत है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'प्रयक्ष-जेन्य-यम' वसु

होता॑जनिष्ट॒ चेत॑नः पि॒ता पि॒तृभ्य॑ ऊ॒तये॑। प्र॒यक्ष॒ञ्जेन्यं॒ वसु॑ श॒केम॑ वा॒जिनो॒ यम॑म्॥ १॥

१. **होता**=वह सब कुछ देनेवाला—हमारे जीवनयज्ञों को भी चलानेवाला प्रभु **चेतनः अजनिष्ट**=हमारे लिए ज्ञान देनेवाला हुआ है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु वेदज्ञान देते ही हैं। अब भी हमारे हृदयों में स्थित हुए-हुए सदा हमें चेताते रहते हैं। **पिता**=वे हमारे पिता हैं। पिता पुत्र को चेताता ही है। वे प्रभु **पितृभ्यः**=माता, पिता, आचार्य आदि के द्वारा हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए होते हैं। २. प्रभु की कृपा से **वाजिनः**=शक्तिशाली बने हुए हम **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन को **शकेम**=सिद्ध करने में समर्थ हों। उस धन को जो कि (क) **प्रयक्षम्**=प्रकर्षेण पूज्य है, उत्तम साधनों से ही जिसका अर्जन किया गया है। (ख) **जेन्यम्**=पुरुषार्थ से जिसका विजय किया गया है तथा (ग) **यमम्**=जो आत्मसंयम की भावना से युक्त है। वस्तुतः प्रभु का उपासक सदा 'प्रयक्ष-जेन्य व यम' वसु को ही सिद्ध करता है। यह धन जीवन में उन्नति का ही कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु की चेतना के साथ जीवन में चलने पर हम पवित्र धन का ही अर्जन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सप्त रश्मियों के अष्टम पति' प्रभु

आ यस्मिन्त्सप्त रश्मयस्तता यज्ञस्य नेतरि। मनुष्वद्दैव्यमष्टमं पोता विश्वं तदिन्वति ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'होता' कहा था। ये प्रभु ही यज्ञ के नेता हैं। **यस्मिन्**=जिस **यज्ञस्य नेतरि**=यज्ञ के नायक प्रभु में **सप्त रश्मयः**=सात रश्मियाँ **आततः**=समन्तात् विस्तृत हैं। वेदज्ञान सात छन्दोंवाली वाणियों में दिया गया है। ये सात छन्द ही सात रश्मियाँ हैं। सूर्य-किरणों की तरह ये ज्ञानप्रकाश को देनेवाली हैं। हमारे यज्ञात्मक-कर्तव्यों का ये उपदेश देती हैं। इस प्रकार वे प्रभु ही सब यज्ञों के प्रवर्तक हैं। २. स्वयं वे प्रभु **मनुष्वत्**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं, **दैव्यम्**=देवों के देव हैं, **अष्टमम्**=सात छन्दोंवाली वेदवाणी के पति आठवें हैं। **पोता**=सबको पवित्र करनेवाले है। **तद्**=वे प्रभु **विश्वम् इन्वति**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए है।

भावार्थ—सात छन्दोंवाली वेदवाणी के पति आठवें प्रभु हैं। वे ही हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले व सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'आनन्दों व ज्ञानों के निधि' प्रभु

दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्माणि वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत् ॥ ३ ॥

१. प्रभु ही **वा**=निश्चय से **दधन्वे**=इस सृष्टि को धारण करते हैं, **यत्**=और जो **ईम्**=निश्चय से **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को **अनुवोचत्**=क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि के हृदयों में उच्चरित करते हैं। **तत्**=वे प्रभु ही **उ**=निश्चय से **वेः**=(कामयते) इस सृष्टियज्ञ के विस्तार की कामना करते हैं। २. वे प्रभु ही **विश्वानि**=सब **काव्या**=(Happiness; Wisdom) आनन्दों व ज्ञानों के **परि अभवत्**=चारों ओर इस प्रकार होते हैं, **इव**=जैसे कि **चक्रम्**=चक्र के चारों ओर **नेमिः**=नेमि (हाल) होती है। सब आनन्दों व ज्ञानों की सीमा प्रभु ही हैं। प्रभु का उपासक ही इन काव्यों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु ही संसार को धारण करते हैं—वे ज्ञान देते हैं। इस सृष्टियज्ञ के विस्तार की कामनावाले प्रभु ही ज्ञानों व आनन्दों के निधि हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शुचिना शुचिः अजनि

साकं हि शुचिना शुचिः प्रशास्ता क्रतुनाजनि। विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा वया इवानु रोहते ॥ ४ ॥

१. वे प्रभु **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं। **प्रशास्ता**=सारे ब्रह्माण्ड के प्रशासक हैं। हृदयस्थरूपेण धर्माधर्म का शासन (=उपदेश) करनेवाले हैं। **शुचिना क्रतुना साकम्**=पवित्र यज्ञ के साथ **अजनि**=प्रादुर्भूत होते हैं। यदि हम अहंकारशून्य होकर यज्ञादि कर्मों में लगे रहें तभी प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। ऐसे यज्ञ 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। पवित्र=शुचि बनने पर ही शुचि प्रभु का दर्शन होता है। २. **अस्य**=इस पवित्र प्रभु के **ध्रुवा व्रता**=ध्रुव व्रतों को **विद्वान्**=जानता हुआ पुरुष उन व्रतों के अनुसार अपने व्रतों को बनाता हुआ ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि एक वृक्ष पर **वयाः**=आरोहण करनेवाला **अनुरोहते**=निचली शाखा से उपरली शाखा पर चढ़ता चला जाता है। यह पवित्र यज्ञिय जीवनवाला व्यक्ति प्रभु के व्रतों के अनुसार अपने व्रतों को बनाता हुआ इस संसारवृक्ष की सर्वोत्कृष्ट

शाखा पर पहुँचकर उससे ऊपर उठ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम पवित्र यज्ञों के द्वारा पवित्र प्रभु का उपासन करें। प्रभु के अनुरूप अपने व्रतों को बनाएँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आयुवः-धेनवः-स्वसारः

ता अस्य वर्णमायुवो नेष्टुः सचन्त धेनवः। कुवित्तिसृभ्य आ वरं स्वसारो या इदं ययुः ॥ ५ ॥

१. **ताः**=वे **आयुवः**=(एति इति) गतिशील **धेनवः**=(धे=to absorb) सोमशक्ति को अपने अन्दर सिक्त करनेवाले लोग **अस्य नेष्टुः**=इस ब्रह्माण्ड के नायक प्रभु के **वर्णम्**=रूप को **सचन्त**=सेवन करते हैं, अपने साथ समवेत करते हैं। ये प्रभु के अनुरूप रूपवाले होते हैं। २. वे लोग **याः**=जो **स्वसारः**=(स्वं सरन्ति) आत्मा की ओर गतिवाले होते हुए **तिसृभ्यः**=ऋग् यजु साम रूप तीन वाणियों से **कुवित्**=ख़ूब ही **इदम्**=इस **वरम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को **आययुः**=प्राप्त होते हैं। ज्ञान प्राप्त करके ही तो हम प्रभु के अनुरूप बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के अनुरूप वे होते हैं जो कि (क) आयुवः=गतिशील होते हैं (ख) धेनवः=शक्ति को अपने में ही सिक्त करते हैं (ग) ऋग् यजु सामरूप वाणियों से ख़ूब ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आत्मतत्व की ओर

यदी मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित। तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते ॥ ६ ॥

१. **स्वसा**=आत्मा की ओर चलनेवाला व्यक्ति **यदी**=यदि **मातुः**=इस वेदरूप माता से (स्तुता मया वरदा वेदमाता) **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति का **भरन्ती**=अपने में भरण करता हुआ **उपास्थित**=उपासना करता है तो **तासाम्**=उन ज्ञान वाणियों के **आगतौ**=प्राप्त होने पर **अध्वर्युः**=अध्वर-यज्ञ को अपने साथ जोड़नेवाला यह व्यक्ति **यवः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को अपने से पृथक् करता हुआ तथा अच्छाइयों को अपने साथ जोड़ता हुआ **वृष्टी इव**=(वृष्ट्या इव) आनन्द की वर्षा से ही **मोदते**=प्रसन्नता का अनुभव करता है। २. आत्मतत्त्व की ओर चलना (स्वसा), वेदमाता से अपने अन्दर ज्ञान को भरना (मातुः=घृतं भरन्ती), उपासना (उपास्थित), यज्ञात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़ना (अध्वर्युः) बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों से अपने को भरना (यवः) वह मार्ग जो हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

भावार्थ—आनन्द-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम आत्मतत्त्व की ओर चलें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्तोम यज्ञ और दान

स्वः स्वाय धायसे कृणुतामृत्विगृत्विजम्। स्तोमं यज्ञं चादरं वनेमा ररिमा वयम् ॥ ७ ॥

१. **स्वः**=आत्मा **स्वाय**=परमात्मतत्त्व के **धायसे**=धारण के लिए **ऋत्विक्**=यज्ञशील बनकर **ऋत्विजम्**=उस ऋतु में उपासना योग्य प्रभु को **कृणुताम्**=अपने हृदय में स्थापित करे। प्रभु को हृदय में स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञशील बनें। २. **आत्**=इसके बाद **अरम्**=ख़ूब ही **स्तोमं यज्ञं च**=स्तुति और यज्ञ को **वनेम**=सेवन करनेवाले हैं तथा **वयम्**=हम **ररिमा**=ख़ूब ही दान देनेवाले हैं। स्तोम=यज्ञ और दान ही प्रभुप्राप्ति के मार्ग हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन प्रभु-स्तवन, यज्ञ व दान से ओत-

प्रोत हो।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यज्ञ करना और उसका प्रभु के प्रति अर्पण कर देना

यथा विद्वाँ अरं करद्विश्वेभ्यो यजतेभ्यः। अयमग्ने त्वे अपि यं यज्ञं चकृमा वयम्॥ ८॥

१. **यथा**=क्योंकि **विद्वान्**=वह सर्वज्ञ प्रभु **विश्वेभ्यः**=सब **यजतेभ्यः**=पूजा करनेवाले संगतिकरण-वाले व आत्मदान—आत्मसमर्पण करनेवाले लोगों के लिए **अरम् करत्**=ख़ूब ही ज्ञान को करनेवाला होता है और इस ज्ञान से ही मनुष्यों के लिए यज्ञादि के मार्ग को दिखाता है सो हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यं यज्ञम्**=जिस यज्ञ को **वयं चकृम**=हम करते हैं, **अयम्**=यह यज्ञ **त्वे अपि**=आप में ही अर्पित किया जाता है। आपकी ही प्रेरणा व आपकी ही शक्ति से तो वह यज्ञ चलता है। २. वस्तुतः प्रभु ही ज्ञान व शक्ति को देकर हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम यज्ञों को कर सकें, अतः इन यज्ञों को उस प्रभु से ही होता हुआ हमें समझना चाहिए। इन यज्ञों का गर्व न करके हम इन्हें प्रभु के प्रति ही अर्पण करनेवाले बनें। 'यज्ञों को करना और उन्हें प्रभु के प्रति अर्पण कर देना' ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो और इन यज्ञों को प्रभुकृपा से होता हुआ जानें।

सूक्त की मूल भावना यही है कि प्रभु ही होता हैं (१) सब यज्ञादि कर्मों का ज्ञान प्रभु ही देते हैं (२) एवं सब यज्ञ प्रभु से ही हो रहे हैं। इसी प्रभु से अगले सूक्त में प्रार्थना करते हैं कि—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ-उपासना-ज्ञान

इमां मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वनेः। इमा उ षु श्रुधी गिरः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मे**=मेरी **इमाम्**=इस **समिधम्**=समिधा को—यज्ञों में अग्नि के समिन्धन को **वनेः**=आप स्वीकार करिए। मैं यज्ञों के द्वारा आपको प्रीणित करनेवाला बनूँ। २. **इमाम्**=इस **उपसदम्**=(Sitting at the feet of) आपके चरणों में प्रातःसायं उपस्थित होने को आप स्वीकार करिए। मैं आपकी उपासना करूँ और यह उपासना मुझे आपका प्रिय बनाए। ३. **उ**=और आप **इमाः**=इन **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **सु श्रुधि**=उत्तमता से सुनिए, अर्थात् मैं सदा ज्ञानवाणियों का ही उच्चारण करनेवाला बनूँ। मेरे मुख से व्यर्थ के शब्दों का उच्चारण ही न हो। इन ज्ञानवाणियों से मैं आपका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—मैं यज्ञशील बनूँ, उपासना की वृत्तिवाला बनूँ, सदा ज्ञानवाणियों में विचरूँ इस प्रकार मैं प्रभु का प्रिय बनूँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आहुति व सूक्त

अया ते अग्ने विधेमोर्जो नपादश्वमिष्टे। एना सूक्तेन सुजात॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अश्वमिष्टे**=(अशू व्याप्तौ, इष्टि यज्ञ) व्यापक यज्ञोंवाले प्रभो! **ऊर्जः नपात्**=आप हमारे बल व प्राणशक्ति को नष्ट न होने देनेवाले हैं। वस्तुतः यज्ञात्मक जीवन ही वह प्रकार है जिससे कि शक्ति स्थिर रहती है। इससे विपरीत भोगप्रधान-जीवन हमारी शक्तियों को क्षीण करता है। **अया**=(अनया) इन यज्ञों में दी जानेवाली आहुति के द्वारा हम **ते**=आपका **विधेम**=परिचरण करनेवाले हों। यज्ञों से उस यज्ञरूप प्रभु का उपासन होता है। २. हे **सुजात**=

उत्तम विकास के कारणभूत प्रभो! हम **एना सूक्तेन**=इस सूक्त से आपका उपासन करें। 'सूक्त' शब्द 'सु+उक्त'=मधुर भाषण के लिए प्रयुक्त होता है और वेद के सूक्तों का संकेत करता हुआ ज्ञानवाणियों का प्रतिनिधि है। इन मधुर भाषणों व ज्ञानवाणियों से प्रभु का उपासन होता है और हमारे जीवन का उत्तम विकास होता है।

भावार्थ—हम यज्ञों, मधुरभाषणों व ज्ञानवाणियों से प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गिर्वणस्-द्रविणस्यु

तं त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः। सपर्येम सपर्यवः ॥ ३ ॥

१. हे **द्रविणोदः**=सब इन्द्रियों (=धनों) के देनेवाले प्रभो! **गिर्वणसम्**=ज्ञानवाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य, **द्रविणस्युम्**=धनों के चाहनेवाले **तं त्वा**=उन आपको **सपर्यवः**=पूजा करनेवाले हम **गीर्भिः**=इन ज्ञानवाणियों से **सपर्येम**=पूजित करें। २. प्रभु धनों को देते हैं—'द्रविणोदा' हैं, परन्तु इन सब धनों को वे चाहते हैं (द्रविणस्यु), अर्थात् प्रभु इन धनों को देकर हमारे द्वारा इन धनों के संविभाग की वे कामना करते हैं। इन धनों को हम अपने भोग-विलास में ही व्ययित करने लगें यह प्रभु को प्रिय नहीं है। प्रभु बाँटने के लिए ही हमें धनों को देते हैं। ३. वे प्रभु 'गिर्वणस्' हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में वे हमारे लिए इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराते हैं और इन्हें अपनानेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय बनता है—यह प्रभु का ज्ञानी भक्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानवाणियों को अपनाते हुए और धनों का संविभाग करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वसुपते, वसुदावन्

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्। युयोध्य१स्मद् द्वेषांसि ॥ ४ ॥

१. हे **वसुपते**=सब वसुओं (=धनों) के स्वामिन्! **वसुदावन्**=सब वसुओं के देनेवाले प्रभो! **सूरिः**=आप ही ज्ञानी हैं, **मघवा**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं अथवा (मघ=मख) सब यज्ञों के करनेवाले हैं। आप **अस्मत्**=हमारे से **द्वेषांसि**=सब द्वेष की भावनाओं को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। २. **सः**=वे आप **बोधि**=हमारा ध्यान करिए (Look after)। आपने ही हमें उत्तम प्रेरणाओं व साधनों को प्राप्त कराके उत्कृष्ट मार्ग पर ले चलना है। आपके उपासक बनकर हम भी यज्ञियवृत्तिवाले बनें। सब 'वसु' आपके हैं, आप ही इन्हें हमें प्राप्त कराते हैं। आपके ही कार्यों में हम इनका विनियोग करें। ईर्ष्या, द्वेष के हम कभी वशीभूत न हो जाएं। सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करें।

भावार्थ—सब धनों के स्वामी प्रभु हैं, यह समझकर हम ईर्ष्या, द्वेष से सदा दूर रहें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृष्टि-शक्ति-अन्न

स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम्। स नः सहस्रिणीरिषः ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमारे लिए **दिवः परि**=अन्तरिक्षलोक से (परिः पञ्चम्यर्थे) **वृष्टिम्**= वृष्टि देनेवाले हैं। वस्तुतः गतमन्त्र के अनुसार जब समाज में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष नहीं होता तो पापों की वृद्धि न होकर पवित्रता का वायुमण्डल आधिदैविक आपत्तियों को दूर करने का कारण बनता है। उस समय वृष्टि बड़े ठीक समय पर होती है। २. **सः**=वे आप **नः**=हमें **वाजम्**=

शक्ति को दीजिए, जो कि **अनर्वाणम्**=(अर्व् to kill) हिंसा करनेवाली नहीं। वही शक्ति ठीक है जो कि रक्षा के कार्यों में विनियुक्त होती है। ३. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **सहस्त्रिणीः**= सहस्त्रसंख्यक **इषः**=अन्नों को प्राप्त कराइए। अन्नों की किसी प्रकार से कमी न हो। 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'=अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं। उत्तम अन्नों को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को ठीक बना पाएँ।

भावार्थ—वृष्टि की कमी न हो, रक्षकशक्ति प्राप्त हो तथा अन्न पर्याप्त हो।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यविष्ठ-यजिष्ठ-होतः

ईळानायावस्यवे यविष्ठ दूत नो गिरा। यजिष्ठ होतरा गहि॥ ६॥

१. हे **यविष्ठ**=हमारे से बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले—अच्छाइयों को हमारे साथ जोड़नेवाले प्रभो! **दूत**=ज्ञान का सन्देश करानेवाले प्रभो! **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **गिरा**=ज्ञानवाणियों से **नः**=हमारे लिए **यजिष्ठ**=पूजा योग्य व संगतिकरण योग्य प्रभो! आप **ईळानाय**=स्तुति करनेवाले **अवस्यवे**=रक्षण की इच्छावाले मेरे लिए **आगहि**=प्राप्त होइए। २. प्रभु हमारे से अशुभों को दूर करते हैं। इन्हें दूर करने के लिए ही वे हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं। सब आवश्यक वस्तुओं को देते हैं। इसीलिए वे प्रभु हमारे से स्तुति किये जाने योग्य हैं। प्रभु का सच्चा पूजन हम इन ज्ञानवाणियों को अपनाकर ही कर पाते हैं। ये ज्ञानवाणियाँ ही हमारे रक्षण का साधन बनती हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का पूजन करूँ। प्रभु मुझे प्राप्त हों।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदयस्थ प्रभु

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे। दूतो जन्येव मित्र्यः॥ ७॥

१.हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अन्तः ईयसे**=हमारे हृदयों में ही विचरते हैं। हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! आप हमारे हृदयों में उठनेवाले **उभयाजन्म**=शुभाशुभ दोनों भावों की उत्पत्ति को **विद्वान्**=जानते हैं। 'एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं, न हृदयं वेत्सि मुनिं पुराणम्'=वे पुराण मुनि सबके हृदयों में निवास करनेवाले हैं। २. हे प्रभो! **दूतः**=आपने ही हमारे लिए ज्ञान के सन्देश को प्राप्त कराना है। **जन्या इव**=(Pleasure, happiness. affection) आप ही हमारे लिए वस्तुतः आनन्द हैं व प्रेम हैं। आपके सम्पर्क में ही हम आनन्द व प्रेम का अनुभव करते हैं। **मित्र्यः**=आप ही उत्तम मित्र हैं—हमें सब पापों व रोगों से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रायते)।

भावार्थ—प्रभु का वास हमारे हृदय में हैं। हमारे लिए ज्ञान का सन्देश देते हुए हमें पापों व रोगों से बचाते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पूरण

स विद्वाँ आ च पिप्रयो यक्षि चिकित्व आनुषक्। आ चास्मिन्त्सत्सि बर्हिषि॥ ८॥

१. **सः**=वे **विद्वान्**=हमारे सब भावों को जानते हुए आप **आपिप्रयः**=पूरण करिए—हमारी न्यूनताओं को दूर करिए। **च**=और हे **चिकित्वः**=चेतनावन् प्रभो! आप **आनुषक्**=निरन्तर **यक्षि**=(यज) हमारे सम्पर्क में होते हुए हमारे लिए सब कुछ दीजिए। उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ आपने ही तो प्राप्त करानी हैं। २. **च**=और हे प्रभो! **अस्मिन्**=इस हमारे

बर्हिषि=वासनाशून्य हृदय में आप **आसत्सि**=सर्वथा आसीन होइए। हम अपने हृदयों में आपको आसीन कर सकें। आपकी उपस्थिति में ही हम अपनी न्यूनताओं को दूर कर पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयस्थ करें। हृदयस्थित प्रभु का उपासन करते हुए बुराइयों से दूर रहें।

सम्पूर्ण सूक्त इस भावना से भरा हुआ है कि प्रभु को हम हृदयस्थरूपेण अनुभव करें और यज्ञ, उपासन व ज्ञान के द्वारा अपनी कमियों को दूर करें। अगले सूक्त का भी यही विषय है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'श्रेष्ठ-द्युमान्-पुरुस्पृह' रयि

श्रेष्ठं यविष्ठ भारताऽग्ने द्युमन्तमा भर। वसो पुरुस्पृहं रयिम्॥ १॥

१. हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्रभो! आप हमारे लिए **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम—अधिक से अधिक उत्तम साधनों से कमाए गये **रयिम्**=धन को **आभर**=हमारे में पोषित करिए। आपकी प्रेरणा को प्राप्त करके हम सदा सुपथ से ही धनों को कमानेवाले बनें, २. हे **भारत**=सबका भरण करनेवाले प्रभो! आप उस धन को हमारे में पोषित करिए जो **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय हो। हम धन के द्वारा घृत, लवण, तण्डुलेन्धन की चिन्ता से मुक्त होकर ज्ञानवर्धन कर सकें। वह धन ज्ञानसाधनों को जुटाने में सहायक बने। इस धन से हम अपना सुन्दरतम पुस्तकालय बना पाएँ। इसी प्रकार अन्य साधनों को एकत्रित करके ज्योतिर्मय जीवनवाले हों। ३. हे **अग्ने**=सबको नेतृत्व देने वाले व **वसो**=सबके उत्तम निवास के कारणभूत प्रभो! आप **पुरुस्पृहम्**=बहुतों से चाहने योग्य धन को हमें दीजिए। हमारे धनों में आधार देने योग्य सुपात्रों (आध्र) का भी हिस्सा हो—आदरणीय राष्ट्रसेवकों का भी भाग हो (मन्यमान तुर), इस धन में राजा का भी भाग हो (राजा)। इस प्रकार हमारा धन 'पुरुस्पृह' हो।

भावार्थ—हमें 'श्रेष्ठ-द्युमान्-पुरुस्पृह' रयि की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अदान की भावना से दूर

मा नो अरातिरीशत देवस्य मर्त्यस्य च। पर्षि तस्या उत द्विषः॥ २॥

१. गतमन्त्र में 'पुरुस्पृह' रयि की प्रार्थना थी। उसी प्रसंग में कहते हैं कि **नः**=हमें **अरातिः**=न देने की भावना **मा ईशत**=शासित करनेवाली न हो जाए। हमारे में अदान की भावना प्रबल न हो जाए। चाहे यह अदान की भावना **देवस्य**=देवसम्बन्धिनी हो **च**=अथवा **मर्त्यस्य**=मनुष्य सम्बन्धिनी हो। देवों के विषय में अदान की भावना के होने पर हमारे जीवनों से 'देवयज्ञ' आदि श्रेष्ठ कर्मों का लोप हो जाता है और मनुष्यों के विषय में अदान की भावना अन्य सब यज्ञों को हमारे से लुप्त कर देती है—हम कोई भी लोकहित का कार्य नहीं कर पाते। २. इसलिए हे प्रभो! **तस्याः पर्षि**=हमें अदान की भावना से पार करिए—हम अदान की भावना में न डूब जाएँ। **उत**=और हमें **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं से भी पर्षि—ऊपर उठाइए। हम ईर्ष्या, द्वेष में ही न फंसे रह जाएँ।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें अदान की भावना से ऊपर उठाइए। सब द्वेषों से दूर करिए।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्वेष की नदी का तैर जाना

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव। अति गाहेमहि द्विषः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साथ मिलकर—आपकी उपासना में स्थित होते हुए—**उत**=निश्चय से **विश्वा**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे में घुस आनेवाली **द्विषः**=इन सब द्वेष की भावनाओं को **अतिगाहेमहि**=लांघ कर पार हो जाएँ। इन द्वेष की धाराओं में डूब न जाएँ। २. हम इन द्वेषभावों को इस प्रकार पारकर जाएँ **इव**=जैसे कि **उदन्याः**=जलसम्बन्धिनी **धाराः**=धाराओं को पार कर जाते हैं। तेज़ जलधारा में अकेले व्यक्ति के डूबने की आशंका होती है, परन्तु दूसरे का हाथ पकड़कर हम उस धारा को जैसे पार कर जाते हैं, उसी प्रकार प्रभु का हाथ पकड़कर हम ईर्ष्या, द्वेष की प्रबल धाराओं को लाँघ जाएँगे। प्रभु की उपासना का सर्वमहान् लाभ यही है कि हम सर्वत्र बन्धुत्व का अनुभव करते हुए द्वेष में कभी नहीं फंसते।

भावार्थ—प्रभु के आश्रय से हम द्वेष की इस भयंकर नदी को तैर जाएँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुचिता व वन्द्यता

शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने बृहद्वि रोचसे। त्वं घृतेभिराहुतः ॥ ४ ॥

१. हे **पावक**=पवित्र करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं, अत एव **वन्द्यः**=अभिवादन व स्तुति के योग्य हैं। पवित्रता ही किसी की स्तुति का कारण बनती है। जो जितना-जितना पवित्र होता है, वह उतना ही वन्दनीय व स्तुत्य होता है। हे प्रभो! आप तो **बृहद् विरोचसे**=ख़ूब ही दीप्त हैं। यह ज्ञानदीप्ति ही तो पवित्रता की जननी है। हम भी ज्ञान प्राप्त करें—पवित्र बनें और स्तुत्य जीवनवाले हों। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **घृतेभिः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण (=निर्मलता) व ज्ञानदीप्तियों से **आहुतः**=हमारे द्वारा अपने हृदयों में आहुत किये जाते हैं। जैसे घृत बाह्य अग्नि में आहुत होता है, इसी प्रकार नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति से मैं आपको अपने में आहुत करता हूँ। नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति आपकी प्राप्ति के साधन हो जाते हैं।

भावार्थ—जो जितना शुद्ध होता है—वह उतना ही वन्द्य होता है। नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति से हम प्रभु को अपने में धारण करते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

वशा-उक्षा-अष्टापदी

त्वं नो असि भारताऽग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र में प्रभुप्राप्ति के लिए नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति को साधन के रूप में कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में अन्य अपेक्षणीय बातों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—हे **भारत**=हम सब का भरण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वशाभिः**=आत्मसंयम की भावनाओं से—इन्द्रियों के वशीकरणों से **आहुतः**=अपने अन्दर प्राप्त कराए जाकर **नः असि**=हमारे होते हो। इन्द्रियों के वशीकरण द्वारा हम आपको पानेवाले बनते हैं—आप हमारे हो जाते हैं। २. इसी प्रकार **उक्षभिः** (उक्ष सेचने)=शरीर में उत्पन्न शक्ति के शरीर में ही सेचन द्वारा आप हमारे हृदयों में प्राप्त होकर हमारे हो जाते हैं। ३. **अष्टापदीभिः**='यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि' नामक आठ योगाङ्गरूप आठ चरणों से अपने अन्दर आहुत हुए-हुए आप हमारे हो जाते हो।

भावार्थ—प्रभु को पाने के लिए तीनों ही बातें आवश्यक हैं (क) हम इन्द्रियों को वश में करें (ख) उत्पन्न सोमशक्ति को शरीर में ही सिक्त करें (ग) योग के अंगों को अपनाएँ।

सूचना—वशा का अर्थ 'वन्ध्या गौ' भी है, उक्षा का बैल (Ox) तथा सवत्साधेनु का नाम अष्टापदी। इन अर्थों को लेकर यज्ञाग्नि में इनके माँस की आहुति देने का यहाँ विधान कई विद्वानों ने निकाला, अतः मध्यकाल में 'गोमेध' यज्ञ में गौवों की हिंसा करके उनकी आहुति दी जाती रही। वस्तुतः इस प्रकार के अर्थ वेदों के साथ घोर अन्याय के सूचक हैं। जिन वेदों में "गां मा हिंसीरदितिं विराजम्" यजु० १३।४३, "मा गामनागामदितिं वधिष्ट" ऋ० ८।१०।१५ आदि कहकर गाय, अश्व, अवि आदि सभी पशुओं की हिंसा का निषेध किया गया हो, उन्हीं वेदों में हिंसा का विधान कैसे हो सकता है? अतः वेदमन्त्रों का हिंसारहित अर्थ करना ही उचित है, विशेष व्याख्या के लिए ऋषि दयानन्द कृत भाष्य एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका देखें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वानस्पतिक भोजन व घृत

द्र्वन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥ ६ ॥

१. वे प्रभु (द्रु+अन्नः) **द्र्वन्नः**=वनस्पतिरूप अन्नवाले हैं, अर्थात् प्रभुप्राप्ति के लिए वानस्पतिक भोजन ही अपेक्षित है। माँसाहार हमें भौतिक प्रवृत्तिवाला बनाता है—प्रभु की भावना से दूर करता है। गाय का घृत ही प्रभु के अभिषव का साधन है (सु-अभिषवे)। गोघृत का प्रयोग बुद्धि को तीव्र करता है और यह तीव्रबुद्धि प्रभुदर्शन में साधन बनती है। २. यह तीव्र बुद्धि प्रभु को इस रूप में देखती है कि वे प्रभु **प्रत्नः**=अत्यन्त चिरन्तन व पुराण हैं। **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **वरेण्यः**=ये प्रभु सर्वथा वरण के योग्य हैं। जीव के सामने प्रकृति और परमात्मा दोनों उपस्थित हैं। सामान्यतः जीव आपातरमणीय प्रकृति की ओर झुकता है और अन्ततः कष्टों को प्राप्त करता है। ज्ञानी पुरुष प्रभु का वरण करके वास्तविक आनन्द का भागी होता है। **सहसः पुत्रः**=वे प्रभु शक्ति के पुतले हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। वस्तुतः अद्भुत, अनुपम हैं। संसार की किसी भी वस्तु से प्रभु की उपमा नहीं दी जा सकती। वे अलौकिक व दिव्य हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन के लिए आवश्यक है कि हम वानस्पतिक भोजन व घृत के प्रयोग को करते हुए तीव्रबुद्धिवाले बनें।

प्रभु से 'श्रेष्ठ ज्योतिर्मय पुरुस्पृह' रयि की प्रार्थना से सूक्त का आरम्भ हुआ है। भक्त की प्रार्थना है कि हमारे में अदान की भावना न हो (२) द्वेष से हम ऊपर उठें (३) हमारा जीवन पवित्र हो। इस पवित्रता के लिए हम इन्द्रिय संयम—वीर्यरक्षण व योगमार्ग को महत्त्व दें (५) वानस्पतिक भोजन व घृत प्रयोग करें। अगले सूक्त में भी प्रभु का स्तवन चलता है और कहते हैं कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यशस्तम-मीढ्वान्

वाजयन्निव नू रथान्योगाँ अग्नेरुप स्तुहि। यशस्तमस्य मीळ्हुषः ॥ १ ॥

१. **नु**=अब **अग्नेः**=उस प्रभु के—उस प्रभु से प्राप्त कराये गये, इन **रथान्**=शरीररूप रथों को **योगान्**=और इन रथों में जुते घोड़ों को **वाजयन् इव**=शक्तिशाली सा बनाता हुआ **उपस्तुहि**=उसका स्तवन करनेवाला बन। मन्त्र में 'इव' शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि इनको शक्तिशाली जीव ने क्या बनाना है, शक्ति प्राप्त कराना तो प्रभु का ही कार्य है। 'जीव इस शक्ति का अपव्यय न करे' यही पर्याप्त है। प्रभु द्वारा दिये गये शरीर को स्वस्थ शान्ति सम्पन्न रखने से प्रभु का पूजन ही हो जाता है। २. उस प्रभु का तू पूजन कर जो **यशस्तमस्य**=अत्यन्त यशस्वी

हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु का यशोगान कर रहा है। **मीढुषः**=उस प्रभु का तू पूजन कर जो सब पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। वस्तुतः स्तोता को चाहिए कि वह भी यशस्वी जीवनवाला बनें, और अन्यों के जीवन को सुखी करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु का वस्तुतः स्तवन वही करता है जो (क) अपने शरीर को जीर्णशक्ति नहीं होने देता, (ख) यशस्वी जीवनवाला बनता है तथा (ग) सब पर सुखों के वर्षण का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुनीथ-चारुप्रतीक

यः सुनीथो ददाशुषेऽजुर्यो जरयन्नरिम्। चारुप्रतीक आहुतः ॥ २ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **ददाशुषे**=अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सुनीथः**=(सुनयनः) उत्तम नेतृत्व देनेवाले हैं। जो भी प्रभु के प्रति अपना समर्पण करता है, प्रभु उसे ठीक ही मार्ग पर ले चलते हैं। **अजुर्यः**=वे प्रभु कभी जीर्ण होने वाले नहीं—किन्हीं भी शत्रुओं से वह अभिभूत करने योग्य नहीं। **अरिं जरयन्**=काम-क्रोधादि हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। २. **आहुतः**=अपने हृदयों में जब हम उस प्रभु को आहुत करते हैं तो वे **चारुप्रतीकः**=सुन्दर सब अंगोंवाला बनाते हैं। (चारवः प्रतीकाः यस्मात्)। हम प्रभु को हृदय में धारण करते हैं तो वे प्रभु हमारे सब शत्रुओं का संहार करके हमारे सब अंगों को सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें—प्रभु हमें ठीक ही मार्ग से ले चलेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अहिंसित व्रतोंवाला

य उ श्रिया दमेष्वा दोषोषसि प्रशस्यते। यस्य व्रतं न मीयते ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'चारुप्रतीक' कहा था। वस्तुतः वे प्रभु ही सब शरीरों को—शरीरावयवों को—श्रीयुक्त करते हैं। **यः**=जो प्रभु **उ**=निश्चय से **दमेषु**=सब शरीरों में **श्रिया**=श्री की स्थापना से **दोषा उषसि**=रात्रि और दिन में **आ प्रशस्यते**=सर्वत्र स्तुति किये जाते हैं। शरीर में बल है तो वह बल उस प्रभु का ही है, बुद्धि है तो वह बुद्धि उस प्रभु की ही है। सब तेज़ उसी का तो है। २. ये प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **व्रतम्**=व्रत व नियम **न मीयते**=हिंसित नहीं किया जाता। प्रभु के नियमों को कोई भी तोड़ने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ—सब श्री उस प्रभु की है। उसके नियम अटूट हैं। उपासक को भी अपने जीवन को व्रतीजीवन बनाना है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य सम दीप्तिवाले

आ यः स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा। अञ्जानो अजरैरभि ॥ ४ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **अर्चिषा**=ज्ञानाग्नि की ज्वालाओं से इस प्रकार **आविभाति**=सर्वतः दीप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **भानुना**=किरणों की दीप्ति से **स्वः**=सूर्य चमकता है। आदित्य=वर्ण तो वे हैं ही। इसी कारण वे प्रभु **चित्रः**=अद्भुत हैं अथवा (चायनीयः) पूजनीय आदरणीय हैं। २. ये प्रभु **अजरैः**=अपने न जीर्ण होनेवाले ज्ञान के प्रकाशों से **अभि अञ्जानः**=हमारे जीवनों को अन्दर बाहर से अलंकृत कर रहे हैं—हमें आन्तरिक व बाह्य दीप्ति प्राप्त कराके वे प्रभु हमें स्वलंकृत

जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अपनी ज्ञानदीप्ति से सूर्य के समान चमकते हैं। हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अत्रि व स्वराज्य

अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधुः। विश्वा अधि श्रियो दधे॥ ५॥

१. हमारे जीवनों में **अत्रिम् अनु**=अत्रि का लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) **उक्थानि वावृधुः**=प्रभु के स्तोत्र बढ़ते हैं, अर्थात् हम इसलिए प्रभु के स्तोत्रों को करते हैं कि हम अत्रि बन सकें—हमारे जीवन से 'काम-क्रोध-लोभ' ये तीनों ही आसुरभाव लुप्त हो जाएँ। २. इसी प्रकार **स्वराज्यम्**=अनु—आत्मशासन का लक्ष्य करके हमारे जीवन में प्रभु के स्तोत्र बढ़ते हैं। प्रभु-स्तवन से हम आत्मसंयमवाले होते हैं और इस प्रकार वे प्रभु **विश्वाः**=सब **श्रियः**=श्रियों को **अधिदधे**=आधिक्येन धारण करते हैं, जो भी पुरुष 'अत्रि व स्वराज्य' बनता है, 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है तथा अपना शासन अपने आप करता है' वह श्रीसम्पन्न जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम अत्रि व स्वराज्य बनने के लिए ख़ूब ही प्रभुस्तवन करें। इसी प्रकार हमारा जीवन श्रीसम्पन्न बनेगा।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'अग्नि-इन्द्र-सोम-देव'

अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य देवानामूतिभिर्वयम्। अरिष्यन्तः सचेमह्यभि ष्याम पृतन्यतः॥ ६॥

१. **वयम्**=हम **अरिष्यन्तः**=न हिंसित होने के हेतु से ('अधीयन् वसति' में अर्थ है 'अध्ययन के हेतु से') **अग्नेः**=अग्नि की **इन्द्रस्य**=इन्द्र की **सोमस्य**=सोम की तथा **देवानाम्**=अन्य सब देवों की **ऊतिभिः**=रक्षाओं से **सचेमहि**=संगत हों। अग्नि का रक्षण यही है कि हम अपने अन्दर आगे बढ़ने की भावना को सुरक्षित करें। इसी प्रकार 'इन्द्र का रक्षण' यह है कि हम इन्द्रियों को वश में रखने का पूर्ण यत्न करें। सोम का रक्षण दो भावों को प्रकट करता है। एक तो सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करना तथा दूसरा 'सौम्य' (=विनीत) बनना। देवों का रक्षण 'दिव्यगुणों को अपनाना' है। इन बातों से संगत होने पर हिंसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। २. इन सबके रक्षण से युक्त होकर हम **पृतन्यतः**=हमारे ऊपर अपनी सेना से आक्रमण करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—हम 'अग्नि, इन्द्र, सोम व देव' शब्दों की भावनाओं को अपने में मूर्त रूप दें तथा कामादि शत्रुओं को परास्त करें।

सम्पूर्ण सूक्त अग्नि की उपासना द्वारा यशस्वी जीवनवाला बनने की प्रेरणा दे रहा है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहस्त्रम्भरः-शुचिजिह्वः

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः॥ १॥

१. यह मानव शरीर 'होतृषदन' कहा गया है। इसमें 'सप्तहोतृक-यज्ञ' निरन्तर चलता है—'कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्'='दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात होता हैं—इन सात होताओंवाला यज्ञ यहाँ मन के द्वारा चलाया जा रहा है। ये सात होता ही 'सप्तर्षि' हैं—कान 'गोतम-भरद्वाज' हैं, आँखे 'विश्वामित्र-जमदग्नि' हैं, नासिका 'वसिष्ठ-कश्यप' हैं, वाक् 'अत्रि' है। इस **होतृषदने**=होतृषदन में वह सर्वमहान् **होता**=हमारे जीवनयज्ञों को चलानेवाले प्रभु—सब कुछ देनेवाले प्रभु **नि असदत्**=निश्चय से आसीन होते हैं। वे प्रभु **विदानः**=सर्वज्ञ हैं, **त्वेषः**=तेज़ से दीप्त हैं, **दीदिवान्**=ज्ञानज्योति से जगमगा रहे हैं। **सुदक्षः**=प्रवृद्ध बलवाले हैं। २. वे प्रभु **अदब्धव्रतप्रमतिः**=न नष्ट व्रतों व प्रकृष्ट बुद्धिवाले हैं। प्रभु के **व्रत**=नियम अटूट हैं—वे प्रभु बुद्धिपूर्वक इन नियमों को बनाते हैं, अतः ये नियम पूर्ण हैं और अपरिवर्तनीय हैं। **वसिष्ठः**=वे सबको अधिक से अधिक उत्तम निवास देनेवाले हैं। वे वसुओं में श्रेष्ठ हैं। **सहस्त्रम्भरः**=(सहस्रं=सर्वम्) सबका भरण करनेवाले हैं। **शुचिजिह्वः**=पूर्ण पवित्र वाणीवाले हैं—उनसे सृष्टि के आरम्भ में उच्चरित यह वेदवाणी भी निर्दोष है। इसके द्वारा ही वे **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनयज्ञ को चलाते हैं। वे ही ज्ञान देकर हमें शुभ मार्ग पर आगे ले चलते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान व धन द्वारा रक्षण

त्वं दूतस्त्वमु नः परस्पास्त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता।
अग्ने तोकस्य नस्तने तनूनामप्रयुच्छन्दीद्यद्बोधि गोपाः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **त्वं दूतः**=आप ही हमारे लिए ज्ञानसन्देश देनेवाले हैं। **उ**=और इस ज्ञान द्वारा **त्वम्**=आप ही **नः**=हमें **परस्पाः**=ज्ञानसन्देश देनेवाले हैं। हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **वस्यः**=उत्कृष्ट धन के **आ प्रणेता**=सर्वथा प्राप्त करानेवाले हो। ज्ञान द्वारा आप हमें काम, क्रोधादि आन्तर-शत्रुओं से बचाते हैं, तथा धन देकर आप हमें भौतिक कष्टों से बचानेवाले होते हैं। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **दीद्यत्**=दीप्ति से शोभित होते हुए **तोकस्य**=हमारे सन्तानों का, **तने**=पौत्रों के विषय में, **नः तनूनाम्**=और हमारे शरीरों का **बोधि**=ध्यान करिए (बुध्यस्व) (Look after)। **गोपाः**=आप ही इस सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। हम गौवें हैं तो आप गोपा हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान व धन देकर हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान स्तवन व यज्ञ

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥ ३ ॥

१. 'जायते अस्मिन् इति जन्मन्' इस व्युत्पत्ति से द्युलोक व मस्तिष्क 'परम जन्मन्' हैं—यह प्रभु के प्रकाश का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इस मस्तिष्क में ज्ञानप्रकाश द्वारा हम प्रभु का दर्शन करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम **परमे जन्मन्**=इस सर्वोत्कृष्ट प्रादुर्भाव के स्थान मस्तिष्क में **ते विधेम**=आपका पूजन करते हैं। २. हृदय मस्तिष्क के बीच होने से 'अवर' कहलाया है। मस्तिष्करूप द्युलोक हृदयान्तरिक्ष से ऊपर है ही। यहाँ आत्मा परमात्मा दोनों का मेल है, अतः यह 'सधस्थ' (सह-स्थ) कहलाता है। इस **अवरे सधस्थे**=अवर सधस्थ में, अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में

स्तोमैः=स्तोत्रों के द्वारा **विधेम**=आपकी परिचर्या करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान द्वारा प्रभु का पूजन था तो हृदय में स्तवन के द्वारा। ३. **यस्माद् योनेः**=जिस उत्पत्तिस्थान से आप **उदारिथाः**=उद्गत होते हैं—प्रादुर्भूत होते हैं—मैं **तं यजे**=उस यज्ञरूप योनि को अपने साथ संगत करता हूँ। जब मनुष्य इस शरीर से—शरीर के अवयव हाथों से यज्ञादि कर्मों में ही प्रवृत्त होता है तो वह इन यज्ञों से उस यज्ञरूप प्रभु का पूजन कर रहा होता है और यज्ञों से प्रीणित प्रभु का वह दर्शन करता है। इस **समिद्धे**=सम्यक् दीप्त **त्वे**=आप में **हवींषि प्रजुहुरे**=हवियाँ आहुत होती हैं, अर्थात् आपका दर्शन करने पर हमारा जीवन हविरूप हो जाता है—हम अधिक से अधिक लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभुपूजन मस्तिष्क में ज्ञान से, हृदय में स्तवन से तथा शरीर में (हाथों में) यज्ञों से होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देष्णं राधः (धन दान के लिए)

अग्ने यजस्व हविषा यजीयाञ्छ्रुष्टी देष्णमभि गृणीहि राधः।
त्वं ह्यसि रयिपती रयीणां त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप हमें **हविषा यजस्व**=हवि से संगत करिए। आपकी कृपा से हम सदा यज्ञों को करनेवाले हों। **यजीयान्**=आप ही सर्वोत्तम यष्टा हैं। हमने यज्ञों को क्या करना है। इन यज्ञों ने तो आपकी शक्ति से ही होना है। आप **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **देष्णम्** (देयं)=दान देने योग्य **राधः**=धन को-सर्वकार्य साधक ऐश्वर्य को **अभिगृणीहि**=(प्रयच्छ सा०) आभिमुख्येन देने की कृपा करिए। इन धनों से ही तो हम यज्ञों को सिद्ध कर सकेंगे। २. **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **रयीणां रयिपतिः**=धनों के स्वामी **असि**=हैं। और **त्वम्**=आप **शुक्रस्य**=शुद्ध **वचसः**=वेदज्ञान के **मनोता**=प्रज्ञापक हैं (मानयिता सा०)। इस वेदज्ञान के कारण हम धनों का दुरुपयोग करने से बचकर उनका यज्ञादि उत्तम कार्यों में ही विनियोग करते हैं। धन हमारे कार्यों को सिद्ध करता है तो वेदज्ञान उन धनों की हानि से हमें बचाता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें धनों को देते हैं और उनके ठीक प्रयोग के लिए वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उभयं वसव्यम् (ज्ञान+धन)

उभयं ते न क्षीयते वसव्यं दिवेदिवे जायमानस्य दस्म।
कृधि क्षुमन्तं जरितारमग्ने कृधि पतिं स्वपत्यस्य रायः॥ ५॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय व हमारे सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **जायमानस्य**=उपासना द्वारा हृदय में आविर्भूत होनेवाले **ते**=आपका **उभयं वसव्यम्**=दोनों प्रकार का धन, ज्ञानरूप दिव्य धन, तथा द्रविण रूप पार्थिवधन **न क्षीयते**=नष्ट नहीं होता। आपका दिव्य व भौमधन अनन्त है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! उन धनों द्वारा **जरितारम्**=इस स्तवन करनेवाले भक्त को **क्षुमन्तं कृधि**=('क्षु' अन्न नाम नि० २.७) प्रशस्त अन्नवाला करिए। धन द्वारा यह अन्न जुटा पाए, ज्ञान द्वारा उत्कृष्ट अन्न ही जुटानेवाला हो। ३. हे प्रभो! आप इस स्तोता को **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तानोंवाले **रायः**=धन का **पतिं कृधि**=स्वामी बनाइए। धन के कारण सन्तानों में किसी प्रकार की कमी न आ जाए। वही धन ठीक है जो सभी के उत्थान का कारण बने।

इन धनों द्वारा हम सन्तानों को ऊँची से ऊँची शिक्षा दे पाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व धन दोनों को प्राप्त कराएँ। धनों से हम उत्कृष्ट अन्न को जुटाएँ और सन्तानों को सुशिक्षा के द्वारा उत्तम बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुविदत्रः आयजिष्ठः

सैनानीकेन सुविदत्रो अस्मे यष्टा देवाँ आयजिष्ठः स्वस्ति।
अदब्धो गोपा उत नः परस्पा अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि॥ ६॥

१. **सः**=वे आप **एना**=इस **अनीकेन** (Splendour, Brilliance) तेजस्विता से **अस्मे**=हमारे लिए **सुविदत्रः**=उत्तम धनोंवाले होइए (विद् लाभे)। **देवान् यष्टा**=देवों का हमारे साथ संगतिकरण करिए, **आयजिष्ठः**=आप ही सर्वाधिक पूज्य हैं। २. **अदब्धः**=अहिंसित होते हुए आप **गोपाः**=हमारे रक्षक हैं। **उत**=और **नः**=हमें **परस्पाः**=शत्रुओं से बचानेवाले हैं। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **द्युमत्**=ज्योतिर्मय रूप से **उत**=और **रेवत्**=ऐश्वर्यसम्पन्न रूप से **स्वस्ति**=बड़े कल्याण के साथ (स्वस्ति यथा स्यात्तथा) **दिदीहि**=दीप्त होइए। हम आपसे ज्योति व ऐश्वर्य प्राप्त करके कल्याणपूर्वक दीप्त-जीवन बितानेवाले हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें तेजस्विता व उत्तम धन प्राप्त कराते हैं। आप हमारे जीवनों में ज्योतिर्मय व ऐश्वर्यसम्पन्न होकर दीप्त होइए।

सूक्त का सार यह है कि हम प्रभु का ज्ञानस्तवन व यज्ञों द्वारा पूजन करें। प्रभु हमारे लिए ज्ञान व धन प्राप्त कराके हमारे जीवनों को दीप्त व ऐश्वर्यसम्पन्न बनाते हैं। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपास्य प्रभु

जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्धः।
श्रियं वसानो अमृतो विचेता मर्मृजेन्यः श्रवस्य१ः स वाजी॥ १॥

१. **जोहूत्रः**=(ह्वयतेर्जुहोतेर्वा) सबसे पुकारने योग्य अथवा सब कुछ देनेवाले वे प्रभु हैं, **अग्निः**=वे अग्रणी हैं **प्रथमः**=सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे)। **पिता इव**=पिता के समान हैं अथवा 'स पूर्वेषामपि गुरुः' की तरह वे प्रभु प्रथम पिता हैं—पिताओं के भी पिता हैं। २. ये प्रभु **यत्**=जब **इडस्पदे**=वाणी के स्थान में **मनुषा**=विचारशील पुरुष से **समिद्धः**=दीप्त होते हैं तो **श्रियं वसानः**=श्री को आच्छादित करनेवाले होते हैं। जो ज्ञान वाणियों को ग्रहण करता हुआ प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु उसे श्री से आच्छादित कर देते हैं—उसका जीवन श्रीसम्पन्न बनता है। ३. ये प्रभु **अमृतः**=अमृत हैं—उपासक को अमृतत्व प्राप्त कराते हैं। **विचेताः**=प्रभु विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। **मर्मृजेन्यः**=उपासक के जीवन को अत्यन्त शुद्ध बनानेवाले हैं। **अवस्यः**=उत्तम यशवाले **सः**=वे प्रभु **वाजी**=शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमारा जीवन 'श्री से आच्छादित पवित्र, यशस्वी व शक्तिशाली' बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्यावा-रोहिता-अरुषा

श्रूया अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे विश्वाभिर्गीर्भिरमृतो विचेताः।
श्यावा रथं वहतो रोहिता वोतारुषाह चक्रे विभृत्रः॥ २॥

१. **चित्रभानुः**=वह अद्भुत दीप्तिवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **विश्वाभिः गीर्भिः मे हवम्**= सब वाणियों से किये जाते हुए मेरे स्तवन व आराधन को **श्रूयाः**=सुने। प्रभु की आराधना के लिए भाषा व शब्दों का कोई प्रतिबन्ध नहीं। यह उपासना सब वाणियों द्वारा हो सकती है। वे प्रभु **अमृतः**=अमृत हैं, **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। २. उस प्रभु की ओर **श्यावा**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील इन्द्रियाश्व **रथम्**=हमारे शरीररथ को **वहतः**=प्राप्त कराते हैं। **वा**=अथवा **रोहिता**= प्रादुर्भूतशक्तियोंवाले इन्द्रियाश्व उस प्रभु की ओर हमें ले चलनेवाले होते हैं। **ह**=निश्चय से **विभृत्रः**=विशेष रूप से धारण करनेवाले वे प्रभु इन इन्द्रियाश्वों को **अरुषा**=आरोचमान **चक्रे**= बनाते हैं। प्रभु की ओर हमें ले जानेवाली कर्मेन्द्रियाँ सतत गतिशील (श्यावा) होती है, ज्ञानेन्द्रियाँ आरोचमान (अरुषा) होती हैं। इस प्रकार ये सभी इन्द्रियाँ विकसित शक्तिशाली होती हैं (रोहिता)।

भावार्थ—हम प्रभु की आराधना करें। प्रभु हमारी पुकार सुनेंगे और हमारी इन्द्रियों को गतिशील, विकसित व आरोचमान बनाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उत्तान हृदय में प्रभु का प्रकाश'

उत्तानायामजनयन्त्सुषूतं भुवदग्निः पुरुपेशासु गर्भः।
शिरिणायां चिदक्तुना महोभिरपरीवृतो वसति प्रचेताः॥ ३॥

१. 'उत्तान' शब्द का अर्थ है (frank, candid)=प्राञ्जल=छलछिद्रशून्य, सरल, उपासक। **उत्तानायाम्**=प्राञ्जल हृदय-स्थली में **सुषूतम्**=(षू प्रेरणे) उत्तम प्रेरणा को (शोभनं सूतं) अथवा (शोभनं सूतं यस्मात्) उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाले प्रभु को **अजनयत्**=प्रादुर्भूत करता है। निर्मल हृदय में प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पुरुपेशासु**=अनेक रूपोंवाली प्रजाओं में **गर्भः**=गर्भरूप से मध्य में रहनेवाला होता है। सब के अन्दर प्रभु का वास है। वे प्रभु **शिरिणायाम्**=रात्रि में **चित्**=भी **महोभिः**=अपनी तेजस्विताओं के कारण **अक्तुना**= अन्धकार से **अपरीवृतः**=आच्छादित नहीं होते। वे **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले होते हुए **वसति**=सर्वत्र निवास करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा पवित्र हृदय में सुन पड़ती है। वे प्रभु अन्धकार से आच्छादित नहीं होते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हविषा घृतेन

जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥ ४॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से तथा **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से (घृ क्षरणदीप्त्योः) **जिघर्मि**=मैं अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। प्रभु का प्रकाश हवि व घृत के द्वारा अलभ्य है। वे प्रभु **विश्वा भुवनानि प्रतिक्षियन्तम्**=सब प्राणियों में निवास कर रहे हैं। हवि स्वीकार करनेवाला तथा मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तिवाला व्यक्ति सर्वत्र प्रभु का

प्रकाश देखता है 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'=सब प्राणियों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखनेवाला यह व्यक्ति शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। २. हवि व घृत द्वारा मैं उस प्रभु का दर्शन करता हूँ जो कि **पृथुम्**=अत्यन्त विस्तृत हैं—सर्वव्यापक हैं। **तिरश्चा**=एक कोने से दूसरे कोने तक (तिरः अञ्च्) जानेवाले **वयसा**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) इस सृष्टितन्तु के विस्तार से भी **बृहन्तम्**=बढ़े हुए वे प्रभु हैं—ये सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एक देश में है। **व्यचिष्ठम्**=अत्यधिक विस्तारवाले वे प्रभु हैं—इस सारे ब्रह्माण्ड को उन्होंने घेरा हुआ है। **अन्नैः रभसम्**=इन अन्नों के द्वारा हमें शक्तिशाली (robust) बनानेवाले हैं। **दृशानम्**=दर्शनीय हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन 'हवि व घृत' से होता है। वे प्रभु हमें अन्नोंद्वारा शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अरक्षसा मनसा

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा३ जर्भुराणः ॥ ५ ॥

१. **विश्वतः**=सब ओर **प्रत्यञ्चम्**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले उस प्रभु को **आजिघर्मि**=मैं अपने हृदय में समन्तात् दीप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। मनुष्य को चाहिए कि **अरक्षसा**=राक्षसी वृत्ति से रहित **मनसा**=मन से **तत् जुषेत**=उस प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। २. जो भी प्रभु का उपासन करता है वह **मर्यश्रीः**=(मर्याणां श्रीः) मनुष्यों की शोभा बनता है—मनुष्यों में शोभायुक्त जीवनवाला होता है। **स्पृहयद्वर्णः**=स्पृहणीयरूपवाला होता है—तेजस्विता के कारण चाहने योग्य होता है। **अग्निः न**=अग्नि के समान **अभिमृशे**=(is to be considered) सोचने योग्य होता है—लोगों को यह अग्नि के समान प्रतीत होता है। **तन्वा जर्भुराणः**=शक्तियों के विस्तार से (तनु विस्तारे) ख़ूब ही भरण किया जाता हुआ व पूर्यमाण होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हृदय की शुद्धता से होता है। उपासक शोभामय जीवनवाला—स्पृहणीय वर्णवाला—अग्नि के समान—तेज से पूर्यमाण होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जुह्वा वचस्या

ज्ञेया भागं सहसानो वरेण त्वा दूतासो मनुवद्वदेम।
अनूनमग्निं जुह्वा वचस्या मधुपृचं धनसा जोहवीमि ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **वरेण सहसानः**=श्रेष्ठ बुद्धि आदि के द्वारा हमारे शत्रुओं का पराभव करते हुए आप **भागम्**=(भज सेवायाम्) मुझ उपासक को **ज्ञेयाः**=जानें, अर्थात् मैं आपकी कृपादृष्टि से ओझल न हो जाऊँ। २. **त्वा दूतासः**=आपको ज्ञानसन्देशवाहक के रूप में प्राप्त करके हम **मनुवद्वदेम**=विचारशील पुरुष की तरह सदा आपकी स्तुतियों का उच्चारण करें। ज्ञानपूर्वक आपका हम स्तवन करें। ३. **अनूनम्**=(न ऊनं) सर्वथा पूर्ण **अग्निम्**=अग्रणी **मधुपृचम्**=माधुर्य के साथ हमारे जीवन को संपृक्त करनेवाले आपको **जुह्वा**=आहुति द्वारा तथा **वचस्या**=स्तुति के द्वारा **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। आपकी आराधना करनेवाला मैं **धनसाः**=धनों का संविभाग करनेवाला होता हूँ। वस्तुतः यह धनों का संविभाग ही आहुति है—यह प्राजापत्य यज्ञ में पड़नेवाली आहुति है। धनों का त्याग ही हमें प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—त्याग व स्तुति के द्वारा हम प्रभु की आराधना करनेवाले हों। प्रभु हमारे जीवन को मधुर बनाएँगे।

सूक्त का केन्द्रीभूत विचार यह है कि हम प्रभु 'हविषा, घृतेन, अरक्षसा मनसा-जुह्वा-वचस्या' प्रभु का आराधन करें। प्रभु हमारे जीवनों को मधुर बनाएँगे। अगले सूक्त में प्रभु का 'इन्द्र' नाम से उपासन करते हैं—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वास्थ्य व दान

श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः स्याम ते दावने वसूनाम्।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **हवं श्रुधि**=हमारी पुकार को सुनिए। **मा रिषण्यः**=हमें हिंसित न करिए। हम **ते**=आपके **वसूनाम्**=धनों के **दावने**=देने में **स्याम**=हों। आपसे प्राप्त धनों के हम देनेवाले हों। धनों का मुख्य उपयोग हम 'दान' ही समझें। आप इन्द्र हैं और सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी हैं। आपसे प्राप्त धन को हम आपकी प्रजाओं के हित साधन में ही लगाएँ। २. **हि**=निश्चय से **इमाः**=ये **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न प्रजाएँ **त्वा वर्धयन्ति**=आपका वर्धन करती हैं। वस्तुतः शरीर को सबल बनाए रखनेवाले लोग ही आपके सच्चे उपासक हैं। ये सबल पुरुष ही आपको प्राप्त करते हैं। ३. **वसूयवः**=धनों को कमानेवाले वे पुरुष आपका वर्धन करते हैं जो कि **सिन्धवः न**=नदियों के समान **क्षरन्तः**=बहनेवाले हैं। बहती नदियों का जल जिस प्रकार सबके लिए उपयुक्त होता है, उसी प्रकार इनके धन प्रजाहित के कार्यों के लिए विनियुक्त होते हैं। ये धनों को वस्तुतः दान के लिए ही चाहते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (क) शरीर को स्वस्थ रखता है (ख) धनों को कमाता है और देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु-स्तवन व वासना-विनाश

सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः।
अमर्त्यं चिद्दासं मन्यमानमवाभिनदुक्थैर्वावृधानः ॥ २ ॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **याः**=जो **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले **महीः**=महत्त्वपूर्ण **अपः**=वीर्यरूप जल हैं, जो कि **अहिना**=वासनारूप शत्रुओं से **परिष्ठिताः**=आक्रान्त होते हैं, उन्हें वासना-विनाश के द्वारा आप **सृजः** (व्यसृजः) मुक्त करते हैं और **अपिन्वः**=उन्हें बढ़ाते हैं। शरीर में जल (=आपः) रेतस् के रूप में रहते हैं। ये ही शरीर को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते तथा जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। इनपर वासना का सदा आक्रमण होता है और इनके विनाश का भय बना रहता है। प्रभु वासना-विनाश के द्वारा इन्हें सुरक्षित करते हैं और इस प्रकार हमारा वर्धन करते हैं। २. हे प्रभो! **उक्थैः**=स्तोत्रों से **वावृधानः**=ख़ूब बढ़ाये जाते हुए आप—इस **अमर्त्यं मन्यमानं चित्**=अपने को अमर्त्य मानते हुए **दासम्**=विनाशक काम रूप शत्रुको **अवाभिनत्**=विदीर्ण करते हैं। पौराणिक भाषा में महादेव की तृतीय नेत्रज्योति से कामदेव का दहन हो गया, परन्तु क्या काम विनष्ट हो गया? काम उसी प्रकार जीवित जागरित है—यह तो अमर्त्य सा है। हम हृदयों में प्रभु को धारण करते हैं, तभी इस काम को जीत पाते हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए इस कामरूप शत्रु का विध्वंस करते हैं। इसके विध्वंस होने पर वीर्यरक्षण होता है। इस रक्षित वीर्य से हमारा पालन व पूरण होकर

हमारा जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करेंगे और हमें वीर्यरक्षण में समर्थ करेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उक्थ-स्तोम-रुद्रिय

उक्थेष्विन्नु शूर येषु चाकन्त्स्तोमेष्विन्द्र रुद्रियेषु च।
तुभ्येदेता यासु मन्दसानः प्र वायवे सिस्रते न शुभ्राः ॥ ३ ॥

१. हे **शूर**=हमारी शत्रुभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **येषु**=जिन **उक्थेषु**=होताओं से किये जानेवाले स्तुतिवचनों में **इत् नु**=निश्चय से **चाकन्**=आप दीप्त होते हैं (कनी दीप्तौ), हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **स्तोमेषु**=जिन उद्गाताओं से किये जानेवाले स्तोत्रों में **च**=तथा अध्वर्यु से सम्पादित **रुद्रियेषु**=रोगों के द्रावण के कारणभूत स्तुतिवचनों में **मन्दसानः**=आप प्रसन्न होते हैं, वे सब, सब स्तुतिवचन **इत्**=निश्चय से **तुभ्य**=आपके लिए ही हैं। २. **एताः**=ये सब **शुभ्राः**=उज्ज्वल स्तुतियाँ, **यासु**=जिनमें **मन्दसानः**=स्तोता आपका प्रिय बनता है, **न**=अब (न सम्प्रत्यर्थे सा०) **वायवे**=गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आपके लिए ही **प्रसिस्रते**=प्रवृत्त होती हैं।

भावार्थ—सब उक्थ-स्तोम व रुद्रिय प्रभु के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। ये ही हमें सुन्दर जीवनवाला बनाकर प्रभु का प्रिय बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'शुभ्र शुष्म' तथा 'शुभ्र वज्र'

शुभ्रं नु ते शुष्मं वर्धयन्तः शुभ्रं वज्रं बाह्वोर्दधानाः।
शुभ्रस्त्वमिन्द्र वावृधानो अस्मे दासीर्विशः सूर्येण सह्याः ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! हम **ते**=आपके दिये हुए **शुभ्रं शुष्मम्**=उज्ज्वल शत्रुशोषक बल को **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुए हों। हम **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **शुभ्रं वज्रम्**=उज्ज्वल क्रियाशीलतारूप वज्र को **दधानाः**=धारण करते हुए हों। इस क्रियाशीलता द्वारा ही तो वस्तुतः शक्ति का रक्षण होना है। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **शुभ्रः**=उज्ज्वल होते हुए **वावृधानः**=सदा बढ़े हुए हैं। आप **अस्मे**=हमारे लिए **दासीः**=हमारा उपक्षय करनेवाली **विशः**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर घुस आनेवाली कामक्रोधादि वासनाओं को **सूर्येण**=ज्ञानसूर्य के द्वारा **सह्याः**=कुचल दीजिए। आपकी कृपा से हम इन वासनाओं को ज्ञानसूर्य के उदय से नष्ट कर सकें।

भावार्थ—हम शुभ्र शुष्म का वर्धन करें। क्रियाशील बनें। प्रभु हमारी वासनाओं के अन्धकार को ज्ञानरूप सूर्य से विनष्ट करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराड् बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अहि-हनन

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम्।
उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसमहन्नहिं शूर वीर्येण ॥ ५ ॥

१. **गुहाहितम्**=हृदय रूप गुहा में स्थापित हुए-हुए (मनसि-ज), **गुह्यम्**=अत्यन्त रहस्यमय **गूढम्**=छुपे रहनेवाले, **अप्सु अपीवृतम्**=(आपःरेतः) रेतःकणों के विषय में आच्छादन बने हुए अथवा रेतःकणों को आक्रान्त कर अपने अधीन कर लेनेवाले, **मायिनम्**=अत्यन्त मायावी,

क्षियन्तम्=हम को क्षीण करते हुए **अहिम्**=हमारे नाशक इस वासनारूप शत्रु को हे **शूर**=शत्रुनाशक प्रभो! शक्ति से **अहन्**=आप ही नष्ट करते हैं। २. उस वासनारूप शत्रु को नष्ट करते हैं जो कि निश्चय से **अपः उत द्यां तस्तभ्वांसम्**=(स्तम्भ् stupefy, paralyse, benumb) हमारे ज्ञानों को मूर्छित व समाप्त कर देता है। काम के आक्रमण होने पर सब क्रियाशीलता व ज्ञान नष्ट हो जाता है। ३. यह कामरूप शत्रु छिपकर हमारे अन्दर निवास कर रहा है, अत्यन्त मायावी माया करनेवाला है। हमारी शक्तियों को नष्ट करता है। हमारे कर्मों व ज्ञानों को समाप्त करता है। निश्चित ही इसका विनाश होता है।

भावार्थ—मनुष्य का सर्वमहान् शत्रु काम है। प्रभु ही इसको नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की महिमा का गायन

स्तवा नु त इन्द्र पूर्व्या महान्युत स्तवाम नूतना कृतानि।
स्तवा वज्रं बाह्वोरुशन्तं स्तवा हरी सूर्यस्य केतू॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **नु**=अब **ते**=आपके **पूर्व्या**=पालनात्मक व **महानि**=महत्त्वपूर्ण कर्मों का **स्तवा**=मैं स्तवन करता हूँ। **उत**=और **नूतना**=अत्यन्त स्तुत्य प्रशंसनीय **कृतानि**=कर्मों का भी **स्तवाम**=हम स्तवन करते हैं। २. आपने **बाह्वोः**=हमारी बाहुओं में जो देदीप्यमान **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र स्थापित किया है, उसका **स्तवा**=मैं स्तवन करता हूँ। **सूर्यस्य** (सुष्ठु प्रेरकस्य सुवीर्यस्य वा) उत्तम प्रेरक व शक्तिशाली आपके **केतू**= प्रज्ञापक जो **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हैं, उनका **स्तवा**=मैं स्तवन करता हूँ। वस्तुतः ही आपने हमारे शरीरों में यह क्रियाशीलता रूप वज्र ऐसा दृढ़ व सुन्दर स्थापित किया है कि यह हमारे सब वासनारूप शत्रुओं को मारनेवाला प्रमाणित होता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपनी अद्भुत रचना के द्वारा आपकी महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म पालनात्मक व पूरणात्मक हैं—वे सब कर्म स्तुत्य हैं। इन्द्रियों की रचना भी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'भूमि-प्रथन' तथा 'पर्वत-रमण'

हरी नु त इन्द्र वाजयन्ता घृतश्चुतं स्वारमस्वार्ष्टाम्।
वि समना भूमिरप्रथिष्टारंस्त पर्वतश्चित्सरिष्यन्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नु**=अब **ते**=तेरे **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **घृतश्चुतम्**=ज्ञानदीप्ति को क्षरित करनेवाले (श्च्युत् to sprinkle)=ज्ञानदीप्ति से अन्तःकरण को सिक्त करनेवाले **स्वारम् अस्वार्ष्टाम्**=शब्द को करनेवाले हों। ये इन्द्रियाश्व **वाजयन्ता**=(वाजं कुर्वन्तौ) शक्ति को हमारे में सम्पादित करते हुए सदा प्रकाशवृद्धि के कारणभूत शब्दों को ही उच्चरित करें। २. इन ज्ञान के जनक शब्दों के उच्चारण से **समना**=(सम्+अना) उत्तम प्राणशक्तिवाली यह **भूमिः**=शरीररूप पृथिवी **अप्रथिष्ट**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत होती है। इसकी शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान हमें अन्य सब व्यसनों से बचानेवाला होता है। व्यसनों में न फंसने से शक्तिवर्धन होता है। ३. शक्तियों का वर्धन ही क्या! **पर्वतः चित्**=पर्वत भी **सरिष्यन्**=गतिवाला होता हुआ **अरंस्त**=क्रीड़ा सा करता प्रतीत होता है (रमु क्रीडायाम्)।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयों के मार्ग से न जाकर ज्ञान शब्दों का ही उच्चारण करें। इससे शरीर

की शक्तियों का विस्तार होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वाणी-वर्धन

नि पर्वतः साद्यप्रयुच्छन्त्सं मातृभिर्वावशानो अक्रान्।
दूरे पारे वाणीं वर्धयन्त इन्द्रेषितां धमनिं पप्रथन्नि॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाने पर **पर्वतः**=मेरुपर्वत—शरीरस्थ मेरुदण्ड **अप्रयुच्छन्**=सब प्रकार की शक्तियों को शरीर में सुरक्षित करता हुआ (अत्र विवासयन्) **निसादि**=निश्चय से स्वस्थान में स्थित होता है। उस समय यह पुरुष **मातृभिः**=जीवन का निर्माण करनेवाली इन वेदवाणियों के साथ **संवावशानः**=ख़ूब शब्द करता हुआ—प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **अक्रान्**=गति करता है—कर्मशील होता है। वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करता है—तदनुसार ही कर्म करता है। २. 'रायः समुद्राँश्चतुरः' इस मन्त्रभाग के अनुसार वेदज्ञान समुद्र है। इसका यह सिरा 'अपरा विद्या' है तो परला सिरा 'परा विद्या' है। उस **दूरे पारे**=सुदूर परले सिरे तक **वाणीं वर्धयन्तः**=वाणी को बढ़ाते हुए अर्थात् अपरा विद्या से प्रारम्भ करके पराविद्या तक ज्ञानवर्धन करते हुए **इन्द्र इषिताम्**=प्रभु से सृष्टि के प्रारम्भ में प्रेरित की गई **धमनिम्**=(ध्मा=शब्दे) इस शब्दमयी वेदवाणी को **निपप्रथन्**=निश्चय से अपने में विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—शरीर की शक्तियों को शरीर में सुरक्षित करने से—ज्ञान का चरम सीमा तक वर्धन होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृत्र-वध

इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः।
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्॥ ९॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **महां सिन्धुम्**=इस महनीय ज्ञानसमुद्र को **आशयानम्**=आवृत्त करके निवास करनेवाले (शी—'गिरिश'=पर्वतनिवासी) **मायाविनम्**=अत्यन्त मायामय **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को **निः अस्फुरत्**=विनष्ट करता है। 'इन्द्र' वृत्र का वध करता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। 'वृत्र' कामवासना है। यह कामदेव अपनी माया में सभी को फंसा लेता है। ज्ञान को यह आवृत करके हमारा विनाश करता है, इसी से यह 'वृत्र' है। २. **कनिक्रदतः**=प्रभु के नामों का ख़ूब ही उच्चारण करते हुए **वृष्णः**=शक्तिशाली **अस्य**=इस इन्द्र के **वज्रात्**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **भियाने रोदसी**=भयभीत होते हुए द्युलोक व पृथिवीलोक **अरेजेताम्**=काँप उठते हैं। क्रियाशीलता सारे ब्रह्माण्ड को वशीभूत करने में समर्थ होती है, 'काम' को तो वह वश में कर ही लेती है। 'भियाने रोदसी अरेजेताम्' का अर्थ इस प्रकार भी उचित है कि क्रियाशीलता के होने पर **भियाने**=(to be anxious as solicitous about) प्रभुप्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुए-हुए **रोदसी**=मस्तिष्क व शरीर **अरेजेताम्**=(रेज् to shine) चमक उठते हैं। वासनाविनाश से शरीर व मस्तिष्क की दीप्ति निश्चित ही है।

भावार्थ—काम ज्ञानसमुद्र को आवृत कर लेता है, परन्तु जब हम इन्द्र बनकर क्रियाशीलता रूप वज्र हाथ में लेते हैं तो काम का विनाश होकर मस्तिष्क व शरीर दोनों दीप्त हो उठते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मानुष द्वारा अमानुष-वध

अरोरवीद् वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात्।
नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्पपिवान्त्सुतस्य॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को बनानेवाले **अस्य**=इस **वृष्णः**=शक्तिशाली इन्द्र का **वज्रः**= क्रियाशीलतारूप वज्र **अरोरवीत्**=ख़ूब ही शब्द करता है, अर्थात् यह इन्द्र क्रियाशील होता है और प्रभु के नामों का उच्चारण करता है—प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करता है। **यद्**=जब यह ऐसा करता है तो **मानुषः**=विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाला यह व्यक्ति **अमानुषम्**=मनुष्यों के अहित करनेवाले इस काम को **निजूर्वात्**=हिंसित करता है। कामविध्वंस के लिए 'प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करना' ही उपाय है। २. यह इन्द्र **सुतस्य पपिवान्**=उत्पन्न हुए सोम का (वीर्यशक्ति का) ख़ूब ही पान करनेवाला होता है और **मायिनः**=अत्यन्त मायामय **दानवस्य**=हमारा विनाश करनेवाले (दाप् लवने) काम की **मायाः**=मायाओं को—जादू को **नि अपादयत्**=पाँव तले कुचल देता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण करें, कर्म में लगे रहें। सोमरक्षण करनेवाले हम काम के प्रभाव को कुचलनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमो रक्षति रक्षितः

पिबा पिबेदिन्द्र शूर सोमं मन्दन्तु त्वा मन्दिनः सुतासः।
पृणन्तस्ते कुक्षी वर्धयन्त्वित्था सुतः पौर इन्द्रमाव॥ ११॥

१. हे **शूर**=कामरूप शत्रु का हिंसन करनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सोमम्**=शरीर में उत्पन्न हुई सोमशक्ति को **पिबा पिब इत्**=निश्चय से पी ही। तू सोमपान करनेवाला बन। २. **मन्दिनः**=हर्ष को उत्पन्न करनेवाले **सुतासः**=शरीर में उत्पन्न हुए सोमकण **त्वा मन्दन्तु**=तुझे हर्षित करनेवाले हों। सोम से शरीर व मस्तिष्क दोनों दीप्त हो उठते हैं और इस प्रकार जीवन उल्लासमय हो जाता है। ३. **ते कुक्षी**=तेरी कोखों को **पृणन्तः**=पूरित करते हुए वे सोम—तेरे शरीर में ही व्याप्त होते हुए वे सोम **वर्धयन्तु**=तेरा वर्धन करें। **इत्था**=सचमुच **सुतः**=उत्पन्न हुआ यह **पौरः**=इस शरीर पुरी का पालन व पूरण करनेवाला सोम **इन्द्रम्**=तुझ जितेन्द्रिय पुरुष को **आव**=तृप्त व प्रीणित करनेवाला हो। सोमरक्षण से शरीर के सब दोष दूर होते हैं—विशेषतः कुक्षि प्रदेशों में हो जानेवाले वृक्क विकार नहीं होने पाते। इस प्रकार जीवन नीरोग और परिणामतः आनन्दमय बीतता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करें। यह रक्षित सोम हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के गुणों का स्मरण व धारण

त्वे इन्द्राप्यभूम विप्रा धियं वनेम ऋतया सपन्तः।
अवस्यवो धीमहि प्रशस्तिं सद्यस्ते रायो दावने स्याम॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=हमारी सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! हम **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले होते हुए **त्वे अपि अभूम**=तेरे में ही निवास करनेवाले हों। आपसे हम कभी दूर न हों, आपकी उपासना से ही वस्तुतः हम अपना पूरण कर पाएँगे। २. **ऋतया**=ऋत को अपनाने

के द्वारा **सपन्तः**=आपका उपासन करते हुए हम **धियम्**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों को **वनेम**=सेवन करें। ऋत को अपनाने से हम आपका पूजन करते हैं—उससे हमारे कर्म प्रज्ञापूर्वक होते हैं। ३. **अवस्यवः**=वासनारूप शत्रुओं के आक्रमण से अपने रक्षण की कामनावाले हम **प्रशस्तिं धीमहि**=आपके प्रशस्त गुणों का ध्यान व धारण करते हैं। आपकी दयालुता का स्मरण करते हुए हम भी दयालु बनने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार आपके गुणों का धारण करनेवाले हम **सद्यः**=शीघ्र ही **ते रायः**=आपकी इन सम्पत्तियों के **दावने स्याम**=देने में तत्पर हों, आपसे दिये गये धनों का लोकहित में व्यय करनेवाले बनें। 'धनों का विनियोग दान है न कि भोग' ऐसा समझकर व्यवहार करें।

भावार्थ—ऋत के पालन से प्रभुपूजन होता है। प्रभु के गुणों का स्मरण व धारण करते हुए हम धनों का सदा दान करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुष्मिन्तम रयि

स्याम॒ ते त॑ इन्द्र॒ ये त॑ ऊ॒ती अ॑व॒स्यव॒ ऊर्जं॑ व॒र्धय॑न्तः।
शु॒ष्मिन्त॑मं॒ यं चा॒कना॑म देवा॒स्मे र॒यिं रा॑सि वी॒रव॑न्तम्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **ते स्याम**=आपके ही हों—आपके ही उपासक बनें। **ते**=तेरे ही हों, हम प्रकृति की ओर न झुक जाएँ। **ये**=जो हम **ते ऊती**=आपके रक्षण द्वारा **अवस्यवः**=अपने रक्षण की कामनावाले हैं। **ऊर्जं वर्धयन्तः**=बल और प्राणशक्ति के हम वर्धनवाले हैं। २. हे **देव**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले प्रभो! **यम्**=जिस **रयिम्**=धन की **चाकनाम**=हम कामना करें, उस **शुष्मिन्तमम्**=शत्रुओं के अत्यधिक शोषक, बलवाले **वीरवन्तम्**=वीरता की भावनाओं से युक्त व वीर पुत्रोंवाले धन को आप **अस्मे**=हमारे लिए **रासि**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाते हुए बल व प्राणशक्ति का वर्धन करें। हमारा धन शत्रुशोषक बल व वीरता से युक्त हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

घर-साथी और प्राणशक्ति

रासि॒ क्षयं॒ रासि॑ मि॒त्रम॒स्मे रासि॒ शर्धं॑ इन्द्र॒ मारु॑तं नः।
स॒जोष॑सो॒ ये च॑ मन्दसा॒नाः प्र वा॒यवः॑ पा॒न्त्यग्र॑णीतिम्॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **क्षयं रासि**=उत्तम गृह (क्षि निवासे) को प्राप्त कराते हैं। उस घर में **मित्रं रासि**=उत्तम जीवनसाथी (पत्नी के रूप में) प्राप्त कराते हैं (Marriages are made in heaven)। हे परमात्मन्! आप **नः**=हमें **मारुतं शर्धः**=प्राणसम्बन्धी बल **रासि**=देते हैं। प्रभुकृपा से उत्तम घर, उत्तम जीवनसखा व प्राणशक्ति प्राप्त होती है। ये तीनों ही बातें इस जीवनयात्रा में उन्नति के लिए आवश्यक हैं। २. इनको प्राप्त करके **ये**=जो व्यक्ति **सजोषसः**=साथ मिलकर (सह) प्रीतिपूर्वक कर्म करनेवाले होते हैं, **च**=और जो **मन्दसानाः**=सदा सन्तुष्ट व आनन्दित रहते हैं, वे **वायवः**=प्रगतिशील व्यक्ति **अग्रणीतिम्**=अपने को आगे प्राप्त कराने की **प्रपान्ति**=प्रकर्षेण रक्षा करते हैं, अर्थात् निरन्तर उन्नत होते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से उत्तम घर साथी व प्राणशक्ति प्राप्त करके हम मिलकर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्य-कर्म को करें और इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ज्ञान+स्तवन

व्यन्त्विन्नु येषु मन्दसानस्तृपत्सोमं पाहि द्रह्यदिन्द्र।
अस्मान्त्सु पृत्स्वा तरुत्रावर्धयो द्यां बृहद्भिरर्कैः॥ १५॥

१. सोम शरीर में सुरक्षित होने पर मनुष्य पूर्ण स्वस्थ होकर आनन्द का अनुभव करता है अतः कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **येषु**=जिन सोमकणों के सुरक्षित होने पर तू **मन्दसानः**=तृप्ति व आनन्द को अनुभव करता है वे सोमकण **नु**=अब **व्यन्तु इत्**=निश्चय से तुझे प्राप्त हों। **द्रह्यत्**=अपने को दृढ़ करता हुआ तू—वासनाओं का अपने को शिकार न होने देता हुआ तू—**तृपत्**=तुझे प्रीणित करनेवाले इस **सोमम्**=सोम को—रेतःकणों को **पाहि**=अपने में सुरक्षित कर। २. प्रभु के उत्तम निर्देश को सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि हे **पृत्सु**=संग्रामों में **आतरुत्र**=समन्तात् शत्रुओं से तरानेवाले प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **सुअवर्धयः**=उत्तमता से वृद्धि को प्राप्त कराइए। आप **द्याम्**=हमारे ज्ञान के प्रकाश को **बृहद्भिः**=वृद्धि के कारणभूत **अर्कैः**=स्तुतिसाधन मन्त्रों के साथ बढ़ाइए। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े, हमारे में स्तवन की भावना उत्पन्न हो। ये ज्ञान और स्तवन हमें वासनाओं के साथ संग्राम में विजयी बनाएँगे।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करें। रक्षित सोम हमें आनन्दित करेंगे। इसी उद्देश्य से प्रभु हमारे ज्ञान व स्तवन के भाव को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्वस्थ शरीर-सबल अंग

बृहन्त इन्नु ये ते तरुत्रोक्थेभिर्वा सुम्नमाविवासान्।
स्तृणानासो बर्हिः पस्त्यावत्त्वोता इदिन्द्र वाजमग्मन्॥ १६॥

१. हे **तरुत्र**=वासनाओं से तरानेवाले प्रभो! **ये**=जो **उक्थेभिः**=स्तोत्रों द्वारा **वा**=निश्चय से **सुम्नम्**=आनन्दमय आपका **आविवासान्**=परिचरण करते हैं, **ते**=वे **इत् नु**=निश्चय से **बृहन्तः**=वृद्धि को प्राप्त करते हैं—बढ़ते ही चलते हैं। प्रभुस्तवन करनेवाला अपने सामने एक ऊँची लक्ष्यदृष्टि रखता है और उसकी ओर बढ़ता हुआ निश्चय से उन्नत होता चलता है। २. आपके स्तवन द्वारा वासनाओं का उन्मूलन करनेवाले ये लोग **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणानासः**=आच्छादित करनेवाले होते हैं। वासनाशून्य हृदयरूप आसन को ये आपके लिए बिछाते हैं और **त्वा ऊताः**=आपसे रक्षित हुए ये व्यक्ति, हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **पस्त्यावत्**=उत्तम शरीररूप गृहवाले **वाजम्**=बल को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। इनका शरीर स्वस्थ होता है—इनका एक-एक अंग बलसम्पन्न होता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हमारी वृद्धि होती है। इससे शरीर स्वस्थ होता है, अंग सबल बनते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तीन अनड्वान काल

उग्रेष्विन्नु शूर मन्दसानस्त्रिकद्रुकेषु पाहि सोममिन्द्र।
प्रदोधुवच्छ्मश्रुषु प्रीणानो याहि हरिभ्यां सुतस्य पीतिम्॥ १७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले पुरुष! **तू उग्रेषु**=तेरे जीवन को तेजस्वी बनानेवाले **त्रिकद्रुकेषु**='बाल्य-यौवन व वार्धक्य' इन तीनों जीवन के कालों में

होनेवाले प्रभु के आह्वानों में **इत् नु**=निश्चय से **मन्दसानः**=आनन्द का अनुभव करता हुआ **सोमं पाहि**=सोम का रक्षण कर। सदा प्रभु का स्मरण कर और वासनाओं से आक्रान्त न हुआ-हुआ तू सोम का रक्षण कर। २. प्रभु-स्मरण के द्वारा **श्मश्रुषु**=(श्मनि श्रितं) शरीरस्थ इन्द्रियों मन व बुद्धि में लिप्त मल को **प्रदोधुवत्**=पुनः-पुनः कम्पित करके दूर करता हुआ **प्रीणानः**=प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ **सुतस्य पीतिम्**=उत्पन्न सोम के रक्षण के उद्देश्य से **हरिभ्यां याहि**=अपने ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से गतिवाला हो। इन्द्रियों का मल 'काम' है, मन का 'क्रोध' तथा बुद्धि का 'लोभ'। इन मलों का दूर रहना नितान्त आवश्यक है। इसके दूर होने पर ही प्रसन्नता का अनुभव होता है। गतिशील बने रहने से ही इनके दूर होना सम्भव है और इनके दूर होने पर ही सोम का शरीर में रक्षण होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण करें। यह स्मरण हमारे इन्द्रिय मन व बुद्धि के मलों को दूर करेगा और हम सोम का शरीर में रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दानु-और्णवाभ-दस्यु' रूप वृत्र का वशीकरण

धिष्वा शवः शूर येन वृत्रमवाभिनद्दानुमौर्णवाभम्।
अपावृणोर्ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादि दस्युरिन्द्र॥ १८॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण के द्वारा **शवः आ धिष्व**=उस बल को धारण कराइए **येन**=जिस बल से **दानुम्**=(दाप् लवने) शक्तियों का खण्डन करनेवाले **और्णवाभम्**=ऊर्णनाभि के समान जाल को ताननेवाले—उस जाल में हमें फँसानेवाले **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत 'काम' को **अवाभिनद्**=विदीर्ण करके दूर करते हैं। २. इस काम के विनाश द्वारा ही आप **आर्याय**=(ऋ गतौ) नियमित गतिवाले पुरुष के लिए **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अपावृणः**=आवरणरहित करते हैं। आवरणभूत 'काम' नष्ट हुआ तो ज्ञान दीप्त हो ही उठता है। इस ज्ञान के दीप्त हो उठने पर हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **दस्युः**=यह शक्तियों के उपक्षय को करनेवाला 'काम' **सव्यतः निसादि**=बाईं ओर नीचे बिठाया जाता है, अर्थात् पूर्णतया वशीभूत कर लिया जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बल दें जिससे कि हम इस 'दानु-और्णवाभ-दस्यु' रूप वृत्र को पूर्णतया अभिभूत कर पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विश्वरूप दर्शन

सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्।
अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय॥ १९॥

१. **ये**=जो हम **ते**=आपके **ऊतिभिः**=रक्षणों से **विश्वाः स्पृधः**=सब स्पर्धा करते हुए शत्रुओं को **तरन्तः**=तैरनेवाले हैं तथा **आर्येण**=आर्यभाव से **दस्यून्**=दस्युओं को तैरते हैं, वे हम **सनेम**=आपका संभजन करनेवाले हों। प्रभु के भक्त आर्यभाव से दस्युओं को पराजित करते हैं—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्'। २. **अस्मभ्यम्**=ऐसे हमारे लिए आप **तत्**=उस **त्वाष्ट्रम्**=विश्वनिर्मातृ- सम्बद्ध **विश्वरूपम्**=विश्वरूप को **अरन्धयः**=सिद्ध करिए। हम प्रत्येक पिण्ड में आपकी महिमा देखनेवाले बनें। हमें सर्वत्र आपका ही रूप दिखे। ३. हे प्रभो! **त्रिताय**='काम, क्रोध व लोभ' को तैर जानेवाले मेरे लिए (त्रीन् तरति) अथवा ज्ञान, कर्म व भक्ति तीनों का विस्तार करनेवाले मेरे

लिए (त्रीन् तनोति) आप **साख्यस्य**=मित्रता सम्बन्धी (सख्यस्य इदम्) रूप को सिद्ध करिए, अर्थात् त्रित बनकर मैं अपने को आपकी मित्रता के योग्य बना पाऊँ।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से हम सब शत्रुओं को जीत पाएँ। आर्यभाव से दस्युओं को समाप्त करते हुए हम प्रभु के विश्वरूप को देखें। सर्वत्र प्रभु को देखते हुए हम त्रित बनें और प्रभु की मित्रता के पात्र हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बल-विभेदन

अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः।
अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद्बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्॥ २०॥

१. **अस्य**=इस **सुवानस्य**=अपने अन्दर सोम का (=वीर्य का) सम्पादन करनेवाले **मन्दिनः**= सदा प्रसन्न रहनेवाले **त्रितस्य**=काम, क्रोध, लोभ को तैरनेवाले (त्रीन् तरति) त्रित के **अर्बुदम्**=(मेघं) ज्ञानरूप सूर्य पर आवरण रूप से आ जानेवाले वासनारूप मेघ को **वावृधानः**= स्तुतियों से वर्धन किये जाते हुए आप **नि अस्तः**=निश्चय से दूर फेंकते हो—छिन्न-भिन्न कर देते हो। २. यह त्रित **सूर्यः न**=सूर्य के समान **चक्रम्**=चक्र को **अवर्तयत्**=घुमाता है। सूर्य जैसे अपने अक्ष पर निरन्तर घूम रहा है—चक्राकार गति में चल रहा है इसी प्रकार यह त्रित चक्राकार गति में चलता है। इसका दिन का कार्यचक्र बड़ी नियमित गति से घूमता है। कार्यचक्र में चलता हुआ यह **वलम्**=(Veil) ज्ञान के आवृत करनेवाले वृत्र को **भिनद्**=विदीर्ण करता है। **इन्द्रः**= शक्तिशाली कर्मों का करनेवाला होता है। **अङ्गिरस्वान्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला होता है।

भावार्थ—सूर्य की तरह अपने कार्यचक्र में चलने पर हम वृत्र का विनाश करके 'इन्द्र' व 'अङ्गिरस्वान्' बनते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः'

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ २१॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नूनम्**=निश्चय से **सा**=वह **ते**=आपकी **मघोनी**=(मघवती) ऐश्वर्यवाली **दक्षिणा**=दक्षिणा (=दान) **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वरम्**=श्रेष्ठ पदार्थों को **प्रतिदुहीयत्**=एक-एक करके हमारे लिए प्राप्त कराए। आपके दान के हम पात्र हों। आपके इस दान से हमें सब उत्कृष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो। २. **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **शिक्षा**=उत्तम ऐश्वर्य को दीजिए। **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज आप **नः**=हमारे लिए **मा अति धक्**=इस ऐश्वर्य को दग्ध न कीजिए। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=ख़ूब ही आपके स्तुतिवचनों का उच्चारण करें। आपके स्तोता बनते हुए हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनें। प्रभु-स्तवन हमें विषयों का शिकार होने से बचाता है। इस प्रकार हम वैषयिक-वृत्ति से ऊपर उठकर अपने में शक्ति का संग्रह करते हुए वीर बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया ऐश्वर्य हमें सब उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराए। हम प्रभुस्तवन करते हुए वीर बनें।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि प्रभुस्तवन से वासना को पराजित करके हम शक्तिशाली बनें। यह प्रभुस्तवन ही अगले सूक्त का विषय है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

द्वितीयोऽनुवाकः

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जातः प्रथमः मनस्वान्

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **जातः एव**=सदा से प्रादुर्भूत हैं—'प्रभु कभी जन्म लेंगे' ऐसा प्रश्न ही नहीं पैदा होता। वे सदा से हैं। **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अतिशय विस्तारवाले हैं। **मनस्वान्**=ज्ञानवान् हैं—सर्वत्र हैं। **देवः**=प्रकाशमय वे प्रभु **देवान्**=सब देवों को **क्रतुना**=शक्ति से **पर्यभूषत्**=अलंकृत करते हैं। सूर्य-चन्द्र को वे प्रभा प्राप्त कराते हैं—अग्नि को तेज देते हैं तो जल को रसयुक्त करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही इन्हें देवत्व प्राप्त कराते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'। २. हे **जनासः**=लोगो! **यस्य शुष्मात्**=जिसके बल से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अभ्यसेताम्**=भयभीत हो उठते हैं—वस्तुतः जिसके भय से ही ये सारे ब्रह्माण्डस्थ लोक अपने-अपने मार्ग पर गति कर रहे हैं **सः**=वह **नृम्णस्य**=बल की **मह्ना**=महिमा से **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु ही सब देवों को शक्ति प्रदान करते हैं, इस प्रभु के शासन में ही सब लोक गति कर रहे हैं। ये प्रभु सदा से प्रादुर्भूत सर्वव्यापक व सर्वत्र हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वाधार प्रभु

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **स इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वह है **यः**=जो **व्यथमानाम्**=भूकम्पादि से कम्पित होती हुई पृथिवी को **अदृंहत्**=दृढ़ करता है। २. इन्द्र वह है **यः**=जो **प्रकुपितान्**=कुपित होकर लावा के रूप में गर्म पदार्थों को बाहर फेंकते हुए **पर्वतान्**=पर्वतों को **अरम्णात्**=बड़ा रमणीय बनाता है। २.इन्द्र वह है **यः**=जो **वरीयः**=इस उरुतर अत्यन्त विशाल **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **विममे**=बनाता है और **यः**=जो इस **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामता है।

भावार्थ—प्रभु पृथिवी को दृढ़ बनाते हैं और पर्वतों को रमणीय। वे अन्तरिक्ष को विशाल बनाते हैं और द्युलोक को थामते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्त सिन्धु-स्रवण

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो **अहिं**=हमारा विनाश करनेवाली (आहन्ति) वासना को **हत्वा**=विनष्ट करके **सप्त**=सात सर्पणशील **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करता है। वासना के विनष्ट होने पर सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करती हैं और इन इन्द्रियों से ज्ञानप्रवाह ठीक प्रकार से चलता है। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्' इस मन्त्रभाग में दो कान दो नासिका छिद्र दो आँखें व मुख रूप सप्तर्षियों का उल्लेख है, ये सप्तर्षि इस मानव देह रूप आश्रम में अपने ज्ञानयज्ञ को निरन्तर

चला रहे हैं। इस यज्ञ में वासना विध्वंस हो जाती है। इस वासना को प्रभु विनष्ट करते हैं। २. **यः**=जो **वलस्य**=ज्ञान पर परदे के रूप में आ जाने वाले (Veil) वल नामक असुरभाव के **अपधा**=दूर धारण द्वारा **उदाजत्**=प्रकर्षेण प्रेरित करता है। प्रभु वल या वृत्र को विनष्ट करके हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं। ३. **यः**=जो **अश्मनोः अन्तः**= (अश्मा इति मेघनाम नि० १.१०) दो बादलों के अन्दर परस्पर समीप आने पर **अग्निम्**=विद्युत् रूप अग्नि को **जजान**=प्रकट करता है। जैसे दो पत्थरों के संघर्ष से आग प्रकट होती है, इसी प्रकार दो बादलों में विद्युत्। इसी प्रकार मानवजीवन में भी विद्या व श्रद्धा रूप दो पाषाणों में कर्मरूप अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। इस अग्नि के प्रादुर्भाव द्वारा वे प्रभु **समत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में **संवृक्**=हमारे वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करके ज्ञान-प्रवाहों के चलानेवाले वे प्रभु हैं। प्रभु ही अध्यात्म संग्रामों में हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निचली योनियों में

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहा कः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

१. **येन**=जिसने **इमा विश्वा**=इन सब लोकों को **च्यवना कृतानि**=अस्थिर बनाया है। दृढ़-से-दृढ़ प्रतीयमान लोक को भी वे प्रभु प्रलयकाल आने पर विदीर्ण करते हैं। प्रभु ने सारे संसार को ही नश्वर बनाया है। वस्तुतः इस अस्थिरता का चिन्तन ही मनुष्य को मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। २. **यः**=जो **दासं वर्णम्**=औरों का उपक्षय करनेवाले मानवसमूह को **अधरम्**=निचली योनियों में **गुहा कः**=संवृत ज्ञान की (गुह संवरणे) स्थिति में करते हैं, अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि में व वृक्षादि स्थावर योनियों में ही जन्म देते हैं। यहाँ उनकी बुद्धि सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। ३. **यः**=जो **जिगीवान्**=सदा विजयी प्रभु **अर्यः**=वैश्यवृत्तिवाले कृपण व्यक्ति की **पुष्टानि**=सम्पत्तियों को इस प्रकार **आदत्**=छीन लेते हैं **इव**=जैसे कि **श्वघ्नी**=एक व्याघ्र (शिकारी) **लक्षम्**=अपने लक्ष्यभूत मृगादि को **आदद्**=ग्रहण कर लेता है। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे कृपणों के धनों का हरण करनेवाले प्रभु ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सब लोकों को नश्वर बनाया है। पापवृत्तिवाले को वे निचली योनियों में जन्म देते हैं, कृपणवृत्ति वालों के धन का अपहरण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु में अनास्था

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों को नश्वर बनानेवाले **यं घोरम्**=जिस उग्र प्रभु को आसुरीवृत्तिवाले लोग **कुह सः**='कहाँ है वह!' **इति**=इस प्रकार **पृच्छन्ति स्म**=पूछते हैं। **उत**=और **ईम्**=निश्चय से **एनम्**=इस परमात्मा को **एषः न अस्ति**=यह नहीं है **इति**=इस प्रकार **आहुः**=कहते हैं। सामान्यतः 'वे प्रभु नहीं हैं' ऐसा ही उनका विचार बनता है। ऐसा मानकर वे अन्याय्य मार्गों से धनों का संग्रह करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **अर्यः**=इन धनार्जन-प्रसित पुरुषों की **पुष्टीः**=(Pressessions) धनों व सम्पत्तियों को **विजः इव**=भूकम्प की तरह **आमिनाति**=सर्वथा

नष्ट कर देते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **अस्मै**=इस बात के लिए **श्रत् धत्त**=श्रद्धा धारण करो। **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। सब शक्तिशाली कर्मों के वे करनेवाले हैं। अन्यायार्जित धनों का भी वे विनाश कर देते हैं।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु को भूल कर अन्याय्य मार्ग से धर्नाजन में लगता है। वे प्रभु इन धनों का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रेरक प्रभु

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥ ६॥

१. **यः**=जो **रध्रस्य**=(रध संराद्धौ) समृद्ध का **चोदिता**=प्रेरक है और **यः**=जो **कृशस्य**=दुर्बल अर्थात् दरिद्र के लिए भी आवश्यक धन का प्रेरक है। **यः**=जो **ब्रह्मणः**=(ब्रह्म, बृहि वृद्धौ) परिवृद्ध ज्ञानी का प्रेरक है तथा **नाधमानस्य**=याचमान-मांगते हुए **कीरेः**=स्तोता को धनों का प्राप्त करानेवाला है। २. **यः**=जो **युक्तग्राव्णः**=(ग्रावा=प्राण श० १४.२.२.३३) प्राणों को योग द्वारा निरुद्ध करके आत्मा में लगानेवाले, **सुतसोमस्य**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष का **अविता**=रक्षक है **सः**=वह **सुशिप्रः**=उत्तम हनू व नासिका प्राप्त करानेवाला (शोभने शिप्रे-यस्मात् सः), हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु है। जो भी व्यक्ति प्रभु का आराधक बनता है वह प्रभुकृपा से सुशिप्र होता है। उसके जबड़े उत्तम होते हैं—वह सदा उत्तम ही भोजनों को खानेवाला बनता है। उस की नासिका उत्तम होती है—वह सदा प्राणायाम का अभ्यासी होकर प्राणों को वश में करता है और उत्तम प्राणशक्तिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ही धनी-निर्धन, ज्ञानी स्तोता व प्राणायाम के अभ्यासी पुरुषों का प्रेरक व शासक है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वानुशासक

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥ ७॥

१. अध्यात्म जगत् में **यस्य**=जिसके **प्रदिशि**=प्रदेशन व अनुशासन में **अश्वासः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियाँ कर्मव्यापृत होती हैं। **यस्य**=जिसके अनुशासन में **गावः** (गमयन्ति अर्थान्) अर्थों का ज्ञान प्राप्त करनेवाली ज्ञानेन्द्रियां ज्ञानप्राप्ति में प्रवृत्त होती हैं। २. **यस्य**=जिसके अनुशासन में **ग्रामाः**=यह सब इन्द्रियों व प्राणों का समूह कार्य में प्रवृत्त होता है और **यस्य**=जिसके अनुशासन में **विश्वे**=ये सब **रथासः**=शरीररूप रथ गति करते हैं। २. इस आधिदैविक जगत् में भी **यः**=जो **सूर्यम्**=सूर्य को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं और जो **उषसम्**= उषाकाल को प्रकट करते हैं। **यः**=जो सूर्यकिरणों द्वारा मेघनिर्माण करते हुए **अपां नेता**=जलों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—अध्यात्म में प्रभु ही कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, प्राणसमूहों व शरीररथों के प्रवर्तक हैं। अधिदैवत में भी सूर्य व उषा को वे प्रादुर्भूत करनेवाले व जलों के प्रवर्तक हैं। वे प्रभु ही सर्वानुशासक हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आराध्य प्रभु

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

१. **यम्**=जिसको **संयती**=(सम् यती) सम्यक् गतिवाले **क्रन्दसी**=परस्पर आह्वान सा करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **विह्वयेते**=विविध रूपों में पुकारते हैं। पृथिवीलोक को प्रभु ही दृढ़ बनाते हैं, वे ही द्युलोक को सूर्यादि द्वारा तेजस्वी करते हैं 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। २. **परे**=उत्कृष्ट योगमार्ग पर चलनेवाले भी उस प्रभु को पुकारते हैं और **अवरे**=सकाम कर्म मार्ग का अवलम्बन करनेवाले लोग भी उसी का आराधन करते हैं। योगियों को वे प्रभु ही निःश्रेयस प्राप्त कराते हैं और इन सकामकर्मियों के अभ्युदय के साधक भी वे ही हैं। ३. **उभयाः अमित्राः**=दोनों परस्पर स्नेह न करनेवाले शत्रु उस प्रभु को ही विजय के लिए पुकारते हैं और **चित्**=निश्चय से **समानं रथम्**=एक ही रथ पर **आतस्थिवांसा**=बैठे हुए—एक ही घर को मिलकर बनानेवाले पति-पत्नी भी **नाना हवेते**=आप से भिन्न-भिन्न प्रार्थना करते हैं। पति-पत्नी की प्रार्थना में भी पार्थक्य होता है। उनकी प्रार्थना विरोधी न होती हुई भी पृथक्-पृथक् होती है।

भावार्थ—सारा संसार उस-उस वस्तु के लिए प्रभु को ही पुकार रहा है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विजेता प्रभु

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

१. **यस्माद् ऋते**=जिसके बिना **जनासः**=लोग **न विजयन्ते**=विजय को नहीं प्राप्त करते हैं। सब विजय उस प्रभु की ही होती है 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'। बलवानों के बल वे प्रभु हैं—तेजस्वियों का तेज वे हैं और बुद्धिमानों की बुद्धि वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार सब विजय प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। २. **युध्यमानाः**=युद्ध करते हुए लोग **अवसे**=रक्षण के लिए **यम्**=जिसको **हवन्ते**=पुकारते हैं। परस्पर युद्ध करते हुए लोग विजय के लिए प्रभु का स्मरण करते हैं। २. **यः**=जो **विश्वस्य**=सम्पूर्ण संसार का **प्रतिमानम्**=(An adversary) मुकाबला करनेवाले योद्धा **बभूव**=हैं। सारा संसार भी एक ओर हो और प्रभु दूसरी ओर हों तो यह संसार उस प्रभु का साम्मुख्य नहीं कर सकता। **यः**=जो **अच्युतच्युत्**=दृढ़ से दृढ़ भी लोकों को हिला देनेवाले हैं, हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—अनन्तशक्तिवाले वे प्रभु हैं। उन्हें सारा ब्रह्माण्ड भी पराजित नहीं कर सकता। वे ही सब विजयों के करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दस्युहन्ता' प्रभु

यः शश्वतो महो एनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

१. **यः**=जो **शश्वतः**=सदा-निरन्तर **महि एनः**=बड़े-बड़े पापों को **दधानान्**=धारण करते हुए लोगों को, **अमन्यमानान्**=प्रभु में आस्था न रखनेवालों को **शर्वा**=हिंसा के साधनभूत वज्र आदि से **जघान**=नष्ट करता है। पापी को अन्ततः प्रभु ही पीड़ित करते हैं। २. **यः**=जो **शर्धते**=बल

के घमण्ड में औरों पर अत्याचार करनेवाले पुरुष के लिए **शृध्याम्**=बल व सहनशक्ति को **न अनुददाति**=नहीं देता है। इन बल के घमण्ड में परपीडक पुरुषों को प्रभु ही निर्बल करनेवाले होते हैं—इनके बल को वे ही छीन लेते हैं। इस प्रकार **यः**=जो **दस्योः**=इन उपक्षय करनेवाले पुरुषों का **हन्ता**=नाश करनेवाले हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु पापियों को पीड़ित करते हैं। अत्याचारियों को वे निर्बल करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ओजायमान दानु का विनाश

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११ ॥

१. अविद्या पाँच पर्वोंवाली है सो पर्वत कहलाती है। इस अविद्यारूप पर्वत में ही ईर्ष्या का निवास है। अज्ञानवश ही मनुष्य ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या सब शान्ति को उचाट कर देने के कारण यहाँ 'शंबर' नामक असुर के रूप में चित्रित हुई है। मनुष्य साधना में चलता-चलता है। चालीसवें वर्ष में भी वह अपने में ईर्ष्या को देखता है। इस वर्ष तक जीवन की सम्पूर्णता हो जाती है, परन्तु ईर्ष्या अभी भी बची रहती है। **यः**=जो **पर्वतेषु क्षियन्तम्**=अज्ञानरूप पर्वत में निवास करनेवाली **शंबरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाली इस ईर्ष्या को **चत्वारिंश्यां शरदि**=चालीसवें वर्ष में भी मनुष्य में **अन्वविन्दत्**=पीछा करते हुए पाता है—'चालीसवें वर्ष में भी मनुष्य इससे ऊपर नहीं उठ पाया है' ऐसा देखता है और **ओजायमानम्**=अत्यन्त ओजस्वी की तरह आचरण करते हुए **शयानम्**=हमारे अन्दर ही निवास करनेवाले **दानुम्**=हमारा खण्डन व विनाश करनेवाले **अहिम्**=इस अशुभ वृत्तिरूप सर्प को **जघान**=नष्ट करता है। ईर्ष्या एक सर्पिणी है, जो अपने विष से हमें जलाती रहती है 'ईर्ष्यालोर्मृतं मनः'। २. **यः**=जो यह हमारी ईर्ष्यावृत्ति को नष्ट करनेवाला है, **जनासः**=हे लोगो! **सः इन्द्रः**=वही परमैश्वर्यशाली प्रभु है। प्रभुस्मरण से मनुष्य इन भौतिक प्रलोभनों में फंसने से बचता है। भौतिक प्रलोभन ही नहीं रहे तो ईर्ष्या का प्रश्न ही जाता रहता है।

भावार्थ—ईर्ष्या से ऊपर उठना बड़ा कठिन है। प्रभुस्मरण ही हमें इससे ऊपर उठाता है। ईर्ष्या से दूर करके प्रभु हमें फिर से शान्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान्' (रौहिणासुर वध)

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

१. **यः**=जो **सप्तरश्मिः**=सर्पणशील ज्ञान के प्रकाशवाले हैं अथवा सात छन्दों में होनेवाली ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं। **वृषभः**=इन ज्ञानरश्मियों द्वारा हमारे ऊपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **तुविष्मान्**=अत्यन्त प्रबुद्ध बलवाले हैं। जो **सप्त सिन्धून्**=सात प्रवाहों में चलनेवाले इन ज्ञानसमुद्रों को **सर्तवे**=सम्यक् गति के लिए **अवासृजत्**=हमारे जीवनों में कामादि के आवरण से मुक्त करते हैं। २. **यः**=जो **रौहिणम्**=निरन्तर ऊपर और ऊपर उठनेवाले और अन्ततः **द्याम् आरोहन्तम्**=द्युलोक तक पहुँचनेवाले—सीमा से अधिक बढ़ जानेवाले इस लोभ को **वज्रबाहुः**=हाथ में वज्र लेकर वध कर डालते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभु हैं। लोभ बढ़ता

ही चलता है, इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। यह लोभ द्युलोक तक जा पहुँचता है, अर्थात् बहुत अधिक बढ़ जाता है। प्रभुस्मरण ही इसे विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु 'सप्तरश्मि-वृषभ व तुविष्मान्' हैं प्रभु ही हमारे लोभ रूप शत्रु का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वज्रहस्त' प्रभु

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ १३ ॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **द्यावा पृथिवी चित्**=द्युलोक व पृथिवीलोक भी निश्चय से **नमेते**=नमन करते हैं, अर्थात् इसके शासन में चलते हैं। **अस्य शुष्मात्**=इसके शत्रुशोषक बल से **पर्वताः चित्**=पर्वत भी **भयन्ते**=भयभीत होते हैं, अर्थात् दृढ़ से दृढ़ पर्वत को भी विदीर्ण करने में वे प्रभु समर्थ हैं। २. **यः**=जो **सोम-पाः**=इस उत्पन्न जगत् के रक्षक हैं। **नि-चितः**=(चिकेति=to observe, see, perceive) निश्चय से सर्वद्रष्टा हैं। **वज्रबाहुः**=वज्रसदृश बाहुवाले हैं—कभी न थकनेवाले हैं—अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। **यः**=जो **वज्रहस्तः**=अशुभमार्ग पर जानेवालों के लिए हाथ में वज्र को लिये हुए हैं, अर्थात् पापियों को दण्डित करनेवाले हैं। **जनासः**=लोगो! **स इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' नामवाले हैं।

भावार्थ—अनन्तशक्तिसम्पन्न वे प्रभु हैं। वे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं। पापियों को दण्ड देनेवाले वे ही हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-रक्षण का पात्र कौन? रक्षणीय व रक्षणसाधन

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥

१. **यः**=जो **सुन्वन्तम्**=सोम का अभिषव करनेवाले का **अवति**=रक्षण करता है। सोमशक्ति का अपने अन्दर सम्पादन करनेवाला पुरुष 'सुन्वन्' है। प्रभु इसका रक्षण करते हैं। **यः**=जो **पचन्तम्**=आचार्य के समीप रहकर अपने को तपस्या व ज्ञान की अग्नि में परिपक्व करता है, प्रभु उसका रक्षण करते हैं। २. **यः**=जो **शंसन्तम्**=सदा प्रभु का शंसन—गुणस्मरण करनेवाले का रक्षण करता है और **शशमानम्**=प्लुतगति से—स्फूर्ति से—क्रियाओं में प्रवृत्त होनेवाले को **ऊती**= रक्षण क्रिया से प्राप्त होता है। ३. **यस्य**=जिसका दिया हुआ **ब्रह्म वर्धनम्**=ज्ञानवर्धन हमारी वृद्धि का कारण होता है और **यस्य**=जिसका यह **सोमः**=सोम—शरीर में रसादि क्रम से उत्पन्न किया गया सोम—हमारी सब वृद्धियों का कारण बनता है और **यस्य**=जिसका **इदम्**=यह सब **राधः**=हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाला यह ऐश्वर्य है। हे **जनासः**=लोगो! **स इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षण 'सुन्वन्, पचन्, शंसन् व शशमान' को प्राप्त होता है। इस रक्षण के लिए प्रभु हमें 'ब्रह्म, सोम व राधः (ऐश्वर्य)' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शक्तिप्रदाता' प्रभु

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥ १५॥

१. **यः**=जो **दुध्रः**=दुर्धर्ष व अजेय प्रभु **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाले के लिए तथा **पचते**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले के लिए **चित्**=निश्चय से **वाजम्**=शक्ति को **आदर्दर्षि**=ख़ूब ही प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे आप **किल**=निश्चय से **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्—सर्वशक्तिमान् प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपके **विश्वह**=सदा **प्रियासः**=प्रिय हों और **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथम्**=ज्ञान का **आवदेम**=सर्वत्र प्रचार करें। ज्ञान की वाणियों को ही परस्पर बोलनेवाले हों।

भावार्थ—'सुन्वन्' व 'पचन्' बनकर हम प्रभु से शक्ति को प्राप्त करें। वीर बनकर प्रभु के प्रिय हों। सदा ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु का भिन्न-भिन्न रूपों में स्तवन करता है। 'इन्द्र' का स्वरूप अत्यन्त सुन्दरता से प्रतिपादित हुआ है। अगले सूक्त के ऋषि देवता भी क्रमशः गृत्समद व इन्द्र ही हैं—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानामृत

ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि मक्षू जात आविशद्यासु वर्धते।
तदाहना अभवत्पिप्युषी पयोंऽशोः पीयूषं प्रथमं तदुक्थ्यम्॥ १॥

१. **ऋतुः**=(ऋतु Light, splendour) ज्ञान का प्रकाश **अपः**=कर्मों का **जनित्री**=उत्पादक है। यह ऋतु—यह ज्ञानज्योति—मानो माता है और कर्म उसकी सन्तान हैं। **तस्याः**=उस ज्ञानज्योति से **मक्षू**=शीघ्र **परिजातः**=सब प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ ज्ञानी **आविशत्**=प्रभु में प्रवेश को प्राप्त करता है। ये ज्ञान-ज्योतियाँ वे हैं **यासु**=जिनके होने पर **वर्धते**=वृद्धि को प्राप्त करता है। २. **तद्**=सो यह ज्ञानज्योति **आहनाः**=आहन्तव्य (हन् गतौ) प्राप्तव्य होती है। यह **पिप्युषी अभवत्**=सब तरह से हमारा आप्यायन (वर्धन) करती हुई होती है। **अंशोः**=(अंशु Ray of light) ज्ञानकिरणों का **पयः**=दुग्ध **प्रथमं पीयूषम्**=सर्वोत्कृष्ट अमृत है—**तद्**=वह अमृत ही **उक्थ्यम्**=अति प्रशंसनीय है।

भावार्थ—ज्ञान सर्वोत्कृष्ट अमृत है। इसका पान हमारा वर्धन करता है। इससे उत्पन्न कर्म हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम गृहस्थ

सध्रीमा यन्ति परि बिभ्रतीः पयो विश्वप्न्याय प्र भरन्त भोजनम्।
समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो ज्ञानी पुरुष होते हैं, वे **सध्रीम्**=(सह=सध्रि) मिलकर चलने की वृत्तिको **आयन्ति**=प्राप्त होते हैं। इस प्रकार मिलकर चलनेवाली प्रजाएँ **पयः परिबिभ्रतीः**=आप्यायन को धारण करती हैं—वृद्धि को प्राप्त होती हैं। **विश्वप्न्याय**=(प्सानं=Food) सबके खाने के

लिए **भोजनम्**=भोजन को **प्रभरन्त**=प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार मिलकर चलनेवाली इन प्रज्ञाओं का **अध्वा समानः**=मार्ग समान है—घर में ये एक उद्देश्य से प्रेरित होकर चलती हैं। **प्रवताम्**=(प्रवणवताम्) निम्न मार्ग से—नम्रता के मार्ग से चलनेवालों का यही मार्ग **अनुष्यदे**=गति के लिए होता है। ये प्रजाएँ (क) मिलकर चलती हैं (ख) वृद्धि को धारण करती हैं (ग) सबके लिए भोजन को प्राप्त कराती हैं। (घ) एक उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। हे प्रभो! **यः**=जो आप **ता प्रथमं आकृणोः**=उन सब कार्यों को सबसे पहले करते हैं, **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः असि**=स्तुति योग्य हैं।

भावार्थ—जिन पर प्रभुकृपा होती है वे (१) मिलकर चलते हैं (२) वृद्धि को प्राप्त करते हैं (३) सबके लिए भोजनों को देते हैं (४) नम्रतापूर्वक समान मार्ग पर आक्रमण करते हैं।

सूचना—सबके लिए भोजनों को प्राप्त कराने के लिए वे पञ्चयज्ञ को अपनाते हैं। 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ व बलिवैश्वदेवयज्ञ' को करते हुए ये सबके साथ बाँट कर भोजन को करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवनयात्रा

अन्वेको॑ वदति॒ यद् ददा॑ति॒ तद्रू॒पा मि॒नन्तद॑पा॒ एक॑ ईयते।
विश्वा॒ एक॑स्य वि॒नुद॑स्तितिक्षते॒ यस्ताकृ॑णोः प्रथ॒मं सास्यु॒क्थ्यः॑ ॥ ३ ॥

१. जीवन के प्रथमाश्रम में **एकः**=एक ब्रह्मचारी उस पाठ को **अनुवदति**=पीछे बोलता है, **यद् ददाति**=जिसे कि आचार्य देता है। ज्ञानप्राप्ति का क्रम यही होता है कि आचार्य बोलता है और विद्यार्थी उसके पीछे उच्चारण करता है। २. अब ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके **एकः**=एक गृहस्थ **तद्रूपा**=उन-उन रूपों का—घर की आवश्यक सामग्रियों का (रूप Any visible object) **मिनन्**=निर्माण करता हुआ (to erect, to build) **तद् अपाः**=घर के निर्माण रूप कर्म में ही लगा हुआ **ईयते**=गति करता है। गृहस्थ घर को अच्छे से अच्छा बनाने का यत्न करता है ३. अब गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ व संन्यस्त होता हुआ यह **एकस्य**=उस अद्वितीय प्रभु की **विश्वाः**=सब **विनुदः**=प्रेरणाओं को **तितिक्षते**=सहन करता है—बड़ी तपस्या के साथ प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार ही सब कार्यों को करता है। हे प्रभो! **यः**=जो आप **ता**=इन सब कर्मों को **प्रथमं आकृणोः**=सर्वप्रथम करते हैं **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः असि**=प्रशंसनीय हैं। प्रभुकृपा से ही प्रजाओं का जीवन ऐसा बनता है

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम ज्ञान प्राप्त करें। गृहस्थ में घर को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। अब वनस्थ व संन्यस्त होकर प्रभुप्रेरणा के अनुसार जीवन में आगे बढ़ने का यत्न करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रजाहितकारी राजा

प्र॒जाभ्यः॑ पु॒ष्टिं वि॒भज॑न्त आसते र॒यिमि॑व पृ॒ष्ठं प्र॒भव॑न्तमाय॒ते।
असि॑न्व॒न्दंष्ट्रैः॑ पि॒तुर॑त्ति॒ भोज॑नं॒ यस्ताकृ॑णोः प्रथ॒मं सास्यु॒क्थ्यः॑ ॥ ४ ॥

१. उत्तम राजा **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **पुष्टिम्**=सम्पूर्ण धनों को (Possessions) **विभजन्तः**=बाँटते हुए **आसते**=राष्ट्र के सिंहासन पर बैठते हैं। ये प्रजाओं से कर आदि के रूप में प्राप्त धनों को प्रजाहित के लिए व्ययित करनेवाले होते हैं। ये उसी प्रकार प्रजाओं के लिए धनों को देते हैं **इव**=जैसे कि **आयते**=आनेवाले अतिथि के लिए **पृष्ठम्**=माँगे हुए (asked)

प्रभवन्तम्=कार्यपूर्ति के लिए समर्थ (पर्याप्त) धन दिया जाता है। २. यह प्रजापालक राजा **असिन्वन्**=किसी भी वस्तु को अपना बन्धन न बनाता हुआ **दंष्ट्रैः**=अपने दाँतों से **पितुः**=(द्यौष्पिता) पितृरूप द्युलोक के **भोजनम्**=भोजन को **अत्ति**=खाता है। द्युलोक से वृष्टि द्वारा पृथिवी में उत्पन्न हुए अन्नादि का ही यह सेवन करता है। इसी से यह क्रूर व अत्याचारी न होकर प्रजाओं को अपने पुत्रवत् पालने की प्रवृत्तिवाला बनता है। हे प्रभो! **यः**=जो आप **ता**=इन प्रजापालनादिरूप कर्मों को **प्रथमं आकृणोः**=सर्वप्रथम करते हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः असि**=प्रशंसनीय हैं। प्रभुकृपा से ही राजा उत्कृष्ट गुणों से युक्त बना करता है।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि प्रजाओं से प्राप्त धन को प्रजाहित में ही विनियुक्त करे। सदा वानस्पतिक भोजन का सेवन करे ताकि क्रूरवृत्ति न हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दर्शनीय प्रकाशमय जीवन

अधाकृणोः पृथिवीं संदृशे दिवे यो धौतीनामहिहन्नारिणक्पथः।
तं त्वा स्तोमेभिरुदभिर्न वाजिनं देवं देवा अजनन्त्सास्युक्थ्यः ॥ ५ ॥

१. हे **अहिहन्**=वासना रूप 'अहि' वृत्र का विनाश करनेवाले प्रभो! **यः**=जो आप **धौतीनाम्** (धाव् गतिशुद्ध्योः)=जीवन को शुद्ध बनानेवाले ज्ञानप्रवाहों के **पथः**=मार्गों को **आरिणक्**=वासनारूप विघ्नों से खाली कर देते हैं और इस प्रकार ज्ञानप्रवाहों को ठीक से गतिमय करते हैं, वे आप **अध**='अहि' का विनाश करने के बाद **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **संदृशे**=देखने योग्य, दर्शनीय व सुन्दर बनाते हैं और **दिवे आकृणोः**=प्रकाशमय करते हैं। २. **तं देवं त्वा**=उन प्रकाशमय आपको **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **स्तोमेभिः**=स्तुतियों द्वारा **अजनन्**=अपने में प्रकट करते हैं। उसी प्रकार आपको अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं, **न**=जैसे कि **उदभिः**=जलों अर्थात् रेतःकणों से (आपः रेतः) **वाजिनम्**=अपने को शक्तिशाली बनाते हैं। वस्तुतः ज्ञानप्रवाहों के ठीक चलने पर ये वासनाओं को दग्ध करके अपने में शक्ति का रक्षण करते हैं। शक्तिरक्षण से शक्तिशाली बनकर ये आपके दर्शनों के अधिकारी होते हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः असि**=स्तुति के योग्य हैं। आपकी कृपा से ही वासना का विनाश होकर ज्ञानप्रवाहों का ठीक से चलना होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से वासना का विनाश होकर ज्ञान दीप्ति होती है और हमारा जीवन दर्शनीय व प्रकाशमय बनता है। इसीलिए देववृत्ति के पुरुष स्तवन द्वारा प्रभुदर्शन के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वेश प्रभु

यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद्दुदोहिथ।
स शेवधिं नि दधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो आप **भोजनं च दयसे**=शरीरपालन के लिए पर्याप्त भोजन देते हैं, **वर्धनं च**=और सब प्रकार से शक्तियों की वृद्धि प्राप्त कराते हैं २. **आर्द्रात्**=एकदम गीले काण्ड (तने) से **आशुष्कम्**=एकदम शुष्क व्रीहि (चावल) आदि को, **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त रूप में **दुदोहिथ**=प्रपूरित करते हैं (दुह् प्रपूरणे)। काण्ड गीला होता है—फल के रूप में प्राप्त होनेवाला 'व्रीहि' शुष्क। ये भी वस्तुतः प्रभु की सृष्टि का वैचित्र्य ही है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि सर्वव्यापक व गतिशून्य आकाश से सदागति वायु की उत्पत्ति होती है

'गतिशून्य से गतिवाला होना' यह प्रथम आश्चर्य है। द्वितीय आश्चर्य यह कि नीरूप वायु से रूपवाली अग्नि की उत्पत्ति है। तीसरी बात यह है कि इस उष्ण अग्नि से शीत जल का निर्माण होता है और अन्ततः इस आर्द्र जल से शुष्क भूमि का सम्भव होता है। ३. **सः**=वे आप **विवस्वति**=इस किरणोंवाले सूर्य में **शेवधिम्**=प्राणशक्ति के कोश को **निदधिषे**=स्थापित करते हैं 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। वस्तुतः **एकः**=अद्वितीय आप ही **विश्वस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **ईशिषे**=ईश हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=प्रशंसनीय **असि**=हैं। आपके स्तवन से ही हम पापों से बचकर शुभमार्ग पर चलने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सबको भोजन व वर्धन प्राप्त कराते हैं। अद्भुत वैचित्र्योंवाली सृष्टि का निर्माण करते हैं। सूर्यकिरणों में प्राणशक्ति को स्थापित करते हैं। सबके ईश हैं—स्तुत्य हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वनिर्माता प्रभु

यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाधि दाने व्यवनीरधारयः।
यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुरूर्वाँ अभितः सास्युक्थ्यः ॥ ७ ॥

१. **यः**=जो आप **पुष्पिणीः च**=फूलोंवाली **प्रस्वः च**=और फलोंवाली **वि अवनीः**=विशेषरूप से हमारे जीवनों का रक्षण करनेवाली ओषधियों—लताओं को **दाने**=(दाप् लवने) जिनमें इन ओषधियों का परिपाक होने पर लवन किया जाता है—उन क्षेत्रों में **अधि अधारयः**=आधिक्येन धारण करते हैं। २. **यः च**=और जो आप **दिवः**=सूर्य की **असमाः**=सात किरणों से प्रकट होनेवाली भिन्न-भिन्न **दिद्युतः**=ज्योतियों को **अजनः**=प्रकट करते हैं। सूर्य की सम्पूर्ण किरणों में सात प्रकार के प्राणदायी तत्त्व हैं—इन सब प्राणदायी तत्त्वों का शरीर में भिन्न-भिन्न कार्य है, वस्तुतः इन किरणों से ही सात प्रकार के विटामिन्स ओषधियों में स्थापित किये जाते हैं। गोदुग्ध आदि में भी इन विटामिन्स की स्थापना इन किरणों से ही होती है। ३. हे प्रभो! **उरुः**=आप विशाल हैं और **अभितः**=सब ओर **ऊर्वान्**=विशाल लोकों का निर्माण करनेवाले हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=प्रशंसनीय व स्तुत्य **असि**=हैं।

भावार्थ—प्रभु ही फूल-फलवाली लताओं को क्षेत्रों में धारण करते हैं। वे ही सूर्यकिरणों में विविध प्राणदायी तत्त्वों को स्थापित करते हैं। विशाल लोकों का सब ओर निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहवसु 'नार्मर' का विनाश

यो नार्मरं सहवसुं निहन्तवे पृक्षाय च दासवेशाय चावहः।
ऊर्जयन्त्या अपरिविष्टमास्यमुतैवाद्य पुरुकृत्सास्युक्थ्यः ॥ ८ ॥

१. हमारे जीवन में कामदेव अपने सुन्दर रूप से युक्त हुए आते हैं, विषयरूप शतशः वसुओं को हमारे लिए भेंट रूप में उपस्थित करते हैं। जब हम उन भेंटों को देख रहे होते हैं तो ये अपने पुष्पनिर्मित धनुष व पञ्चवाणों से हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर प्रहार करके हमें मूर्छित कर देते हैं और समाप्त कर देते हैं इसीलिए 'काम' का नाम 'मदन, मन्मथ व मार' हो गया है। इस **यः नार्मरम्**=जो मनुष्यों को मार डालनेवाले **सहवसुम्**=सब वसुओं के साथ उपस्थित हुए कामदेव को **निहन्तवे**=मारने के लिए **अद्य एव**=आज ही **ऊर्जयन्त्याः**=अत्यन्त शक्तिशालिनी वज्रधारा के **अपरिविष्टम्**=यज्ञों से अव्याप्त **आस्यम्**=मुख को **अवहः**=प्राप्त कराता है। इस वज्रधारा की चमकती हुई धार पर पड़कर काम का कृन्तन हो जाता है। क्रियाशीलता ही वस्तुतः यह वज्रधारा

है। सदा क्रियाशील बने रहकर हम कामदेव के शिकार नहीं होते। २. इस प्रकार हे प्रभो! आप ही हमारे **पृक्षाय**=हविर्लक्षण अन्नप्राप्ति के लिए तथा **दासवेशाय**=दस्युओं के—दास्यव-प्रवृत्तियों के विनाश के लिए—**पुरुकृत्**=इस पालनात्मक व पूरणात्मक कर्म को करते हैं। 'काम' के विनष्ट होने पर हम संसार के विषयों में नहीं फंसते और सदा त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनते हैं—यही हवि का ग्रहण है। हमारी सब अशुभ वृत्तियों का विनाश हो जाता है। (दासवेशाय-दस्यूनां विनाशाय सा०)। इस महत्त्वपूर्ण कर्म को करनेवाले **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः**=स्तुति के योग्य **असि**=हैं।

भावार्थ—निर्मल कर्मों में लगे रहना ही 'काम' को जीतने का उपाय है। इस विजय के होने पर हम सदा त्यागपूर्वक अदन करते हैं और दास्यव वृत्तियों से ऊपर उठे रहते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'आद्य-सुप्राव्य' प्रभु

शतं वा यस्य दश साकमाद्य एकस्य श्रुष्टौ यद्ध चोदमाविथ।
अरज्जौ दस्यून्त्समुनब्दभीतये सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यः ॥ ९ ॥

१. **यस्य**=जिन **एकस्य**=अद्वितीय आपके **श्रुष्टौ**=(Hearing; help; assistance) निर्देशों के श्रवण में **वा**=निश्चय से **दश**=पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूप अश्व **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **साकम्**=हमारे साथ रहते हैं अर्थात् पूर्ण आयुष्य पर्यन्त क्षीणशक्ति नहीं होते। **यत् ह**=और जो निश्चय से **चोदम्**=आपकी प्रेरणा प्राप्त करनेवाले को **आविथ**=आप रक्षित करते हो। २. **दभीतये**=वासनाओं का संहार करनेवाले के लिए आप **अरज्जौ**=रज्जु के अभाव में भी **दस्यून्**=दास्यव-वृत्तियों को **समुनब्**=हिंसित करते हैं। 'दभीति' आपकी सहायता से ही इन दस्युओं का नाश हो पाता है। वस्तुतः **अभवः**=आप ही सबके उपजीव्य हैं—आपके आधार से ही सब जीते हैं। **सुप्राव्यः**=आप ही रक्षण करनेवालों में उत्तम हैं। **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः असि**=स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभु के निर्देश में चलने पर सब इन्द्रियशक्तियाँ आजीवन ठीक बनी रहती हैं। वे प्रभु ही सबको जिलाते हैं व रक्षित करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'परि-पर' प्रभु

विश्वेदनु रोधना अस्य पौंस्यं ददुरस्मै दधिरे कृत्नवे धनम्।
षळस्तभ्ना विष्टिरः पञ्च संदृशः परि परो अभवः सास्युक्थ्यः ॥ १० ॥

१. 'रोधना' शब्द चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा शरीर में शक्ति के संयम के लिए प्रयुक्त होता है। **विश्वा रोधनाः**=सब चित्तवृत्तियों के निरोध **अनु**=अनुसार **इत्**=निश्चय से **अस्य**=इस साधक के लिए **पौंस्यं ददुः**=शक्ति को प्राप्त कराते हैं। **अस्मै कृत्नवे**=इस कर्मशील के लिए **धनं दधिरे**=धन को धारण करते हैं। चित्तवृत्ति के निरोध से यह शक्ति को प्राप्त करता है और क्रियाशीलता से धन का अर्जन करनेवाला होता है। २. शक्ति और धन को प्राप्त करके आन्तर व बाह्य चिन्ताओं से मुक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **विष्टिरः**=विशिष्ट विस्तारवाली—प्रबुद्ध शक्तिवाली **षट्**=मनःषष्ठ पाँच ज्ञानेन्द्रियों को **अस्तभ्नाः**=थामता है—इनको विषयों में जाने से रोकता है। विषयों में जाने से इन्हें रोककर यह साधक **पञ्च संदृशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेवाला बनता है। हे प्रभो! आप इस व्यक्ति के **परिपरः**=सर्वथा पारयिता **अभवः**=होते हैं। इसे संसार समुद्र में डूबने से बचाते हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=स्तुति के योग्य—प्रशंसनीय

असि=हैं।

भावार्थ—संयम से शक्ति तथा क्रियाशीलता से धन का हम अर्जन करें। इन्द्रियों व मन का विरोध करके भवसागर से पार हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'जातूष्ठिर' का उत्कृष्ट जीवन

सुप्रवाचनं तव वीर वीर्यं१ यदेकेन क्रतुना विन्दसे वसु।
जातूष्ठिरस्य प्र वयः सहस्वतो या चकर्थ सेन्द्र विश्वास्युक्थ्यः ॥ ११ ॥

१. हे **वीर**=गतमन्त्र के अनुसार संयम द्वारा शक्तिशाली बननेवाले पुरुष! **तव वीर्यम्**=तेरी वह शक्ति **सुप्रवाचनम्**=उत्तमता से श्लाघनीय होती है, **यत्**=जो तू **एकेन क्रतुना**=अद्वितीय पुरुषार्थ से **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **विन्दसे**=प्राप्त करता है। २. **जातु+स्थिरस्य**=कभी भी, अर्थात् हर समय स्थिरवृत्ति के **सहस्वतः**=बलशाली पुरुष का **प्रवयः**=प्रकृष्ट जीवन होता है। चित्तवृत्ति के न भटकने से शक्ति का वर्धन होता है, शक्ति के बने रहने पर जीवन उत्तम होता है। ३. हे **इन्द्र**=शक्तिशालिन् प्रभो! **या विश्वा चकर्थ**=जो ये सब कर्म आप करते हो **सः**=वे आप **उक्थ्यः असि**=स्तुति के योग्य हो।

भावार्थ—साधक को शक्ति प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती है। प्रभु ही स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्याणकारी प्रभु

अरमयः सरपसस्तराय कं तुर्वीतये च वय्याय च स्रुतिम्।
नीचा सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रवयन्त्सास्युक्थ्यः ॥ १२ ॥

१. 'रप् व्यक्तायां वाचि' धातु से 'स-रपस्' शब्द बना है—प्रभु के गुणों का व्यक्तोच्चारण करनेवाला। **स-रपसः**=प्रभुस्तवन करनेवालों को **तराय**=संसार-सागर से तराने के लिए **अरमयः**=आप क्रीड़ा कराते हैं। उन्हें सब कर्मों को एक क्रीड़क की मनोवृत्ति से करने की शक्ति देते हैं। इस प्रकार कर्मों को करते हुए वे भवसागर से तैर जाते हैं। २. **तुर्वीतये**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले के लिए तथा **वय्याय**=कर्मतन्तु का सन्तान (=विस्तार) करनेवाले के लिए आप **स्रुतिम्**=मार्ग को **कम्**=सुखप्रद करते हैं। तुर्वीति और वय्य बनकर मनुष्य जीवन में उस मार्ग से चलता है जो उसके लिए सुखप्रद होता है। ३. **नीचा सन्तम्**=कितनी भी नीची स्थिति में होते हुए **परावृजम्**=पाप का सुदूर वर्जन करनेवाले को **उद् आनयः**=आप उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कराते हो। **प्रान्धम्**=एकदम दृष्टिशक्ति से हीन तथा **श्रोणम्**=पंगु को भी दृष्टिशक्ति देकर तथा अपंगु बनाकर **श्रवयत्**=आप कीर्तिमान् करते हो। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो।

भावार्थ—स्तोता को आप भवसागर से तराते हो। तुर्वीति व वय्य को कल्याणप्रद मार्ग प्राप्त कराते हो। पापवर्जक को उन्नत करते हो। अन्धे को दृष्टि देते हो और पंगु को अपंगु बनाते हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानार्थ धन

अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १३ ॥

१. हे **वसो**=सम्पूर्ण वसुओं के स्वामिन्! इन वसुओं द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **तद् राधः**=उस धन को—कार्यसाधक धनों को **दानाय**=दान देने के लिए **समर्थयस्व**=(to make ready, prepare; approve) तैयार कीजिए अथवा स्वीकार कीजिए। **ते**=आपका **वसव्यम्**=धन **बहु**=बहुत है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् चित्रम्**=जो आपका अद्भुत धन है, उसे **श्रवस्याः**=हमारे यश व त्याग के लिए चाहिए। (to long for glory or a sacrifice) आपसे हमें धन प्राप्त हो और हम उस धन का इस प्रकार यज्ञों में विनियोग करें कि हमारा यश बढ़े। ३. हे प्रभो! हम **सुवीराः**=धनों के उत्तम विनियोग से वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **अनु द्यून्**=प्रतिदिन **बृहद् वदेम**=ख़ूब ही आपके गुणों का उच्चारण करें। आपका स्मरण करते हुए ही हम धनों का सद्व्यय करेंगे और उन्हें केवल भोगवृद्धि और परिणामतः रोगवृद्धि का कारण न बनने देंगे।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हो। हम उसका सद्व्यय करते हुए यशस्वी हों। इसके लिए सदा प्रभु का स्मरण करें।

सूक्त का सार यह है कि प्रभु ही सम्पूर्ण संसार के निर्माता हैं और उनकी कृपा से ही हमारा जीवन भी सुन्दर बनता है। वे ही हमें आवश्यक धनों को देते हैं और उनकी कृपा से ही इन धनों को हम केवल भोगवृद्धि का साधन नहीं बनने देते। प्रभु ही हमारी वासनाओं का पराजय करते हैं। अगले सूक्त में यह विषय इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि वासनाओं को जीतकर हम 'अध्वर्यु' बनते हैं। हमारी सब इन्द्रियाँ व मन हिंसारहित कर्मों व यज्ञों में लगे हुए सचमुच 'अध्वर्यवः' कहलाने योग्य होते हैं। प्रस्तुत सूक्त के ग्यारह मन्त्रों का प्रारम्भ इस 'अध्वर्यवः' शब्द से ही होता है। दस इन्द्रियाँ व ग्यारहवाँ मन ये सब ही 'अध्वर्यवः' हैं। इनसे कहते हैं कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का सर्वप्रथम आदेश

अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः।
कामी हि वीरः सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि॥ १॥

१. **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! तुम **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोमशक्ति का—वीर्य का **भरत**=शरीर में भरण करो। **अमत्रेभिः**=इन शरीर रूप चमसों के हेतु से (चमस=अमत्र) 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस मन्त्र में शरीर को चमस कहा गया है। **मद्यम्**=इस हर्ष के जनक **अन्धः**=सोमरूप अन्न को **आसिञ्चत**=शरीर में सिक्त करो। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोमरूप अन्न नीरोगता का जनक होकर आनन्दवृद्धि का हेतु होता है। २. इसलिए **वीरः**=वीर पुरुष **सदम्**=सदा **अस्य पीतिं कामी**=इस सोमपान की कामनावाला होता है। उस **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षण करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **जुहोत**=इस सोम की शरीर में ही जीवनयज्ञ के सम्यक् संचालन के लिए आहुति दो। वस्तुतः **एषः**=ये प्रभु **तद् इत्**=केवल इस ही बात को **वष्टि**=चाहते हैं। प्रभु का मौलिक उपदेश यही है कि इस शरीर में उत्पन्न सोम का शरीर में ही सेचन व व्यापन करो।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। यह हमारे शरीरों को नीरोग बनाएगा। हमें प्रसन्नता प्राप्त कराएगा। हम प्रभु को प्राप्त करेंगे। प्रभु का सर्वप्रथम आदेश यही है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्रं जघान

अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघानाशन्येव वृक्षम्।
तस्मा एतं भरत तद्वशायँ एष इन्द्रो अर्हति पीतिमस्य॥ २॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **अपः वव्रिवांसम्**=हमारे सब कर्मों व शक्तियों को (आपः=कर्म व रेतः) आवृत करके स्थित हुए **वृत्रम्**='काम' को उसी प्रकार **जघान**=नष्ट करते हैं **इव**=जैसे **अशन्या वृक्षम्**=विद्युत् से वृक्ष को। **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **एतम्**=इस सोम को शरीर में **भरत**=धारण करो। **तद्वशायम्**=यह प्रभु हमारे से यही चाहते हैं 'तद्वशायम्' इस मूल पाठ के अनुसार यहाँ 'अयं तद्वशा' ऐसा सन्धिच्छेद करके अर्थ किया गया है। सायण भाष्य में 'तद्वशाय' यह लिखकर 'सोमकामाय' यह अर्थ किया है। उससे यह चतुर्थ्यन्त शब्द प्रतीत होता है। भाव में अन्तर नहीं है। २. प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करके हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम सोम का रक्षण कर सकें। इसलिए **एषः इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य पीतिम् अर्हति**=इस सोमपान व रक्षण के योग्य है। 'इन्द्र' के लिए यही उचित है कि इस सोम का पान करे और अपने को प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाए।

भावार्थ—'वृत्र' (कामवासना) हमारी शक्ति का विनाशक है उसका विनाश करके हम शक्तिरक्षण करें और प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृभीकं जघान

अध्वर्यवो यो दृभीकं जघान यो गा उदाजदप हि वलं वः।
तस्मा एतमन्तरिक्षे न वातमिन्द्रं सोमैरोर्णुत जूर्न वस्त्रैः॥ ३॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु तुम्हारे लिए इस **दृभीकम्**=दृभीक को—(विदारयति, भियं करोति) शक्तियों का विदारण करनेवाले और अतएव भयजनक वासनारूप शत्रु को—**जघान**=नष्ट करते हैं। इस वासनारूप शत्रु को नष्ट करके **यः**=जो **गाः**=इन्द्रियरूप गौवों को **उदाजत्**=उत्कृष्ट मार्ग पर गतिवाला करते हैं और **हि**=निश्चय से इस **वलम्**=ज्ञान के आवरणभूत (Veil) वलासुर को **अप वः**=(अपावृणोत्) हिंसित करते हैं। **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **एतं इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **सोमैः**=सोमकणों से **आ ऊर्णुत**=सम्यक् आच्छादित करो। २. प्रभुप्राप्ति के लिए मार्ग यही है कि हम वासना को जीत कर सोम को शरीर में सुरक्षित करें। वस्तुतः शरीर को सोमकणों से इस प्रकार व्याप्त कर दें **न**=जैसे कि **अन्तरिक्षे वातम्**=अन्तरिक्ष में प्रभु वायु को व्याप्त कर देते हैं। इस प्रकार हम सोम से अपने को आच्छादित करें **न**=जैसे कि **जूः**=एक जीर्ण (वृद्ध) पुरुष **वस्त्रैः**=वस्त्रों से अपने को आच्छादित करता है। ये वस्त्र उसे सर्दी व गर्मी से बचाते हैं, इसी प्रकार सोमकण हमें रोगों का शिकार नहीं होने देते। इसलिए जैसे अन्तरिक्ष में वायु सर्वत्र व्याप्त है, इसी प्रकार सोम हमारे शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो। यह सब होगा तभी जब हम वासना को जीत पाएँगे। वासना को जीतना प्रभुकृपा से होगा। हमारे लिए तो यह वासना दृभीक है—हमारी शक्तियों का विदारण करती हुई बड़ी भयंकर है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी वासना का विनाश होकर सोम का शरीर में ही व्यापन होगा

और हम प्रभुदर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उरणं जघान

अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्।
यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्रं सोमस्य भृथे हिनोत॥ ४॥

१. **अध्वर्यवः**=हे हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **उरणं जघान**=(Sheepish, foolish, diffident) हमारे जीवन में से मूर्खतापूर्ण कायरता को नष्ट कर देते हैं, जो कायरता **नव नवतिं च**=निन्यानवे **बाहून्**=प्रयत्नों को **चख्वाँसम्**=खोद डालती है। जिस मूर्खतापूर्ण कायरता के कारण हम प्रयत्न करने से संकोच करते रहते हैं—कितने ही करने योग्य कर्मों को करते ही नहीं। प्रभु इस कायरता को नष्ट करते हैं और हमें जीवन में आगे बढ़ने योग्य बनाते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **अर्बुदम्**=सूर्य के आवरणभूत मेघ की तरह ज्ञान के आवरणभूत कामवासना रूप मेघ को **नीचा अव बबाधे**=नीचे पीड़ित करते हैं, अर्थात् पाँव तले कुचल देते हैं। **तम् इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सोमस्य भृथे**=सोम का—वीर्यशक्ति का भरण करने पर **हिनोत**=अपने में बढ़ाएँगे। जितना-जितना हम सोम का भरण करते हैं उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते चलते हैं।

भावार्थ—कायरतापूर्ण संकोच नष्ट करके हम आगे बढ़ने के लिए यत्नशील हों। वासना जीतकर सोम का पान करते हुए हम प्रभु का हृदयों में दर्शन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वश्नं जघान

अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम्।
यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां तस्मा इन्द्रायान्धसो जुहोत॥ ५॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **स्वश्नम्**=स्वादिष्ट पदार्थों के खाने की वृत्ति—खाने के चस्के को **जघान**=नष्ट कर देते हैं। **यः**=जो **शुष्णम्**=हमें सुखा डालनेवाले **अशुषम्**=स्वयं न सूखनेवाले 'काम' को नष्ट कर देते हैं। **यः**=जो **व्यंसम्**=(व्यंस्=to deceive, chear) छलकपट को हमारे से दूर करते हैं। २. **यः पिप्रुं**=जो प्रभु अपने ही पेट भरने की वृत्ति को (प्रा पूरणे) नष्ट करते हैं। **नमुचिम्**=अन्त तक पीछा न छोड़नेवाली अहंकार की वृत्ति को दूर करते हैं। **यः**=जो **रुधिक्राम्**=(रुध्=मर्यादा में रोकना, क्रम्-उल्लंघन करना) मर्यादोल्लंघनवृत्ति को नष्ट करते हैं। **तस्मा इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अन्धसः**=इस सोम की **जुहोत**=अपने में आहुति दो। सोमरक्षण करने पर ही प्रभुप्राप्ति सम्भव है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम प्रभुदर्शन के योग्य बनें। वे प्रभु ही 'स्वश्न, शुष्ण, व्यंस, पिप्रु, नमुचि व रुधिक्रा' आदि असुरों का संहार करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईर्ष्या व क्रोध का विनाश

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोममस्मै॥ ६॥

१. **अध्वर्यवः**=हे हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले मन व इन्द्रियो!

यः=जो प्रभु **शंबरस्य**=शान्ति को आवृत कर लेनेवाले 'ईर्ष्या' नामक असुर की **पूर्वीः**=पुरातन—न जाने कब से चली आ रही **शतं पुरः**=सैकड़ों पुरियों को इस प्रकार **बिभेद**=विदीर्ण कर डालते हैं, **इव**=जैसे कि **अश्मना**=वज्र से किसी वस्तु का विदारण कर दिया जाता है। ईर्ष्या आई और मानसशान्ति गई। ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत सा हो जाता है। सैकड़ों रूपों में यह ईर्ष्या प्रकट होती है। प्रभुस्मरण से ही इसका विनाश होता है। २. **यः इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली प्रभु **वर्चिनः**=(वर्च दीप्तौ) चेहरे की तमतमाहट के रूप में प्रकट होनेवाले क्रोधरूप असुर के **शतम्**=सैकड़ों व **सहस्रम्**=हज़ारों आक्रमणों **अपावपद्**=(भूमावपातयत् सा०) भूमि पर गिरा देता है—क्रोध के आक्रमणों को व्यर्थ कर देता है। **अस्मै**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोम को—वीर्यशक्ति को **भरता**=अपने में धारण करो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही ईर्ष्या व क्रोध का विनाश होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कुत्स-आयु-तथा अतिथिग्व के शत्रुओं का नाश

अध्वर्यवो यः शतमा सहस्रं भूम्या उपस्थेऽवपज्जघन्वान्।
कुत्सस्यायोरतिथिग्वस्य वीरान् न्यावृणग्भरता सोममस्मै॥ ७॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **शतम्**=सैकड़ों **सहस्रम्**=व हजारों आसुरभावों को **भूम्याः उपस्थे**=पृथ्वी की गोद में **अवपत्**=(अपातयत्) गिरा देता है, अर्थात् नष्ट कर देता है, वे प्रभु ही **जघन्वान्**=सब शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। २. **कुत्सस्य**=कामादि का संहार करनेवाले 'कुत्स' के **आयोः**=निरन्तर गतिशील और अतएव क्रोध, ईर्ष्या आदि के शिकार न होनेवाले पुरुष के तथा **अतिथिग्वस्य**=अतिथियों के प्रति जानेवाले—उनका सत्कार करनेवाले और अतएव लोभ से ऊपर उठे हुए पुरुष के **वीरान्**=(वि+ईर) प्रबल आक्रमण करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं को **न्यावृणक्**=विनष्ट करते हैं **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **सोमम् भरत**=सोम को—वीर्यशक्ति को अपने में धारण करो। धारित हुए-हुए प्रभु ही कुत्स के काम को नष्ट करते हैं, आपके क्रोध को तथा अतिथिग्व के लोभ को वे समाप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही काम-क्रोध-लोभ को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति व सर्वकामावाप्ति

अध्वर्यवो यन्नरः कामयाध्वे श्रुष्टी वहन्तो नशथा तदिन्द्रे।
गभस्तिपूतं भरत श्रुतायेन्द्राय सोमं यज्यवो जुहोत ॥ ८॥

१. हे **अध्वर्यवः नरः**=यज्ञों को अपने साथ जोड़नेवाले मनुष्यो! **यत् कामयाध्वे**=आप जो कामना करते हो, **तत्**=उसे **इन्द्रे**=प्रभुप्राप्ति के निमित्त **श्रुष्टी**=शीघ्र **वहन्तः**=सोम का धारण करते हुए **नशथाः**=प्राप्त करते हो। प्रभुप्राप्ति से सब कामनाएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। प्रभुप्राप्ति में सर्व काम आप्त हो जाते हैं। २. इसलिए **श्रुताय**=उस प्रसिद्ध ज्ञानपुञ्ज **इन्द्राय**= परमैश्वर्यशाली प्रभुप्राप्ति के लिए **गभस्तिपूतम्**=ज्ञानरश्मियों द्वारा पवित्र किये हुए (ज्ञान होने पर वासना विनष्ट होती है और सोमकण पवित्र बने रहते हैं) **सोमम्**=सोम को **भरत**=शरीर में धारित करो। हे **यज्यवः**=यज्ञशील व्यक्तियो! **जुहोत**=इन सोमकणों की इस शरीर की वैश्वानराग्नि में ही आहुति दो। ये सोमकण शरीर में ही व्याप्त रहें।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति होती है। प्रभुप्राप्ति से सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से कार्यकुशलता

अध्वर्यवः कर्तना श्रुष्टिमस्मै वने निपूतं वन उन्नयध्वम्।
जुषाणो हस्त्यमभि वावशे व इन्द्राय सोमं मदिरं जुहोत॥ ९॥

१. **अध्वर्यवः**=हे हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के करनेवाले लोगो! **अस्मै**=इस प्रभुप्राप्ति के लिए **श्रुष्टिम्**=सुख देनेवाले सोम को **कर्तन**=सम्पादित करो। सोमरक्षण से ही तुम प्रभु को पानेवाले बनोगे। २. **वने**=ज्ञानरश्मियों में **निपूतम्**=निश्चय से पवित्र किये हुए इस सोम को **वने**=इस शरीर रूप गृह में **उन्नयध्वम्**=ऊर्ध्वगतिवाला करो। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करो। ३. **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता हुआ यह सोम **वः**=तुम्हारे **हस्त्यम्**=हस्तकौशल को **अभिवावशे**=नितरां चाहता है, अर्थात् जब तुम सोम को शरीर में सुरक्षित करते हो तो यह सोम तुम्हें कर्मों में कुशल बनाता है। ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता हुआ यह हमारे ज्ञान को बढ़ाता है और ज्ञानी बनकर हम इस प्रकार कुशलता से कर्म करते हैं कि वे कर्म हमारे बन्धन का कारण नहीं बनते। इस प्रकार हम प्रभु को पानेवाले होते हैं। **इन्द्राय**=उस प्रभुप्राप्ति के लिए **मदिरम्**=हर्ष के जनक **सोमम्**=सोम को **जुहोत**=अपने में आहुत करो।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानवृद्धि होकर कर्मों को हम इस प्रकार कुशलता से करते हैं कि वे कर्म हमें बाँधते नहीं और हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम की पोषणशक्ति

अध्वर्यवः पयसोधर्यथा गोः सोमेभिरीं पृणता भोजमिन्द्रम्।
वेदाहमस्य निभृतं म एतद्दित्सन्तं भूयो यजतश्चिकेत॥ १०॥

१. **अध्वर्यवः**=हे यज्ञशील लोगो! **यथा**=जैसे **गोः ऊधः**=गौ के ऊधस् को **पयसा**=दूध से पूरित करते हैं उसी प्रकार इस **भोजम्**=पालन करनेवाले **इन्द्रम्**=प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **सोमेभिः**=सोमों से—सोमकणों से—**पृणता**=पूरित करो। जितना-जितना हम सोम का रक्षण करते हैं उतना-उतना ही प्रभु को प्रीणित करने वाले बनते हैं। २. **अहम्**=मैं **अस्य**=इस सोम के **मे एतत्**=मेरे इस **निभृतम्**=निश्चय से भरण व पोषण रूप कर्म को **वेद**=जानता हूँ। शरीर में धारण किया हुआ सोम निश्चय से हमारा पोषण करता है और हमें रोगादि से बचाता है। ३. **यजतः**=यष्टव्य=उपासना योग्य प्रभु **दित्सन्तम्**=दान की इच्छावाले पुरुष को **भूयः**=खूब **चिकेत**=जानता है, अर्थात् उसका बहुत ही ध्यान करता है। यह दान की वृत्तिवाला पुरुष भोगों में न फंसकर सोमरक्षण करनेवाला होता है और अतएव प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—शरीर में रक्षित सोम शरीर का उचित भरण करता है। '**सोमो रक्षति रक्षितः**'।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

लोकत्रयी की सम्पत्ति

अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।
तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु॥ ११॥

१. **अध्वर्यवः**=हे यज्ञशील पुरुषो! **यः**=जो प्रभु **दिव्यस्य वस्वः**=द्युलोक के धन का **राजा**=राजा है **यः**=जो **पार्थिवस्य**=(पृथिवी अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष के धन का राजा है और जो

क्षम्यस्य=इस पृथिवी के धन का राजा है। शरीर में द्युलोक 'मस्तिष्क' है, इसका धन 'ज्ञान' है। अन्तरिक्ष 'हृदय' है, इसका धन 'श्रद्धा व उपासना' है। पृथिवी 'शरीर' है, इसका धन 'शक्ति व दृढ़ता' है। इस ज्ञान, श्रद्धा व शक्ति को देनेवाले वे प्रभु ही हैं। २. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=प्रभु को **सोमेभिः**=सोमों से इस प्रकार **पृणता**=प्रीणित करो **न**=जैसे **यवेन**=जौ से **ऊर्दरम्**=ऊखल को भरते हैं। हे अध्वर्युवो! **वः**=तुम्हारा **तदपः**=यही मुख्य कर्म **अस्तु**=हो (तत् अपः)। जीव का मौलिक कर्त्तव्य सोमरक्षण ही है। यही उसे सब 'दिव्य-अन्तरिक्ष व पार्थिव' धनों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मस्तिष्क ज्ञानदीप्त होता है, हृदय श्रद्धा से पूर्ण होता है और शरीर शक्तिसम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्य की प्राप्ति

अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १२॥

यह २.१३.१३ पर व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त यज्ञशील बनकर सोमरक्षण से उत्कर्ष को प्राप्त करने व प्रभुदर्शन के योग्य बनने का प्रतिपादन करता है। यह प्रभुदर्शन करनेवाला प्रभुस्तवन करते हुए कह उठता है कि—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् सत्य प्रभु

प्र घा न्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्।
त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्यास्य मदे अहिमिन्द्रो जघान ॥ १॥

१. **घा**=निश्चय से **नु**=अब **अस्य सत्यस्य**=इस सत्यस्वरूप **महतः**=महान् प्रभु के **महानि**=महान् **सत्या**=सत्य **करणानि**=कार्यों का **प्रवोचम्**=शंसन करता हूँ। प्रभु महान् हैं—सत्य हैं। उनके कार्य भी महान् व सत्य हैं। उनका बनाया हुआ यह ब्रह्माण्ड भी महान् व सत्य है। 'इन्द्रः सत्यः सम्राट्'=वे प्रभु सत्य सम्राट् हैं। २. इस प्रकार प्रभु का स्तवन करता हुआ **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **त्रिकद्रुकेषु**='बाल्य, यौवन व स्थविर' तीनों प्रभु के आह्वान कालों—आराधना के समयों में **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **अपिबत्**=पान करता है। प्रभु के स्मरण द्वारा वासनाओं को अपने से दूर रखकर यह सोम का रक्षण कर पाता है। **अस्य मदे**=इस सोम के शरीर में व्याप्त करने के द्वारा उत्पन्न उल्लास में यह जितेन्द्रिय पुरुष **अहिम्**=(आहन्ति) सब शक्तियों का संहार करनेवाली कामवासना को **जघान**=नष्ट करता है।

भावार्थ—सदा प्रभुस्मरण करता हुआ व्यक्ति वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है और सोमरक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य का स्थापन, पृथिवी का धारण

अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ २॥

१. **अवंशे**=अनवलम्बन—आधार रहित आकाश में **द्याम्**=देदीप्यमान सूर्य को **अस्तभायद्**=

वे प्रभु थामते हैं और **रोदसी**=द्यावापृथिवी को तथा **बृहन्तम् अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्षलोक को **आ अपृणत्**=समन्तात् तेज व प्रकाश से पूरित कर देते हैं। २. **स**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **धारयत्**=धारण करते हैं **च**=और **पप्रथत्**=विस्तृत करते हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम के उल्लास में **ता**=उन महत्त्वपूर्ण कार्यों को **चकार**=करते हैं। प्रभु तो सोम के—शक्ति के पुञ्ज हैं। इस शक्ति के कारण ही वे इन कार्यों को कर पाते हैं। एक प्रभु का उपासक भी **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर सोमरक्षण करता हुआ मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्योदय करता है—शरीर, हृदय व मस्तिष्क को प्रकाशमय करता है और पृथिवीरूप शरीर की शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु ही निराधार आकाश प्रदेश में सूर्य की स्थापना करके त्रिलोक को प्रकाश से परिपूर्ण करते हैं और इस विस्तृत पृथिवी को धारण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोकनिर्माण व नदियों का प्रवाहण

सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्।
वृथासृजत्पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ३॥

१. उस प्रभु ने **प्राचः**=(प्र अञ्च्) इन निरन्तर आगे बढ़नेवाले लोकों को **सद्म इव**=घर की भाँति—प्राणियों में स्थित होने के स्थान की तरह **मानैः**=बड़े मानपूर्वक मापकर **विमिमाय**=बनाया है। २. **नदीनाम्**=नदियों के **खानि**=निर्गमन धारों को—मार्गों को **वज्रेण**=वज्र से ही **अतृणत्**=खोद डाला है। इन नदियों के मार्गों को भी बनानेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार इनके मार्गों को बनाकर **दीर्घयाथैः पथिभिः**=दीर्घकाल में गन्तव्य अर्थात् बहुत लम्बे इन मार्गों से **वृथा**=अनायास ही—बिना ही श्रम के **असृजत्**=इन्हें सृष्ट किया है—प्रवाहित किया है। **ता**=उन सब कार्यों को **इन्द्रः**=सर्वशक्तिशाली प्रभु ने **सोमस्य मदे**=शक्ति के उल्लास में **चकार**=किया है।

भावार्थ—प्राणियों के निवासस्थानभूत निरन्तर अग्रगतिवाले लोकों को प्रभु ने बनाया है। प्रभु ने ही मार्गों को बनाकर नदियों को प्रवाहित किया है।

सूचना—'सद्म' शब्द से यह संकेत स्पष्ट है कि सब लोकों में प्राणियों का निवास है। 'प्राचः' शब्द से यह स्पष्ट है कि ये सब लोकों को अन्तरिक्ष में आगे और आगे गति कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु-शस्त्र-विनाश

स प्रवोळ्हून्परिगत्या दभीतेर्विश्वमधागायुधमिद्धे अग्नौ।
सं गोभिरश्वैरसृजद्रथेभिः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ४॥

१. 'दभीति' वह साधक है जो कि काम-क्रोधादि को जीतने में लगा हुआ है, परन्तु ये शत्रु इतने प्रबल हैं कि ये उसे अपने प्रवाह में बहा ही ले जाते हैं। प्रभुकृपा से रक्षित हुआ-हुआ सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और तब उस सुसमिद्ध ज्ञानाग्नि में इन काम-क्रोधादि के सब आयुध भस्म हो जाते हैं। इन आयुधों के भस्म होने पर ही तो जीवन सुन्दर बनेगा। **दभीतेः**=काम-क्रोधादि का हिंसन करनेवाले दभीति को भी **प्रवोढ्रून्**=बहा ले जानेवाले इन काम-क्रोधादि को **परिगत्य**=चारों ओर से घेर कर **इद्धे अग्नौ**=दीप्त ज्ञानाग्नि में **विश्वम् आयुधम्**=इनके सब आयुधों को **अधाक्**=भस्म कर देते हैं, अर्थात् काम-क्रोध आदि को निरस्त्र करके समाप्त कर देते हैं। २. इन शत्रुओं को समाप्त करके **गोभिः**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों से, **अश्वैः**=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों से तथा **रथेभिः**=उत्तम

शरीररूप रथों से **सम् असृजत्**=संसृष्ट करते हैं—युक्त करते हैं। काम-क्रोधादि के समाप्त होने पर इन सबका उत्कृष्ट होना निश्चित ही है। काम-क्रोध ही तो इनकी शक्तियों को क्षीण करते हैं। काम, क्रोध नष्ट हुए और इनकी शक्तियाँ विकसित हो उठती हैं। **ता**=इन सब कार्यों को **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम के, उल्लास के होने पर **चकार**=करते हैं। हमारे जीवनों में सोमरक्षण होने पर ही ये सब बातें होती हैं। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है—दीप्त ज्ञानाग्नि में काम-क्रोध भस्म होते हैं एवं इनके भस्म होने पर सब इन्द्रियाँ व शरीर सशक्त व नीरोग बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक के शत्रुओं के आयुधों को दीप्त ज्ञानाग्नि में भस्म कर देते हैं। इनको समाप्त करके उसे उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शरीर को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रोध-वेग-निरोध

स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्सो अस्नातॄनपारयत्स्वस्ति ।
त उत्स्नाय रयिमभि प्र तस्थुः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **महीम्**=इस प्रबल **धुनिम्**=कम्पित करनेवाले क्रोधरूप शत्रु को **एतोः अरम्णात्**=गति से रोकते हैं, अर्थात् क्रोध को भड़कने नहीं देते। क्रोध आए भी तो प्रभुस्मरण से उसका वेग रुक जाता है। स्तोता क्रोध में बह नहीं जाता। **सः**=वे प्रभु **अस्नातॄन्**=क्रोधनदी में न स्नान करनेवालों को, अर्थात् क्रोध में न बह जानेवालों को **स्वस्ति अपारयत्**=कल्याण से पार लगा देते हैं। क्रोध न करनेवाले अन्ततः इन वासनाओं से ऊपर कल्याण को प्राप्त करते हैं। २. **ते**=वे **उत्स्नाय**=इस क्रोधनदी से पार होकर **रयिम् अभिप्रतस्थुः**=ये वास्तविक ऐश्वर्य की ओर चलते हैं। क्रोध से ऊपर उठकर ही शान्ति को मनुष्य प्राप्त करता है। जीवन का सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य 'मानस शान्ति' ही है। **ता**=इन कार्यों को **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम का उल्लास होने पर **चकार**=करते हैं। हम सोमरक्षण करेंगे, तभी क्रोध आदि को जीत पाएँगे।

भावार्थ—क्रोध के वेग को रोककर ही हम शान्तिरूप ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानप्रकाश व स्फूर्ति

सोदञ्चं सिन्धुमरिणान्महित्वा वज्रेणान उषसः सं पिपेष।
अजवसो जविनीभिर्विवृश्चन्त्सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ६ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **सिन्धुम्**=शरीर में बहनेवाले रेतःकणों के प्रवाह को **उदञ्चम्**=ऊर्ध्वगतिवाला **अरिणात्**=करते हैं। इस रेतः प्रवाह को ऊर्ध्वोन्मुख करते हैं। प्रभु ही **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा **उषसः** (रात्रिर्वा उषाः तै० ३.८.१६.४) अज्ञानरूप रात्रि के **अनः**=शकट को **संपिपेष**=पीस डालते हैं, अर्थात् हमारे जीवनों को क्रियामय बनाकर हमारे अज्ञान का विध्वंस करते हैं। २. **जविनीभिः**=वेगयुक्त क्रियाओं द्वारा **अजवसः**=आलस्य के भावों को—वेगशून्यताओं को **विवृश्चन्**=काटते हुए **इन्द्रः**=वे प्रभु **सोमस्य**=सोम के—वीर्यशक्ति के **मदे**=उल्लास होने पर **ता**=उन कार्यों को **चकार**=करते हैं। प्रभुकृपा से ही सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ऐसा होने पर अज्ञानान्धकार नष्ट होता है—आलस्य का स्थान स्फूर्ति ले लेती है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण होने पर शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। इससे ज्ञान का प्रकाश

व स्फूर्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अपंगु व अनन्ध 'परावृक्'

स विद्वाँ अपगोहं कनीनामाविर्भवन्नुदतिष्ठत्परावृक् ।
प्रति श्रोणः स्थाद् व्यनग्घचष्ट सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ७ ॥

१. **सः**=वह **कनीनाम्**=वेदरूप माता की कन्यारूप मन्त्रवाणियों के **अपगोहम्**=अपने से दूर होकर छिपने को **विद्वान्**=जानता हुआ **आविर्भवन्**=पुनः शक्तियों के विकास को करता हुआ **उदतिष्ठत्**=उठ खड़ा होता है। **परावृक्**=यह पापों का अपने से दूर (परा) वर्जन करनेवाला होता है (वृजी)। जब यह देखता है कि मुझे अन्धा (=ज्ञानवाणियों के अर्थ न समझनेवाला) तथा लंगड़ा (=उनके अनुसार न चलनेवाला) देखकर ये मन्त्ररूप कन्याएँ दूर भाग गई हैं तो यह उनका प्रिय बनने के लिए अपनी शक्तियों का विकास करता है और उन्नत होता हुआ पापों को अपने से दूर करता है। २. **श्रोणः**=आज तक पंगु होता हुआ भी अब यह **प्रतिस्थात्**=गतिशील होता हुआ—उन वेदवाणियों के अनुसार क्रियाओं को करनेवाला बनता है और **अनक्**=आज तक आँखों से रहित होता हुआ भी यह अब **व्यचष्ट**=विशेष रूप से देखने लगता है—उन वेद-वाणियों के भाव को खूब समझने लगता है। पंगु को प्रस्थानवाला तथा अन्ध को देखनेवाला करते प्रभु ही हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **सोमस्य**=सोम के **मदे**=उल्लास होने पर **ता**=उन कार्यों को **चकार**=करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम वेदवाणियों के अर्थ को समझनेवाले, अर्थात् आँखोंवाले बनें तथा उनके अनुसार चलनेवाले अर्थात् अपंगु हों तभी हम इन ज्ञानदीप्त (कन दीप्तौ) वेदवाणीरूप कन्याओं के प्रिय होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पर्वत के दृढ़ द्वारों का उद्घाटन

भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ८ ॥

१. **अंगिरोभिः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले अंगिरसों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए प्रभु **वलम्**=ज्ञान की आवरणभूत (Veil) वासना को **भिनद्**=विदीर्ण करते हैं। वासनाओं का शिकार न होकर शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुष ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। प्रभु इनके ज्ञान की आवरणभूत वासना को दूर करते हैं। **पर्वतस्य**=अविद्यारूप पर्वत के **दृंहितानि**=बड़े दृढ़ द्वारों को **वि ऐरत्**=उद्घाटित कर देते हैं। अविद्यापर्वत ने ही ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को रोका हुआ था। इस पर्वत के द्वारों को खोलकर प्रभु इन ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों को फिर से हमें प्राप्त कराते हैं। २. **एषाम्**=इन अविद्यापर्वतों के **कृत्रिमाणि**=हमारे अभक्ष्यभक्षणादि कर्मों से उत्पन्न हुए **रोधांसि**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों के निरोधक द्वारों को **रिणक्**=वे प्रभु खोल डालते हैं, अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों को अविद्या के बन्धन से मुक्त करते हैं। **ता**=इन सब कार्यों को **इन्द्रः**=प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम का उल्लास होने पर ही **चकार**=करते हैं। सोमरक्षण होने पर ही ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्रकाश को देनेवाली होती हैं।

भावार्थ—अज्ञानरूप पर्वत का विदारण करके प्रभु हमें ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्य-प्राप्ति

स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः।
रम्भी चिदत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ९॥

१. हे प्रभो! आप ही **दस्युम्**=हमारी शक्तियों का उपक्षय करनेवाले **चुमुरिम्**=हमें पी जानेवाले—हमारी सब शक्तियों को निचोड़ लेनेवाले—काम को **च**=और **धुनिम्**=कम्पित करनेवाले क्रोध रूप शत्रु को **स्वप्नेन**=निद्रा से **अभ्युप्य**=संयुक्त करके **आ जघन्थ**=नष्ट कर देते हैं। इन दोनों प्रबल शत्रुओं को पहले स्वप्नावस्थाओं में ले जाकर—Latent करके फिर समाप्त कर देते हैं। इनको समाप्त करके **दभीतिम्**=इस शत्रु-हिंसन करनेवाले को आप **प्रआवः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। २. हे प्रभो! **अत्र**=इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **रम्भी**=आपका आश्रय करनेवाला **हिरण्यम्**=हितरमणीय ज्ञानज्योति को **विविदे**=प्राप्त करता है। **ता**=उन सब कार्यों को **इन्द्रः**=परमात्मा **सोमस्य मदे**=सोमजनित उल्लास के होने पर ही **चकार**=करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे काम-क्रोध का विनाश करते हैं और हमें हितरमणीय ज्योति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघोनी दक्षिणा

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १०॥

२.११.२१ पर इसका व्याख्यान द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु के महान् कार्यों का प्रतिपादन कर रहा है। वे सूर्यादि का निर्माण करते हैं और जीव को ज्ञान प्राप्त कराके उसके वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। इस प्रभु को ही हम रक्षण के लिए पुकारते हैं—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सन्ध्या-हवन-प्रार्थना

प्र वः सतां ज्येष्ठतमाय सुष्टुतिमग्नाविव समिधाने हविर्भरे।
इन्द्रमजुर्यं जरयन्तमुक्षितं सनाद्युवानमवसे हवामहे॥ १॥

१. तीन वस्तुएँ **सत्**=त्रिकालाबाधित हैं 'प्रकृति-जीव-परमात्मा'। इनमें 'सत् चित् व आनन्द' रूप होने के कारण प्रभु ज्येष्ठतम हैं। **वः सताम्**=तुम सत् वस्तुओं में **ज्येष्ठतमाय**=प्रशस्यतम प्रभु के लिए **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को उसी प्रकार मैं **भरे**=धारण करता हूँ **इव**=जैसे कि **समिधाने अग्नौ**=देदीप्यमान अग्नि में **हविः**=हवि देनेवाला बनता हूँ। संक्षेप में, मैं अग्निहोत्र करता हूँ और प्रभु का स्तवन करता हूँ। २. उस प्रभु का स्तवन करता हूँ जो कि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं जो मेरे शत्रुओं को विद्रावण करनेवाले हैं। **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण नहीं होनेवाले हैं। **जरयन्तम्**=दृढ़-से-दृढ़ पदार्थ को व प्रबलतम शत्रुओं को जीर्ण करनेवाले हैं। **उक्षितम्**=शक्ति से सिक्त हैं—भक्तों पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। **सनात्**=सनातन काल से **युवानम्**=बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले अच्छाइयों का हमारे से मिश्रण करनेवाले हैं। इन प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए हम

हवामहे=पुकारते हैं।

भावार्थ—हम सन्ध्या करें—हवन करें—प्रभु की प्रार्थना करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**२ भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**२ धैवतः** ॥

तेजस्विता व प्रज्ञा

यस्मादिन्द्राद् बृहतः किं चनेमृते विश्वान्यस्मिन्त्संभृताधि वीर्या।
जठरे सोमं तन्वी३ सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम्॥ २॥

१. **यस्मात् बृहतः इन्द्रात् ऋते**=जिस महान् शक्तिशाली प्रभु के विना **ईं किं च न**=निश्चय से कुछ भी नहीं है। जो कुछ है उस प्रभु से व्याप्त है—प्रभु की व्याप्ति के कारण ही 'विभूति-श्री व ऊर्ज' से युक्त है। 'पृथिवी में गन्ध, जलों में रस, अग्नि में तेज, वायु में वेग व आकाश में शब्द' ये सब प्रभु के कारण हैं। बुद्धिसम्पन्नों में बुद्धि, बलवानों में बल व तेजस्वियों में तेज प्रभु के ही कारण है। सब विजय प्रभु की ही है। **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **वीर्या**=सब शक्तियाँ **अधिसम्भृता**=आधिक्येन सम्भृत हैं। उस प्रभु का हम गतमन्त्र के अनुसार आह्वान करते हैं। २. पुकारे गये वे प्रभु ही **जठरे सोमम्**=हमारे शरीर के मध्य में सोम (वीर्य) का **भरति**=भरण करते हैं। हमारे शरीर को सोमशक्ति से व्याप्त कराते हैं। जिससे **तन्वी**=हमारे शरीरों में **सहः**=रोगों के मर्षण की शक्ति व **महः**=तेजस्विता होती है। इस तेजस्विता के साथ वे प्रभु **हस्ते वज्रम्**= हमारे हाथों में क्रियाशीलता रूप वज्र को धारण करते हैं और **शीर्षणि**=हमारे मस्तिष्क में **क्रतुम्**=प्रज्ञान का धारण कराते हैं। वस्तुतः प्रभुभक्त का जीवन ऐसा बन जाता है—(क) शरीर में सोम की व्याप्ति है—परिणामतः (ख) सहनशक्ति व तेजस्विता से वे पूर्ण हैं (ग) उनका जीवन क्रियाशील है (घ) और वे दीप्तप्रज्ञ व सुलझे हुए मस्तिष्कवाले होते हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली प्रभु का उपासन हमें तेजस्वी व दीप्तप्रज्ञ बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विघ्न-निराकरण

न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः।
न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु अपने भक्त के जीवन में 'हस्ते वज्रम्' और 'शीर्षणि क्रतुम्' को स्थापित करते हैं तो **ते**=हे भक्त! तेरा **इन्द्रियम्**=बल **क्षोणीभ्याम्**=द्यावापृथिवी से—सारे संसार से **न परिभ्वे**=परिभवनीय नहीं होता। सारे संसार के विरोध में भी तू निर्बल नहीं हो जाता। हे **इन्द्र**=शक्तिसम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष! **समुद्रैः पर्वतैः**=समुद्रों व पर्वतों से परिभूत नहीं होता। समुद्र व पर्वत भी **ते रथः**=तेरे रथ की गति को रोक नहीं सकते। बड़े से बड़े विघ्न को भी दूर करके तू आगे बढ़ता है। २. **यदा**=जब तू **पुरु योजना**=विशाल योजनाओं को लक्ष्य बना कर **आशुभिः पतसि**=तीव्र गतिवाले इन्द्रियाश्वों से आगे बढ़ता है तो **ते वज्रम्**=तेरी क्रियाशीलता को **कश्चन**=कोई भी **न अनु अश्नोति**=व्याप्त नहीं कर पाता है। तेरी क्रियाशीलता का कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता।

भावार्थ—प्रभुभक्त को कोई भी मार्ग विचलित नहीं कर सकता। सब विघ्नों को दूर करता हुआ आगे बढ़ता है, यह योजनाओं के अनुसार निरन्तर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वदेवानुकूलता

विश्वे॒ ह्य॑स्मै यज॒ताय॑ धृ॒ष्णवे॒ क्रतुं॒ भर॑न्ति वृष॒भाय॒ सश्च॑ते।
वृषा॑ यजस्व ह॒विषा॑ वि॒दुष्ट॑रः॒ पिबे॑न्द्र॒ सोमं॑ वृष॒भेण॑ भा॒नुना॑ ॥ ४ ॥

१. **विश्वे**=सब देव **हि**=निश्चय से **अस्मै**=इस **यजताय**=प्रभु के उपासक के लिए, **धृष्णवे**= कामादि शत्रुओं का घर्षण करनेवाले के लिए, **वृषभाय**=शक्तिशाली के लिए, **सश्चते**=(to cling, to stick, to follow) अपने व्रतों पर दृढ़ता से चलनेवाले के लिए **क्रतुं भरन्ति**=शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त कराते हैं। सामान्यतः व्यवहार में 'जलवायु' की अननुकूलता की हम चर्चा किया करते हैं—उस प्रतिकूलता से स्वास्थ्य में कमी आ जाती है। यदि जलवायु आदि सब देव हमारे अनुकूल हों तो हमारा स्वास्थ्य बहुत ही ठीक रहता है और हमारा ज्ञान व बल दोनों ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **यजस्व**=यज्ञशील बन। **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति के कारण **विदुष्टरः**=तू अधिक से अधिक ज्ञानी बन। त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति मनुष्य को स्वस्थ बुद्धिवाला बनाती है। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृषभेण**=उस शक्तिशाली **भानुना**=ज्ञानदीप्त प्रभु के उपासन द्वारा **सोमं पिब**=सोमपान करनेवाला बन। उपासना से तेरी वासनाओं का विलय होगा और तू सोमशक्ति का शरीर में रक्षण कर पाएगा। वस्तुतः रक्षित हुई यह शक्ति ही तुझे प्रभुप्राप्ति का पात्र बनाएगी।

भावार्थ—इस उपासक के सब देव अनुकूल होते हैं। वे इसमें शक्ति व प्रज्ञा का भरण करते हैं। उपासना से ही यह वासनाओं को जीतकर सोम का शरीर में रक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शक्ति का कोश

वृष्णः॒ कोशः॑ पवते॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिर्वृ॑ष॒भान्ना॑य वृष॒भाय॒ पात॑वे।
वृष॑णाध्व॒र्यू वृ॑ष॒भासो॒ अद्र॑यो॒ वृष॑णं॒ सोमं॑ वृष॒भाय॑ सुष्वति ॥ ५ ॥

१. **वृष्णः कोशः**=सुखों के वर्षक सोम का कोश **पवते**=गतिमय होता है। जब हम सोम का रक्षण करते हैं तो यह हमारे में क्रियाशीलता को उत्पन्न करता है। यह कोश **मध्व ऊर्मिः**= माधुर्य की तरंग के समान होता है—यह जीवन में माधुर्य का संचार करता है। **वृषभान्नाय**= शक्तिशाली अन्नवाले के लिए, अर्थात् जो पौष्टिक ही भोजन करता है और स्वाद के लिए नहीं खाता उस **वृषभाय**=औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले के लिए यह **पातवे**=पीने के लिए व रक्षण के लिए होता है। २. इस सोमपान के होने पर ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **वृषणा**= शक्तिशाली होते हैं और **अध्वर्यू**=जीवनयज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाले होते हैं। इस सोम का पान करनेवाले पुरुष **वृषभासः**=शक्तिशाली बनते हैं और **अद्रयः**=(अ दृ) मार्ग से विचलित न किये जाने योग्य होते हैं, अथवा आदरणीय होते हैं (आदृ)। ये लोग **वृषणं सोमम्**=इस शक्तिशाली व सुखवर्षक सोम को **वृषभाय**=उस सर्वशक्तिमान् सुखों के वर्षक प्रभु की प्राप्ति के लिए **सुष्वति**=(सुन्वन्ति) अपने में उत्पन्न करते हैं। इनके रक्षण से ही तो उस सोमप्रभु की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—'सोम' तो एक कोश है जिसके रक्षण से ही वास्तविक ऐश्वर्य की प्राप्ति सम्भव है। इसी से जीवन में उत्साह रहता है—शक्ति उत्पन्न होती है और बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभुदर्शन की योग्यता आती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वृषभ' सोम

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिष इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते वज्र**=तेरी क्रियाशीलता ही तेरा वज्र बनती है (वज् गतौ)। यह **वृषा**=तुझे शक्तिशाली बनाती है और तेरे पर सुखों का वर्षण करती है। **उत**=और **ते**=तेरा **रथः**=यह शरीररूप रथ भी **वृषा**=शक्तिशाली होता है और तेरे पर सुखों का वर्षण करता है। **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व भी **वृषणा**=शक्तिशाली होते हैं। **आयुधा**=तेरे प्राण, मन व बुद्धिरूप सभी जीवनसंग्राम में विजयप्राप्ति के लिए दिये गये आयुध **वृषभाणि**=शक्तिशाली होते हैं। २. यह सब कुछ होता तभी है जबकि **वृषभ**=ऐश्वर्यशाली जीव! **त्वम्**=तू **मदस्य**=हर्ष के जनक **वृष्णः**=सुखवर्षक सोम का **ईशिषे**=ईश बनता है। इसलिए हे इन्द्र! तू इस **वृषभस्य**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाले **सोमस्य**=सोम का **तृप्णुहि**=पान करते हुए तृप्ति का अनुभव कर। इस सोमरक्षण के अभाव में निर्बलता व निरुत्साह का ही तुझे अन्ततः अनुभव होगा।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम क्रियाशील बनते हैं। इससे शरीर, इन्द्रियाँ व मन आदि सब स्वस्थ बनते हैं। जीवन में शक्ति व तृप्ति का अनुभव होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वसु का उत्स

प्र ते नावं न समने वचस्युवं ब्रह्मणा यामि सवनेषु दाधृषिः।
कुविन्नो अस्य वचसो निबोधिषदिन्द्रमुत्सं न वसुनः सिचामहे ॥ ७ ॥

१. **सवनेषु**=जीवन के प्रथम २४ वर्ष के प्रातःसवन में, अगले ४४ वर्षों के माध्यन्दिन सवन में तथा अन्तिम ४८ वर्षों के तृतीय सवन में **दाधृषिः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला मैं **समने**=इस जीवन संग्राम में **नावं न**=नाव के समान **ते**=(त्वाम् सा०) आपके प्रति **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से **प्रयामि**=प्राप्त होता हूँ, जो आप **वचस्युवम्**=ज्ञान की वाणियों को मेरे साथ संपृक्त करनेवाले हैं (वचस्+यु)। इस ज्ञान द्वारा ही तो मैं भवसागर को तैर पाता हूँ। २. वे प्रभु **नः**=हमारे **अस्य वचसः**=इस वचन को **कुवित्**=खूब ही **निबोधिषत्**=जानें। हमारी इस प्रार्थना को प्रभु सुनें और हम उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सिचामहे**=अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करते हैं, जो प्रभु **वसुनः उत्सं न**=सब ऐश्वर्यों के स्रोत के समान हैं। प्रभु के उपासन से जहाँ हमारा जीवन पवित्र व प्रकाशमय होता है, वहाँ सांसारिक ऐश्वर्य की भी कोई कमी नहीं रहती। वे प्रभु ही तो सम्पूर्ण वसुओं के कोश हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमें संसार-सागर से तैरने की शक्ति देते हैं। संसारयात्रा के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पुरा सम्बाधात्

पुरा संबाधादभ्या ववृत्स्व नो धेनुर्न वत्सं यवसस्य पिप्युषी।
सकृत्सु ते सुमतिभिः शतक्रतो सं पत्नीभिर्न वृषणो नसीमहि ॥ ८ ॥

१. हे प्रभो! **सम्बाधात् पुरा**=शत्रु हमें पूरी तरह बाँध ही लें—कुचल ही डालें—इससे पहले ही **नः अभ्याववृत्स्व**=आप हमें प्राप्त होइए। **न**=जैसे कि **यवसस्य पिप्युषी**=यवस से—घास

से तृप्त हुई-हुई **धेनुः**=गाय **वत्सम्**=बछड़े को प्राप्त होती है। आप हमें प्राप्त होइए। आप ही हमें शत्रुओं की बाधा से बचाएँगे। २. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! हम **सकृत्**=एक बार तो **ते**=आपकी **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों से **संनसीमहि**= सम्यक् व्याप्त किये जाएँ, **न**=जैसे कि **वृषणः**=शक्तिशाली पति **पत्नीभिः**=पत्नियों से व्याप्त किये जाते हैं। पत्नी जैसे पति का अंग (Part and parcel) बन जाती है, उसी प्रकार आपकी कल्याणी मति हमारा अंग बन जाए और हम सब प्रकार के अशुभों से दूर होकर शुभमार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करके हम शत्रुओं द्वारा कुचले जाने से अपने को बचा पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघोनी दक्षिणा

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ९॥

२.११.२१ पर यह व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त का सार यह है कि हम सदा प्रभुस्तवन करें। प्रभु हमें वासनारूप शत्रुओं का शिकार होने से बचाएँ। सोमरक्षण करते हुए उत्कर्ष को प्राप्त करें। इसी प्रभु के उपासन का ही विषय अगले सूक्त में भी है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना से शक्ति की प्राप्ति

तदस्मै नव्यमङ्गिरस्वदर्चत शुष्मा यदस्य प्रत्नथोदीरते ।
विश्वा यद् गोत्रा सहसा परीवृता मदे सोमस्य दृंहितान्यैरयत्॥ १॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **तद्**=उस **नव्यं** (नु स्तुतौ) स्तुतिवचन को **अर्चत**=पूजित करो जो कि **अंगिरस्वत्**=अंगिरस्वाला है—तुम्हें अंग-प्रत्यंग में रसमय बनानेवाला है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो यह स्तवन हमें शक्ति प्राप्त कराता है। इस स्तवन द्वारा हमारा प्रत्येक अंग रसमय बनता है। **यद्**=क्योंकि **अस्य**=इस उपासक के **शुष्मा**=शत्रुशोषक बल **प्रत्नथा**=पहले की तरह **उदीरते**=उद्गत होते हैं। जब जीवन प्रभु की उपासना से दूर होता है तभी जीवन में शक्तियों का ह्रास होने लगता है। प्रभु की उपासना अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़, सजीव व सरस बना देती है। २. **विश्वा**=सब **यद् गोत्रा**=इन्द्रियरूप गौवों का समूह **परीवृता**=वासनारूप वृत्र से आवृत हुआ-हुआ है, उसे **सोमस्य मदे**=सोम के उल्लास में **सहसा**=बल से **दृंहितानि**=दृढ़ीभूत हुए-को **ऐरयत्**=यह कार्यों में प्रेरित करता है। वासना से मुक्त करके—इन्द्रियों को स्वाधीन करके यह उन्हें अपने-अपने कार्य में व्यापृत करता है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ बड़ी दृढ़शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से इन्द्रियाँ आसुरभावों से मुक्त होकर शक्तिशाली बनती हैं और सक्षम होती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष

स भूतु यो ह प्रथमाय धायस ओजो मिमानो महिमानमातिरत्।
शूरो यो युत्सु तन्वं परिव्यत शीर्षणि द्यां महिना प्रत्यमुञ्चत॥ २॥

१. **सः**=वह जितेन्द्रिय पुरुष **भूतु**=(भवतु वर्धताम् सा०) फूले-फले **यः**=जो **ह**=निश्चय से **प्रथमाय धायसे**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले (प्रथ विस्तारे) सोमपान (=वीर्यरक्षण, धेट् पाने) के लिए **महिमानम्**=(मह पूजायाम्) प्रभुपूजन के भाव को **आतिरत्**=अपने में बढ़ाता है और इस प्रकार **ओजः मिमानः**=ओजस्विता का अपने अन्दर निर्माण करता है। प्रभुपूजा से वासनात्मक वृत्ति नष्ट होती है। इससे सोमरक्षण सम्भव होता है। सोमरक्षण से ओजस्विता में वृद्धि होती है। २. **शूरः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला वीर वही है **यः**=जो कि **युत्सु**=इन अध्यात्म-युद्धों में **तन्वं परिव्यत**=अपने शरीर को कर्मों से आच्छादित रखता है और **शीर्षणि**=मस्तिष्क में **द्याम्**=ज्ञानसूर्य को—देदीप्यमान ज्ञान को **महिना**=प्रभु-उपासन के भाव के साथ **प्रत्यमुञ्चत**= धारण करता है। 'शरीर में कर्मव्यापृतता—मस्तिष्क में ज्ञान' यही वस्तुतः जितेन्द्रिय पुरुष का जीवन है।

भावार्थ—'इन्द्र' वह है जो सोमरक्षण के लिए प्रभु का उपासन करता है, वासनाओं को दूर रखने के लिए हाथों से कर्मों में लगा रहता है तथा मस्तिष्क में ज्ञान धारण करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रुओं का रण में भंग (पराजय)

अधाकृणोः प्रथमं वीर्यं महद्यदस्याग्रे ब्रह्मणा शुष्ममैरयः।
रथेष्ठेन हर्यश्वेन विच्युताः प्र जीरयः सिस्रते सध्य१क् पृथक्॥ ३॥

१. हे प्रभो! **यद्**=जब आप **अस्य**=इस उपासक के **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **अग्रे ऐरयः**=आगे प्रेरित करते हैं—ज्ञान द्वारा जब आप इसके 'शुष्म' को बढ़ाते हैं, **अध**=तब **प्रथमम्**=अति विस्तृत व उत्तम **महत्**=महान् **वीर्यम्**=सामर्थ्य को **अकृणोः**=उत्पन्न करते हैं। २. इस शक्ति के उत्पन्न हो जाने पर **रथेष्ठेन**=इस शरीररूप रथ के अधिष्ठाता **हर्यश्वेन**=गतिशील व तेज, कान्त इन्द्रियाश्वों वाले (हर्य अश्व—पररूप सन्धि) उपासक से **विच्युताः**=स्थानभ्रष्ट किये हुए **जीरयः**=हमारी शक्तियों को जीर्ण करनेवाले आसुरभाव **सध्र्यक्**=परस्पर संगत होकर रहनेवाले भी **पृथक्**=अलग-अलग होकर **प्रसिस्रते**=भाग खड़े होते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' ये सब परस्पर सम्बद्ध हैं। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'=काम से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ तो इन दोनों का ही मूल है। ये इन्द्रियाँ मन व बुद्धि में अपने स्थान बनाकर निवास करते हैं। उपासक की शक्ति से परास्त हुए ये कोई किसी दिशा में और कोई किसी दिशा में भाग खड़े होते हैं। ये 'कान्दिशीक' हो उठते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि यह उपासक कामादि शत्रुओं को दूर भगा देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शासक व प्रकाशक प्रभु

अधा यो विश्वा भुवनाभि मज्मनेशानकृत्प्रवया अभ्यवर्धत।
आद्रोदसी ज्योतिषा वह्निरातनोत्सीव्यन्तमांसि दुधिता समव्ययत्॥ ४॥

१. **यः**=जो **प्रवयाः**=अत्यन्त पुरातन पुरुष **अधा**=अब **विश्वाभुवना**=सब लोकों को **मज्मना**= बल से **अभि** (भूय) अभिभूत करके **ईशानकृत्**=इन सब लोकों का अपने को अधिपति बनाता हुआ **अभ्यवर्धत**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हैं। २. वह **वह्निः**=इन सब लोकों का धारण करनेवाला प्रभु ही **आत्**=अब **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **ज्योतिषा**=ज्योति से **आतनोत्**=विस्तृत करता है। सारे ब्रह्माण्ड को वे प्रभु दीप्तिमय बनाते हैं। वे प्रभु

दुधिता=(दुःस्थितानि) बड़ी प्रबलता से जमकर स्थित हुए-हुए **तमांसि**=अन्धकारों को **सीव्यन्**=सिल-सिलाकर (बोरी में मानो बन्द करके) **समव्ययत्**=ढक देते हैं। इन अन्धकारों को इधर-उधर फैलने नहीं देते। प्रभु सर्वत्र प्रकाश को फैला देते हैं, अन्धकार को मानो बोरी में सिल कर कहीं छिपा देते हैं। अन्धकार समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही शासक हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश से व्याप्त करते हैं। अन्धकार दूर कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वह अद्भुत पालक

स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्त्रसः॥ ५॥

१. अन्तरिक्षस्थ मेघ भी वाष्पों के कई पर्वों से बने हुए होने के कारण पर्वत कहलाते हैं। ये पर्वत पृथिवीस्थ पर्वतों से इस अंश में भिन्न हैं कि ये आकाश में इधर-उधर उड़ते होते हैं। **सः**=वह इन्द्र **प्राचीनान् पर्वतान्**=इन आगे-आगे बढ़ते हुए पर्वतों को (मेघों को) **ओजसा**=अपने ओज से **दृंहत्**=दृढ़ व स्थिर कर देता है। मानसून विण्ड्स (वार्षिक वायुओं) के साथ आगे बढ़ते हुए ये बादल स्थान-विशेष में पहुँचकर स्थिर होते हैं। यह इनका स्थिर होना ही पुराण की भाषा में पर्वतों का पक्षच्छेद है। उस समय वे प्रभु **अपाम्**=इन मेघस्थ जलों के **अपः**=स्पन्दन-लक्षण कर्म को—बहने के काम को **अधराचीनम्**=निम्न गतिवाला **अकृणोत्**=कर देते हैं, अर्थात् इन मेघों से जलों की वृष्टि को इसी पृथिवी पर प्राप्त कराते हैं। २. इस वृष्टि द्वारा ही यहाँ विविध अन्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वे प्रभु **विश्वधायसम्**=सबका धारण करनेवाली **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **अधारयत्**=धारण करते हैं। इसी वृष्टि रूप कार्य के लिए जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले जानेवाले **द्याम्**=प्रकाशमय सूर्य को, वे प्रभु ही **मायया**=अपनी प्रज्ञा व शक्ति से **अवस्त्रसः**=नीचे गिरने से **अस्तभ्नात्**=थामते हैं। इस सूर्य के अभाव में वृष्टि आदि कार्य का सम्भव ही न होते।

भावार्थ—आकाश में सूर्य को थाम कर तथा बादलों की उत्पत्ति से वृष्टि द्वारा पृथिवी में अन्नों को उत्पन्न करके वे प्रभु सबका धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्

सास्मा अरं बाहुभ्यां यं पिताकृणोद्विश्वस्मादा जनुषो वेदसस्परि।
येना पृथिव्यां नि क्रिविं शयध्यै वज्रेण हत्व्यवृणक्तुविष्वणिः॥ ६॥

१. **सः**=वे प्रभु **अस्मै**=इस जगत् के रक्षण के लिए **अरम्**=समर्थ होते हैं—पर्याप्त होते हैं। **यम्**=जिस जगत् को **पिता**=वे रक्षक प्रभु **बाहुभ्याम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस रूप प्रयत्नों के उद्देश्य से (भोगापवर्गार्थं दृश्यं) **विश्वस्माद्**=सब **आ जनुषः**=चारों ओर होनेवाले इन विकासों (जन् प्रादुर्भाव) के हेतु से तथा **वेदसः परि**=ज्ञान का लक्ष्य करके **अकृणोत्**=बनाते हैं। प्रभु ने संसार को बनाया, इस उद्देश्य से बनाया कि इसमें जीव अपनी शक्तियों का विकास कर सके (जनुषः) ज्ञान को बढ़ा सके (वेदसः), ऐहिक भोगों व पारलौकिक निःश्रेयस को (बाहुभ्यां) प्राप्त कर सके। २. **तुविष्वणिः**=महान् स्वनोंवाले वे प्रभु, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देनेवाले वे प्रभु उस ज्ञान को देते हैं **येना**=जिससे **क्रिविम्**=(क्रिव्=to kill) हमारा विनाश कर देनेवाले इस काम को **पृथिव्यां**

निशयध्यै=पृथिवी पर नीचे सुलानेवाले होते हैं। प्रभु ज्ञान द्वारा काम को विनष्ट कर देते हैं। **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **हत्वी**=इसे मारकर **आवृणक्**=हिंसित कर देते हैं। ज्ञान और क्रियाशीलता के बीच में यह 'काम' पिस जाता है।

भावार्थ—संसार 'भोग और अपवर्ग' के लिए बनाया गया है। प्रभु हमें ज्ञान व क्रियाशीलता प्राप्त कराके 'काम' का विध्वंस कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविवाहित

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो३ येन मामहः ॥ ७ ॥

१. एक कन्या विवाहित होकर पितृगृह से दूर चली जाती है। उसका पितृगृह में भाग नहीं रहता, परन्तु यदि वह अविवाहित रहकर माता-पिता से दूर न हो तो उसी घर में वह भाग प्राप्त करती रहती है। इसी प्रकार जीव यदि प्रभुरूप पिता व वेदमाता से दूर नहीं होता तो उसे प्रभु से धन प्राप्ति का अधिकार प्राप्त रहता है, परन्तु यदि वह प्राकृतिक भोगों की ओर चला जाए तो उसका यह अधिकार छिन जाता है। **अमाजूः इव**=घर में ही माता-पिता के साथ जीर्ण होनेवाली कन्या जैसे **पित्रोः सचा सती**=माता-पिता के साथ रहती हुई **समानात् सदसः**=भाइयों के साथ समान गृह से ही धन के भाग को प्राप्त करती है, इसी प्रकार मैं भी प्रकृति के साथ परिणीत न होकर **त्वाम्**=हे प्रभो! आप से ही **भगम्**=सेवनीय धन को **आ इये**=सर्वथा माँगता हूँ। २. आप मेरे लिए **प्रकेतं कृधि**=प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त कराइए। **उप मासि**=(build) समीपता से मेरे जीवन का निर्माण करिए। **आभर**=मेरा सब प्रकार से पोषण करिए। मुझे **भागं दद्धि**= उस भजनीय धन को दीजिए, **येन**=जिससे **तन्वः मामहः**=शरीर का मैं उचित पूजन कर सकूँ। शरीर स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक धन आप मुझे दीजिए।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु व वेदवाणी रूप पिता-माता से दूर न हो तो प्रभु उसका पालन करते ही हैं। शरीररक्षा के लिए आवश्यक धन की उसे कमी नहीं रहती। प्रभु से दूर न होना—प्रकृति में न फंस जाना—ही अविवाहित होना है। प्रकृति इसे प्रभु से दूर नहीं ले जाती।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'भोज व ददि'

भोजं त्वामिन्द्र वयं हुवेम ददिष्ट्वमिन्द्रापांसि वाजान्।
अविड्ढीन्द्र चित्रया न ऊती कृधि वृषन्निन्द्र वस्यसो नः ॥ ८ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **भोजम्**=सबका पालन करनेवाले **त्वाम्**=आपको **हुवेम**=पुकारते हैं। हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप ही **अपांसि**=कर्मों को और कर्मों द्वारा **वाजान्**=शक्तियों को **ददिः**=देनेवाले हैं। प्रभु हमें क्रियाशक्ति देते हैं—इन क्रियाओं में लगे रहने से हमारी शक्ति बढ़ती है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **चित्रया**=अद्भुत **ऊती**=रक्षण द्वारा **अविड्ढि**=रक्षित करिए। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **वृषन्**=सब धनों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **वस्यसः**=अतिशयेन वसुमान् **कृधि**=करिए। आप हमें निवास के लिए सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु ही 'भोज' हैं—'ददि' हैं। वे ही शक्ति देते हैं—वे ही रक्षण करते हैं। प्रभुकृपा से हम वसुमान् बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वर-दोहन

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ९ ॥

इसकी व्याख्या २.११.२१ पर देखिए।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु के उपासन से शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति से तरोताजा होकर मनुष्य आगे बढ़ता है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नवीन रथ

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत् ॥ १ ॥

१. **प्रातः**=प्रतिदिन प्रातःकाल **रथः**=यह शरीररूप रथ **योजि**=इन्द्रियाश्वों से युक्त किया जाता है। यह रथ **नवः**=प्रतिदिन नवीन है। रात्रि को इसकी मरम्मत होकर यह प्रातः फिर से शक्तिसम्पन्न, दृढ़ व नया का नया हो जाता है—इसमें जीर्णता नहीं आती। **सस्निः**=यह शुद्ध होता है, इसकी मैल प्रतिदिन दूर कर दी जाती है। मैल ही तो इसको जीर्ण करने का कारण होती है। इस प्रकार यह निर्मलरथ **चतुर्युगः**=चार युगोंवाला होता है—चार युगों तक चलनेवाला—'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' रूप सब मञ्जिलों को पूरा करनेवाला बनता है। **त्रिकशः**=(कश गतिशासनयोः) ज्ञान, कर्म व भक्ति इन तीन मार्गों में गतिवाला होता है। **सप्तरश्मिः**=सात छन्दों से युक्त वेदवाणी से प्रकाश की किरणों को प्राप्त करनेवाला यह रथ है अथवा 'कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्' इन सात ऋषियों की प्रकाशरश्मियों वाला होता है। २. **दशारित्रः**=यह दश इन्द्रिय रूप दश अरियोंवाला है (अरित्रं=A part of a carriage) ये दश अरित्र इसकी गति का साधन बनते हैं (ऋ गतौ)। **मनुष्यः**=विचारशील पुरुष का यह हित करनेवाला है। उसे **स्वर्षाः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त कराता है। ३. यह शरीर रूप रथ **इष्टिभिः**=यज्ञों से तथा **मतिभिः**=बुद्धियों से **रंह्यः**=तीव्र गति के योग्य **भूत्**=होता है। यदि मनुष्य यज्ञों व स्वाध्याय में प्रवृत्त रहे तो यह रथ सदा तीव्र गतिवाला बना रहता है।

भावार्थ—यह शरीर रूप रथ इसीलिए प्राप्त कराया गया है कि हम यज्ञों व स्वाध्याय में प्रवृत्त रहकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एक सौ सोलह वर्ष तक चलनेवाला रथ

सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य ऊ जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा ॥ २ ॥

१. **सः**=गत मन्त्र में वर्णित शरीर रूप रथ **अस्मै**=इस स्वाध्याय व यज्ञ में प्रवृत्त रहनेवाले पुरुष के लिए **प्रथमं अरम्**=जीवन के २४ वर्षों से बने प्रातःसवन में पर्याप्त होता है। **सः**=वह रथ **द्वितीयम्**=जीवन के अगले ४४ वर्षों से बने माध्यन्दिन सवन में पर्याप्त होता है। **उत उ**=और निश्चय से **तृतीयम्**=तृतीय सवन के अन्तिम ४८ वर्षों के लिए भी समर्थ होता है। **सः**=वह रथ **मनुषः**=विचारशील पुरुष के लिए **होता**=सब इष्टों को प्राप्त करानेवाला होता है। २. इन

शरीर रथों का निर्माण बड़े विचित्र प्रकार से होता है। स्त्रीशरीर में पुरुष अपने बीज से इसे उत्पन्न करते हैं। यह शरीररथ किसी अन्य जीव से अधिष्ठित होता है। **अन्यस्याः गर्भम्**=किसी एक स्त्री के गर्भरूप इस रथ को **अन्ये उ**=और लोग भी **जनन्त**=उत्पन्न करते हैं। **सः**=वह शरीररथ **अन्येभिः**=अन्य ही जीवों से **सचते**=समवेत (युक्त) होता है। किसी दूसरे ही जीव का यह भोगाधिष्ठान बनता है। 'इस शरीररथ को कोई पैदा करता है—किसी में यह पैदा होता है और किसी के भोग का यह आयतन बनता है' यह सब विचित्र ही है। यह शरीररथ **जेन्यः**=विजयशील होता है—सब विघ्नों से हमें पार करता हुआ विजयी बनाता है। **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—यह शरीर रथ सामान्यतः ११६ वर्षों तक चलता है—यह विजयशील व सुखवर्षक है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इस शरीररथ का लक्ष्य

हरी नु कं रथ इन्द्रस्य योजमायै सूक्तेन वचसा नवेन।
मो षु त्वामत्र बहवो हि विप्रा नि रीरमन्यजमानासो अन्ये॥ ३॥

१. **इन्द्रस्य**=उस जितेन्द्रिय पुरुष के **रथे**=शरीररूपरथ में **नु कम्**=अब सुख से **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का **सूक्तेन**=मधुरता से बोले गये **नवेन**=स्तुतिरूप (नु स्तुतौ) **वचसा**=वचन से **आयै**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचने के लिए **योजम्**=जोड़ता हूँ। प्रभु ने इस शरीररथ में इन्द्रियाश्वों को जोता है। जोता इसलिए है कि इसका अधिष्ठाता जीव लक्ष्यस्थान पर पहुँच सके। उस लक्ष्यस्थान पर न पहुँचने में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध व तज्जनित कटु निन्दात्मक शब्द ही कारण बना करते हैं। हमें चाहिए कि हम इस रथ पर आरूढ़ होकर कटु निन्दात्मक शब्दों से दूर रहते हुए लक्ष्यस्थान की ओर बढ़ें। २. हे जीव! **त्वाम्**=तुझे **अत्र**=इस जीवनयात्रा में **हि**=निश्चय से **बहवः विप्राः**=ये बहुत ज्ञानी पुरुष **मा उ**=मत ही **षु**=अच्छी प्रकार **नि रीरमन्**=नितरां रमण करानेवाले न हो जाएँ, अर्थात् तू व्यर्थ की उत्कण्ठाओं को शान्त करनेवाले ज्ञानों में ही न उलझ जाए तथा **अन्ये**=दूसरे **यजमानासः**=यज्ञों में उलझे हुए विप्र भी तुझे रमण करानेवाले न हो जाएँ। तू यज्ञों की परिपाटियों में ही उलझ कर स्वर्ग प्राप्त करने की धुनवाला न बन जाए। लौकिकज्ञानों व सकामयज्ञों से भी ऊपर उठकर तू ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाला हो। इस शरीररूप रथ का मुख्य प्रयोजन यही है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीररथ में इन्द्रियाश्व जोते हैं, इसलिए कि हम लौकिकज्ञानों व सकाम यज्ञों में भी न उलझते हुए आगे बढ़ें। मधुरस्तुतिरूप शब्दों को ही बोलते हुए ब्रह्म के समीप पहुँचनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ब्रह्म की ओर

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥ ४॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **द्वाभ्यां हरिभ्याम्**=इन दो ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। यदि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में व्याप्त रहें तो हम उस प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। **चतुर्भिः**=शरीर के चारों अंगों से 'शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे। शं मे चतुर्भ्यो अंगेभ्यो शमस्तु तन्वे मम' (अथर्व) **आ**=तू हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। **हूयमानः**=सदा प्रभु को पुकारता हुआ

तू **षड्भिः**=(मनःषष्ठानि०) मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से **आ**=तू हमारे समीप प्राप्त हो। २. **अष्टाभिः**=पाँचों महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार से तू **सोमपेयम्**=सोमपान को **आ**=प्राप्त हो। सोमपान से ही ये सब स्वस्थ व सशक्त बने रहते हैं। **दशभिः**=दशों प्राणों से तू सोमपान के लिए आनेवाला हो। प्राणसाधना से सोम सुरक्षित रहता है और सुरक्षित सोम प्राणशक्ति को बढ़ाता है। 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय' ये दस के दस प्राण सोमरक्षण से ही शक्तिशाली बनते हैं। २. **अयं सुतः**=यह सोम तेरे अन्दर उत्पन्न किया गया है। हे **सुमख**=उत्तम यज्ञों में व्यापृत रहनेवाले पुरुष! तू इस सोम का **मृधः**= हिंसन **मा कः**=मत कर। इस सोम को सर्वथा सुरक्षित करने का प्रयत्न कर। इस सोमरक्षण से ही तू मुझे (ब्रह्म को) प्राप्त करेगा।

भावार्थ—हम अपने सब अंगों से इस प्रकार क्रियाओं को करें कि ब्रह्म के समीप पहुँचते जाएं। सोमरक्षण द्वारा सब प्राणों को सशक्त बनाएँ, ताकि ब्रह्म को प्राप्त कर पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जितना जल्दी उतना ठीक

आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङ् चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽषष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥ ५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **विंशत्या**=बीस वर्ष की आयु तक (by the of 20 years) **अर्वाङ् आयाहि**=अन्तर्मुखवृत्तिवाला होता हुआ हमारी ओर आनेवाला बन। बीस वर्ष तक साधना में कुछ कमी रह जाए तो **त्रिंशता**=तीस वर्ष की आयु तक तो अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनने का प्रयत्न कर ही। **हरिभिः युजानः**=इन्द्रियाश्वों से शरीररथ को सम्यक् जोतता हुआ तू **चत्वारिंशता**=चालीस वर्ष की उमर तक तो वृत्ति को अन्तर्मुखी कर ही ले। २. हे इन्द्र! तू **सुरथेभिः**=इन उत्तम शरीररथों से **पञ्चाशता**=पचास वर्ष की आयु में पहुँचकर के तो **सोमपेयम्**=सोम को शरीर में ही पी लेने की शक्ति को **आयाहि**=प्राप्त करले,यह शरीर में व्याप्त किया हुआ सोम ही तेरे शरीररथों को ठीक बनाएगा। **षष्ट्या**=साठ वर्ष में तो यह तेरी साधना पूर्ण हो ही जाए। साठवें वर्ष में भी कुछ कमी रह जाए तो **सप्तत्या**=सत्तरवें वर्ष के अन्त तक तो इस सोमपान की साधना को पूर्ण कर ही ले। सोमपान की साधना से ही तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—बीसवें वर्ष में ही हम प्रभु की ओर झुक जाएँ तो सबसे अच्छा, अन्यथा तीसवें, चालीसवें, पचासवें, साठवें व सत्तरवें वर्ष में तो उसकी ओर झुक ही जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सौवें वर्ष से और देर में नहीं

आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङ् शतेन हरिभिरुह्यमानः ।
अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिभिः उह्यमानः**=इन्द्रियाश्वों से आगे ले जाया जाता हुआ तू **आशीत्या**=अस्सीवें वर्ष के अन्त तक तो **अर्वाङ् आयाहि**=अन्दर की ओर हमारे समीप आ ही जा। **नवत्या**=नव्वे वर्ष के अन्त में तो **आ**=हमारे समीप आनेवाला बन ही जा। **शतेन आ**=सौवें वर्ष में तो अवश्य आ ही जा। इसके बाद तो फिर पता नहीं इस साधना का अवसर कब प्राप्त हो। 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'। २. हे इन्द्र! **अयं सोमः**=यह

सोम **त्वाया**=तेरे हित की कामना से **ते**=तेरे **शुनहोत्रेषु**=सुखकर होत्रोंवाले इन शरीररूप पात्रों में **हि**=निश्चय से **परिषिक्तः**=सिक्त किया गया है। यह सोम **मदाय**=तेरे उल्लास के लिए हो। जिस शरीर से स्वार्थत्यागवाले कर्म किये जाएँ, वह शरीर 'शुनहोत्र' कहलाता है। इन शरीरों में सोम का रक्षण किया जाए तो जीवन उल्लासमय बना रहता है और अन्ततः हम प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य सौवें वर्ष में भी साधना में सफल होकर प्रभुप्रवण हो गया तो भी उसका कल्याण ही होगा। प्रभुप्रवण होकर वह सोम को शरीर में सिक्त करके सशक्त व सोल्लास बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान-प्रवणता

मम ब्रह्मेन्द्र याह्यच्छा विश्वा हरी धुरि धिष्वा रथस्य।
पुरुत्रा हि विहव्यो बभूथास्मिञ्छूर सवने मादयस्व॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मम**=मेरे से दिये गये **ब्रह्म अच्छा**=ज्ञान की ओर **याहि**=जानेवाला बन। तू ज्ञान की रुचिवाला हो। **विश्वा**=इन शरीररूप रथ में प्रविष्ट **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **रथस्य धुरि धिष्वा**=शरीररथ की धुरी में धारण कर। ये तेरे शरीररथ को खींचने में धुरन्धर हों। २. तू **हि**=निश्चय से **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विहव्यः**=विशिष्ट पुकारवाला हो। सदा प्रभु का आराधन करनेवाला बन। तेरा प्रत्येक कार्य प्रभु आराधन से प्रारम्भ हो और **शूर**=हे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **इन्द्र!** तू **अस्मिन् सवने**=इस उत्पन्न जगत् में अथवा सोम के सम्पादन में (स्तवन) **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—हम ज्ञानरुचिवाले बनें। इन्द्रियों को कर्मव्यापृत रखें। सदा प्रभु का स्मरण करें और सोम का सम्पादन करते हुए आनन्दित हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अजर्य संगत (मैत्री)

न म इन्द्रेण सख्यं वि योषदस्मभ्यमस्य दक्षिणा दुहीत।
उप ज्येष्ठे वरूथे गभस्तौ प्रायेप्राये जिगीवांसः स्याम॥ ८॥

१. जीव प्रार्थना करता है कि **मे**=मेरा **इन्द्रेण**=प्रभु से **सख्यम्**=मित्रभाव **न वियोषत्**=कभी पृथक् न हो। मैं सदा प्रभु का मित्र बना रहूँ। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अस्य**=इस प्रभु का **दक्षिणा**=दान **दुहीत**=सब कामनाओं का पूरण करनेवाला हो। यहाँ प्रथम वाक्य में 'मे' एक वचन है। दूसरे वाक्य में 'अस्मभ्यं' बहुवचनान्त है। 'मैं प्रभु की मित्रता से कभी दूर न होऊँ—मेरे में दूषितवृत्ति न उत्पन्न हो' ऐसी प्रार्थना करता हुआ वह औरों की दूषितवृत्ति की कल्पना नहीं करता, परन्तु प्रभु का दान वह केवल अपने लिए नहीं चाहता। २. हम उस प्रभु के **ज्येष्ठे**=श्रेष्ठ **वरूथे**=रक्षण करनेवाली **गभस्तौ**=भुजा में **उप**=समीप रहते हुए—उस प्रभु की भुजच्छाया में रहते हुए—**प्राये प्राये**=(प्रकर्षेण ईयते गम्यते योद्धृभिरत्र सा०) प्रत्येक संग्राम में **जिगीवांसः**=जीतनेवाले **स्याम**=हों। प्रभु की छत्रछाया में हारने का प्रश्न ही नहीं।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र हों। उस मित्र की भुजच्छाया में सदैव विजयी बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

खूब स्तवन

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ९ ॥

यह व्याख्या २.११.२१ पर देखिए।

सूक्त का भाव यह है कि यह शरीररथ प्रभुप्राप्ति के लिए दिया गया है, प्रभु की ओर ही हम चलनेवाले बनें। सोमरक्षण से इस रथ को ठीक बनाये रखें और प्रभुप्रियता में सदा विजयी हों। अगला सूक्त इसीलिये सोमपान का आदेश देता है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र व ब्रह्मण्यन् का ओकस्

अपाय्यस्यान्धसो मदाय मनीषिणः सुवानस्य प्रयसः ।
यस्मिन्निन्द्रः प्रदिवि वावृधान ओको दधे ब्रह्मण्यन्तश्च नरः ॥ १ ॥

१. **अस्य**=इस **सुवानस्य**=शरीर में उत्पन्न किये जाते हुए **मनीषिणः**=बुद्धिवाले—बुद्धि को तीव्र करनेवाले **प्रयसः**=प्रीतिकर **अन्धसः**=सोम का **अपायि**=पान किया जाता है। **मदाय**=हवि के लिए। इस सोम का पान करने से जीवन में उल्लास का अनुभव होता है। २. **यस्मिन् प्रदिवि**=जिस प्रकृष्ट प्रकाशवाले सोम में **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **ओकः दधे**=निवास को धारण करता है। इन्द्र का आधार यह सोम ही बनता है। **च**=और **ब्रह्मण्यन्तः**=ज्ञान (ब्रह्म) की कामनावाले **इन्द्रः नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग इस सोम मे ही निवास को धारण करते हैं। जीवन का मूल आधार यह सोम ही है।

भावार्थ—सोम का शरीर में व्यापन करने से यह उल्लास का कारण बनता है—बुद्धि को यह तीव्र करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अर्णोवृत' अहि का विध्वंस

अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चत्।
प्र यद्वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त ॥ २ ॥

१. **अस्य**=इस **मध्वः मन्दानः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम से प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ **वज्रहस्तः**=क्रियाशील हाथोंवाला—सदा स्फूर्ति के साथ क्रियाओं को करता हुआ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अहिम्**=(अपाहन्ति) हिंसन करनेवाले 'कार्य' को **विवृश्चत्**=काट डालता है। उस 'काम' को, जो कि **अर्णोवृतम्**=ज्ञानजलों के प्रवाह को आवृत कर लेनेवाला है। यह कामवासना ज्ञान पर परदे के रूप में पड़ जाती है और ज्ञान को प्रतिबद्ध कर देती है। २. **यद्**=(यदा) जब इन्द्र क्रियाशीलता द्वारा इस 'काम' को विध्वंस करता है तो **नदीनां प्रयांसि**=ज्ञानजल की नदियों के प्रीणित करनेवाले जल **चक्रमन्त**=फिर से खूब गतिवाले हो जाते हैं। वासनारूप परदे के हट जाने से ज्ञान फिर से चमक उठता है। ज्ञानजल फिर से हमें उसी प्रकार प्राप्त होने लगते हैं, **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी **स्वसराणि अच्छा**=घोंसलों की ओर (सुष्ठु अर्यन्ते प्राप्यन्ते इति सा०) जाते हैं। पक्षी घोंसलों की ओर तथा ज्ञान हमारी ओर। 'काम' ही तो इसका प्रतिबन्धक

कारण था। वह नष्ट हुआ और ज्ञान हमें प्राप्त होने लगा।

भावार्थ—इन्द्र क्रियाशीलता द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक 'काम' को विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

माहिनः इन्द्रः

स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
अजनयत्सूर्यं विदद्गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत्॥ ३॥

१. **सः**=वह **माहिनः**=पूजा की वृत्तिवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अहिहा**=वासनारूप अहि का हनन करनेवाला होता हुआ **अपाम् अर्णः**=ज्ञान जलों के प्रवाह को **समुद्रम् अच्छा**=(स मुद्) उस आनन्दमय प्रभु की ओर **प्रैरयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् जब हम प्रभुपूजन करते हैं तो वासना विनष्ट होती है और हमारा ज्ञानप्रवाह हमें आनन्दमय प्रभु की ओर ले-चलनेवाला होता है। २. यह अहिहा इन्द्र अहि का हनन करने पर **सूर्यम् अजनयत्**=ज्ञानसूर्य को प्रादुर्भूत करता है। बादल के हटने पर जैसे सूर्य चमक उठता है, इसी प्रकार वासना के विनष्ट होने पर ज्ञान के सूर्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह **अहिहा गा**=ज्ञान की वाणियों को **विदद्**=प्राप्त करता है और **अक्तुना**=ज्ञानरश्मियों द्वारा **अह्नाम्**=दिनों के **वयुनानि**=प्रज्ञानों व कर्मों को **साधत्**=सिद्ध करता है, अर्थात् जहाँ दैनिक कार्यक्रम को ठीक प्रकार निभाता है वहाँ प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को भी बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—वासनारूप आवरण के हटते ही ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और हमारे दैनिक प्रज्ञान व कर्म ठीक प्रकार चलते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्य-सम्भजन स्पर्धा

सो अप्रतीनि मनवे पुरूणीन्द्रो दाशद्दाशुषे हन्ति वृत्रम्।
सद्यो यो नृभ्यो अतसाय्यो भूत्पस्पृधानेभ्यः सूर्यस्य सातौ॥ ४॥

१. **सः इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **पुरूणि**=बहुत अथवा पालक व पूरक **अप्रतीनि**=अनुपम (उत्कृष्ट) बलों को **दाशत्**=देते हैं। **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **हन्ति**=विनष्ट करते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **सूर्यस्य सातौ**=ज्ञानसूर्य की प्राप्ति में **पस्पृधानेभ्यः**=स्पर्धा से आगे बढ़ते हुए **नृभ्यः**=पुरुषों के लिये **अतसाय्यः**=निरन्तर जाने योग्य (प्राप्त होने योग्य) **भूत्**=होता है। वस्तुतः संसार में दो ही प्रवृत्तियाँ हैं (क) ज्ञानाभिमुखी (ख) भोगप्रवणा। ज्ञानाभिमुखी वृत्ति वाले लोग ज्ञानप्राप्ति में परस्पर स्पर्धा से आगे बढ़ते हुए प्रभु के प्रिय होते हैं। भोगप्रवणा वृत्तिवाले भोगों में फंसकर प्रकृति के बन्धन में बद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु विचारशील पुरुष को शक्ति प्राप्त कराते हैं और उसकी वासनाओं को विनष्ट करके उसके ज्ञानसूर्य को दीप्त करते हैं। इन ज्ञानप्रवण लोगों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्योदय

स सुन्वत इन्द्रः सूर्यमादेवो रिणङ्मर्त्याय स्तवान्।
आ यद्रयिं गुहदवद्यमस्मै भरदंशं नैतशो दशस्यन्॥ ५॥

१. **स इन्द्रः**=वे शक्तिशाली प्रभु **स्तवान्**=स्तुति किये जाते हुए **देवः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले (देवः द्योतनात्) होते हुए **सुन्वते**=अपने अन्दर सोमशक्ति का संपादन करनेवाले मनुष्य के लिए **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **आरिणक्**=वासनारूप मेघों से पृथक् करते हैं (to separate)। मनुष्य प्रभु का स्तवन करता है—प्रभु उसके लिए वासना को जीतते हैं और इसके ज्ञानसूर्य को दीप्त कर देते हैं। २. **यद्**=जब **एतशः**=(एतः=शुद्ध, शी=निवास करना) शुद्धता में निवास करनेवाला—जीवन को शुद्ध बनानेवाला **दशस्यन्**=यज्ञों में आहुतियों को देता हुआ होता है तो वे प्रभु **अस्मै**=इसके लिए उस **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **भरत्**=प्राप्त कराते हैं, जो कि **गुहद् अवद्यम्**=सब बुराइयों को संवृत कर डालनेवाला है। ज्ञान होने पर बुराइयों का विध्वंस हो जाता है। प्रभु उसी प्रकार इस एतश के लिए ज्ञानैश्वर्य को देते हैं, **न**=जैसे कि पिता प्रभु के लिए **अंशं भरत्**=सम्पत्ति के अंश को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु यज्ञशील पुरुष के लिए ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञानैश्वर्य सब अशुभवृत्तियों को विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्ण व शंबर का विनाश

स र॑न्धयत्स॒दिवः॒ सार॑थये॒ शुष्ण॑म॒शुषं॒ कुय॑वं॒ कुत्सा॑य।
दिवो॑दासाय नव॒तिं च॒ नवेन्द्रः॒ पुरो॒ व्यै॒रच्छम्ब॑रस्य॥ ६॥

१. **सः**=वे **सदिवः**=दीप्तियुक्त प्रभु **सारथये**=अपना सारथ्य करते हुए—अपने शरीररथ का उत्तम संचालन करते हुए **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले कुत्स के लिए **अशुषम्**=कभी भी न सूखनेवाले—न समाप्त होनेवाले **शुष्णम्**='काम' रूप शुष्णासुर को (जिस पर यह आक्रमण करता है, उसे सुखा डालता है) **रन्धयत्**=(rend) नष्ट करता है। उस शुष्णासुर को नष्ट करता है जो कि '**कुयवम्**' बुराइयों को हमारे साथ जोड़नेवाला है (यु मिश्रणे) (कु+यु)। ''काम'' अन्य सब वासनाओं का मूल बनता है। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **दिवःदासाय**= ज्ञान के भक्त के लिए **शम्बरस्य**=शक्ति को आवृत्त कर लेनेवाले शम्बरासुर के **नवतिं च नव**=निन्यानवे **पुरः**=नगरियों को **व्यैरत्**=विदारित करता है।

भावार्थ—जब हम अपने शरीररथ का संचालन करते हैं (मन हमें इधर उधर ले-जानेवाला नहीं होता) उस समय प्रभु हमारी कामवासना को दूर करते हैं। हम ज्ञान के भक्त बनें तो प्रभु हमारे से ईर्ष्या को दूर करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासना से ज्ञान व आत्मशक्ति का विकास

ए॒वा त॑ इन्द्रो॒चथ॑महेम श्रव॒स्या न त्मना॑ वा॒जय॑न्तः।
अ॒श्याम॒ तत्साप्त॑माशुषा॒णा न॒नमो॒ वध॒रदे॑वस्य पी॒योः॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **एवा**=इस प्रकार **ते**=आपके **उचथम्**=स्तोत्र को **अहेम**=प्राप्त हों **न**=जैसे **श्रवस्या**=ज्ञान की कामना से वैसे ही **त्मना**=आत्मिक दृष्टिकोण से **वाजयन्तः**=शक्ति को अपनाना चाहते हुए हम आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपके उपासन से जहाँ बुद्धि की निर्मलता से ज्ञान की वृद्धि होती है वहाँ आत्मिक बल भी बढ़ता है। २. हम आपकी उपासना के साथ **आशुषाणाः**=उपासना द्वारा आपका व्यापन करते हुए (अश् व्याप्तौ) अथवा शीघ्रता से कार्यों का सेवन करते हुए **तत्**=उस आपकी **साप्तम्**=मित्रता को (साप्तपदीनं सख्यम्)

अश्याम=प्राप्त करें। हम आपकी मित्रता को प्राप्त करते हैं तो आप **अदेवस्य**=देवभावना से विपरीत **पीयोः**=हिंसक आसुरभाव के **वधः**=आयुध को **ननमः**=हमारे लिए झुका देते हैं। आपके मित्रों पर यह असुरों का आयुध आक्रमण नहीं कर पाता।

भावार्थ—उपासना से हमारा ज्ञान बढ़ता है और आत्मिकशक्ति बढ़ती है। प्रभु की मित्रता में हमारे पर असुरों के आयुध आक्रमण नहीं कर पाते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इष-ऊर्ज-सुक्षिति-सुम्न

एवा ते गृत्समदाः शूर मन्मावस्यवो न वयुनानि तक्षुः।
ब्रह्मण्यन्त इन्द्र ते नवीय इषमूर्जं सुक्षितिं सुम्नमश्युः॥ ८॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **गृत्समदाः**=(गृणाति, माद्यति) आपका स्तवन करनेवाले व प्रसन्न रहनेवाले व्यक्ति **एवा**=इस प्रकार **ते**=आपके **मन्म**=स्तोत्र को **तक्षुः**=बनाते हैं—आपकी स्तुति करते हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **वयुनानि**=प्रज्ञानों व कर्मों को सम्पादित करते हैं, प्रज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से ही रक्षण होता है। २. **ब्रह्मण्यन्तः**=ज्ञान व स्तोत्रों की कामना करते हुए लोग हे **इन्द्र**=हे प्रभो! **ते**=आपके—आपसे दिये गये **नवीयः इषम्**=प्रशंसनीय (नु स्तुतौ) अन्नों को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को, **सुक्षितिम्**=उत्तम निवास को तथा **सुम्नम्**=सुख को **अश्युः**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उपासक को प्रभु उत्कृष्ट अन्न, बल, उत्तमनिवास व सुख प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उपासना से ऐहिक अभ्युदय भी प्राप्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानयज्ञों में

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ९॥

इस मन्त्र की व्याख्या २.११.२१ पर देखिए।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु उपासक के वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं—उसके जीवन में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं—और उसे अभ्युदय को प्राप्त कराके उसके ऐहिक जीवन को भी उत्तम बनाते हैं। सो हम प्रभु के ही बनें।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुभक्तों के सम्पर्क में

वयं ते वय इन्द्र विद्धि षु णः प्र भरामहे वाजयुर्न रथम्।
विपन्यवो दीध्यतो मनीषा सुम्नमियक्षन्तस्त्वावतो नॄन्॥ १॥

१. **वयम्**=हम हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयः**=अपने जीवन को **ते**=आपके प्रति **सुप्रभरामहे**=अच्छी प्रकार प्राप्त कराते हैं। आपके उपासन में ही अपने जीवन को बिताते हैं। **नः**=हमारा **विद्धि**=आप ध्यान करिए (Look after) हमारे भले-बुरे का आपने ही ध्यान करना है। **न**=जैसे **वाजयुः**=संग्राम की कामनावाला **रथम्**=रथ का प्रभरण (सम्पादन) करता है, उसी प्रकार हम अपने जीवन में आपको धारण करने का प्रयत्न करते हैं। जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए

आपको ही रथ के रूप में जानते हैं। २. वे हम आपका धारण करते हैं जो कि (क) **विपन्यवः**=विशिष्ट स्तुतिवाले बनने का प्रयत्न करते हैं—अपने मनों को आपके स्तवन में लगाने का प्रयत्न करते हैं (ख) **मनीषा दीध्यतः**=बुद्धि द्वारा दीप्त होते हैं। स्वाध्याय को जीवन का दैनिक कृत्य बनाकर बुद्धि दीप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। (ग) **त्वावतःनृन्**= आप जैसे—अपने को आपका ही छोटा रूप बनानेवाले—लोगों से **सुम्नम्**=स्तोत्रों को **इयक्षन्तः**= अपने साथ हम जोड़ने की कामनावाले बनते हैं। (Longing for) आपके उपासकों के सम्पर्क में आकर हम भी आपके उपासक बनते हैं। वस्तुतः प्रभुतुल्य जीवनवाले—प्रभुपरायण लोगों का संग हमें भी प्रभु जैसे बनने की प्रेरणा व उत्साह देता है।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपनी जीवनयात्रा का रथ बनाएँ। प्रभुभक्तों के संग से हम भी प्रभुभक्त बन कर जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'अभिष्टिपा+वरूता' प्रभु

त्वं न इन्द्र त्वाभिरूती त्वायतो अभिष्टिपासि जनान्।
त्वमिनो दाशुषो वरूतेत्थाधीरभि यो नक्षति त्वा॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हम **जनान्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले (जनी प्रादुर्भावे) **त्वायतः**=आपको प्राप्त होने की कामना वाले लोगों को **त्वाभिः**=अपने (त्वदीयाभिः) **ऊती**=रक्षण द्वारा **अभिष्टिपा असि**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से रक्षित करनेवाले हैं। आपसे रक्षित होने पर ही हम वासनाओं का शिकार नहीं होते। २. **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले के **त्वम्**=आप ही **इनः**=स्वामी हैं। **वरूता**=आप ही उसके विघ्नों का निवारण करनेवाले हैं। वस्तुतः **यः**=जो भी पुरुष **त्वा अभिनक्षति**=(नक्ष् to come near. approach) आपके समीप प्राप्त होता है, वह **इत्था धीः**=सत्य बुद्धिवाला होता है (Performing true works) वह सदा सत्यकर्मों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक का रक्षण करते हैं। रक्षित हुआ वह सत्यबुद्धिवाला व सत्य-कर्मोंवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शिवः सखा

स नो युवेन्द्रो जोहूत्रः सखा शिवो नरामस्तु पाता ।
यः शंसन्तं यः शशमानमूती पचन्तं च स्तुवन्तं च प्रणेषत्॥ ३॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले **सखा**=मित्र हैं। वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं, **जोहूत्रः**=निरन्तर ह्वातव्य=पुकारने योग्य हैं। **शिवः**=कल्याणकर हैं। वे प्रभु **नराम्**=कर्मों का प्रणयन करनेवाले लोगों के **पाता अस्तु**=रक्षक हैं। वस्तुतः अकर्मण्य व्यक्ति कभी भी प्रभु की रक्षा का पात्र नहीं होता। २. वे प्रभु रक्षक होते हैं, **यः**=जो कि **शंसन्तम्**=शंसन करनेवाले को—सदा स्तुतिवचनों के बोलनेवाले को **ऊती**=रक्षण द्वारा **प्रणेषत्**=उन्नतिपथ पर ले-चलते हैं। **यः**=जो **शशमानम्**=प्लुत गति से कार्य करनेवाले को अपने रक्षण में आगे ले-चलते हैं। **पचन्तं च स्तुवन्तं च**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले को तथा स्तवन करनेवाले को आगे ले-चलते हैं। सुन्दर जीवन यही है कि हम ज्ञान से अपने को परिपक्व करें तथा स्तवन करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक होते हैं—हमारा कर्तव्य है कि हम ज्ञानपरिपक्व तथा स्तोता बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानी-कर्मठ-उपासक

तमु स्तुष इन्द्रं तं गृणीषे यस्मिन्पुरा वावृधुः शाशदुश्च।
स वस्वः कामं पीपरदियानो ब्रह्मण्यतो नूतनस्यायोः॥ ४॥

१. **तम् इन्द्रम्** उ=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **स्तुषे**=मैं स्तवन करता हूँ, **तम्**=उस प्रभु के ही **गृणीषे**=नामों का उच्चारण करता हूँ। **यस्मिन्**=जिस प्रभु में आसीन होनेवाले उपासक **वावृधुः**=खूब वृद्धि को प्राप्त होते हैं, **च**=और **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) इस शरीरनगरी के पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **शाशदुः**=काम-क्रोध-लोभ का संहार करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **इयानः**=याच्यमान होते हुए—प्रार्थना किये जाते हुए **ब्रह्मण्यतः**=ज्ञान की कामनावाले, **नूतनस्य**=(नु स्तुतौ) सदा स्तुति में स्थित होनेवाले, **आयोः** (इ गतौ)=गतिशील क्रियामयजीवन वाले पुरुष के **वस्वः कामम्**=धन की अभिलाषा को **पीपरत्**=पूर्ण करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में स्तवन तथा हाथों में क्रिया के होने पर प्रभु हमें सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही नाम जपें। प्रभु हमारा वर्धन करते हैं—हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। ज्ञानी, उपासक व क्रियाशील बनने पर प्रभु हमें 'वसुमान्' बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अश्न का शिथिलीकरण

सो अङ्गिरसामुचथा जुजुष्वान्ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुमिष्णन्।
मुष्णन्नुषसः सूर्येण स्तवानश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले उपासकों के—स्वस्थ, सबल व सुन्दर शरीरवाले उपासकों के **उचथा**=स्तोत्रों को **जुजुष्वान्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। शरीर को जीर्ण कर लेनेवाला क्या प्रभु का उपासक है? यह अङ्गिरसों के स्तोत्रों से प्रीणित हुआ-हुआ **इन्द्रः**=प्रभु **गातुम् इष्णन्**=मार्ग की प्रेरणा देता हुआ **ब्रह्म**=उनके ज्ञान को **तूतोत्**= बढ़ाता है। वस्तुतः ज्ञानवर्धन के द्वारा ही प्रभु उन्हें मार्गप्रदर्शन करते हैं। २. **स्तवान्**=स्तुति किये जाते हुए वे प्रभु जैसे **सूर्येण**=सूर्य के प्रकाश द्वारा **उषसः मुष्णन्**=उषाओं का अपहरण करते हैं, इसी प्रकार **अश्नस्य**=इस कभी न तृप्त होनेवाले, बड़े खानेवाले महाशन काम की **पूर्व्याणि चित्**=अत्यन्त प्रबल शक्तियों को भी **शिश्नथत्**=शिथिल कर देते हैं। 'पूर्व्याणि'=पूर्व स्थान में होनेवाली—अत्यन्त प्रबल काम की शक्तियों को प्रभु ढीला कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन काम के प्रबल आक्रमणों को भी ढीला कर देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम-शिरश्छेदन

स ह श्रुत इन्द्रो नाम देव ऊर्ध्वो भुवन्मनुषे दस्मतमः।
अव प्रियमर्शसानस्य साह्वाञ्छिरो भरद्वासस्य स्वधावान्॥ ६॥

१. **सः**=वे **हः**=निश्चय से **श्रुतः**=(श्रुतमस्यासीति) ज्ञान के पुञ्ज **इन्द्रः नाम**=शक्तिशाली प्रभु ही **देवः**=प्रकाशमय हैं, सब कुछ देनेवाले हैं (देवः द्योतनात्, दानात्)। **दस्मतमः**=अत्यन्त दर्शनीय अथवा सब दुःखों को विनष्ट करनेवाले प्रभु **मनुषे**=विचारशील पुरुष के लिए—इसके हित के लिए **ऊर्ध्वः भुवत्**=सदा उद्यत होते हैं, विचारशील पुरुष का वे कल्याण करते ही हैं।

२. वे **स्वधावान्**=बलवान् प्रभु अपनी धारणशक्तिवाले **साह्वान्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले प्रभु **अर्शसानस्य**=(लोकं बाधमानस्य=striving to hurt) लोकों को पीड़ित करनेवाले **दासस्य**=शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम के **प्रियं शिरः**=दर्शनीय व सुन्दर सिर को **अवभरत्**=पृथक् कर देते हैं—काट डालते हैं। काम को विनष्ट करके प्रभु हमें पीड़ित होने से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हित के लिये सदा उद्यत हैं। वे ही काम के सिर को काटकर हमें उससे पीड़ित नहीं होने देते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कृष्णयोनि वृत्तियों का विनाश

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद्वि ।
अजनयन्मनवे क्षामपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतोत् ॥ ७ ॥

१. **सः**=वह **वृत्रहा**=वासना का विनष्ट करनेवाला **पुरन्दरः**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला—इन्द्रियों में बनी हुई काम की पुरी को, मन में बनी हुई क्रोध की पुरी को तथा बुद्धि में बनी हुई लोभ की पुरी को विनष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **कृष्णयोनीः**=मलिन-चित्तवृत्तियों को जन्म देनेवाली **दासीः**=उपक्षय की कारणभूत वासनाओं को **वि ऐरयत्**=विदीर्ण करता है। प्रभु की उपासना अशुभ-वृत्तियों को हमारे से दूर करती है। २. इस प्रकार अशुभवृत्तियों को दूर करके प्रभु **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **क्षाम्**=पृथिवी को **अपः च**=अन्तरिक्षलोक को **अजनयत्**=आविर्भूतशक्तिवाला करता है। प्रभु इसके पृथिवीरूप शरीर को तथा अन्तरिक्षरूप हृदय को बड़ा उत्तम बनाते हैं। वस्तुतः वासनाजनित रोग यदि शरीर को निर्बल करते हैं तो वासनाएँ हृदय को मलिन करती हैं। वासनाओं के विनाश से शरीर और हृदय दोनों ही सुन्दर बन जाते हैं। ३. इस प्रकार वे प्रभु **यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष की **शंसम्**=कामना को **सत्रा**=सदा **तूतोत्**=पूर्ण करके बढ़ाते हैं। इसकी यज्ञियवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही चलती है। यज्ञमय बनकर अन्ततः यह यज्ञरूप प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी अशुभवृत्तियों को दूर करके हमें स्वस्थ शरीर व निर्मल मन प्रदान करते हैं। हमारी यज्ञियवृत्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुरों की लौहपुरियों का विध्वंस

तस्मै तवस्यमनु दायि सत्रेन्द्राय देवेभिरर्णसातौ ।
प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धृहत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नि तारीत् ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जिसका जीवन अधिकाधिक यज्ञमय होता जाता है **तस्मै**=उस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अर्णसातौ**=ज्ञानजल की प्राप्ति के निमित्त **देवेभिः**=सब देवों से **सत्रा**=सदा **तवस्यम्**=वृद्धि का कारणभूत बल **अनुदायि**=क्रमशः दिया जाता है। सूर्य, चन्द्र व जलवायु आदि सब देव इसके अनुकूल होते हैं—इन देवों की अनुकूलता से इसके बल की वृद्धि होती है। बल की वृद्धि के साथ यह ज्ञानजल को प्राप्त करनेवाला होता है। सूर्यादि देव इसे बल देते हैं और ज्ञानी-विद्वान्-पुरुष इसके ज्ञान का वर्धन करनेवाले होते हैं। २. ये देव **अस्य बाह्वोः**=इसकी बाहुओं में **यद्**=जब **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **प्रति धुः**=धारण करते हैं, अर्थात् इसे स्वस्थ व ज्ञानी बनाकर क्रियाशील बनाते हैं तो यह **दस्यून् हत्वी**=दस्युओं को मारकर, अर्थात् दास्यववृत्तियों को विनष्ट करके **आयसीः पुरः**=लोहे के बने हुए, अर्थात् बड़े दृढ़ दस्युओं के पुरों

को **नितारीत्**=विनष्ट करता है। ये 'आयसी:पुर:' दस्युओं के तीन पुर ही हैं। काम का इन्द्रियों में, क्रोध का मन में तथा लोभ का बुद्धि में जो किला बन जाता है उन अति दृढ़ तीनों किलों को विदीर्ण करके यह 'त्रिपुरारि' बन जाता है। यही प्रभु जैसा बनना है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्र व जलवायु आदि देवों से हमें स्वास्थ्य व शक्ति प्राप्त हो, ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त हो। अब क्रियाशील बनकर हम असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले बनें।

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

वरवस्तु-दोहन

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीरा:॥ ९॥

इसका व्याख्यान २.११.२१ पर द्रष्टव्य है।

यह सारा सूक्त प्रभु के उपासन से अशुभवृत्तियों के विध्वंस का संकेत करता है। अगले सूक्त में कहते हैं कि प्रभु ही विश्वजित् हैं, वे ही शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। अत: इस प्रभु का ही स्तवन करना व प्रसन्न रहना हमारा कर्त्तव्य है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

विश्वजित् प्रभु

विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते।
अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम्॥ १॥

१. उस **विश्वजिते**=सब का विजय करनेवाले **यजताय**=उपास्य **इन्द्राय**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए **हर्यतम्**=कमनीय—चाहने योग्य व सुन्दर **सोमं भर**=सोम का भरण करो। सोम के शरीर में रक्षण द्वारा ही ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। वे प्रभु विश्वविजयी हैं। प्रभु की प्राप्ति से हम भी विश्वविजेता बनते हैं। २. उस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का भरण करो जो कि **धनजिते**=सब धनों का विजय करनेवाले हैं। **स्वर्जिते**=प्रकाश व स्वर्ग का विजय करनेवाले हैं। प्रभुप्राप्ति से प्रकाश की प्राप्ति होती है—जीवन स्वर्गतुल्य, सुखसम्पन्न बनता है। **सत्राजिते**=वे प्रभु सदा विजय प्राप्त करनेवाले हैं। **नृजिते**=शत्रुओं के नायकों को पराजित करनेवाले हैं। ३. उपासकों के लिए **उर्वराजिते**=सर्वसस्याढ्या (fertile) उपजाऊ भूमि को प्राप्त करानेवाले हैं। **अश्वजिते गोजिते**=घोड़ों व गौओं को प्राप्त करानेवाले हैं तथा **अब्जिते**=उत्तम जलों को देनेवाले हैं। अध्यात्म में नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि ही 'उर्वरा' है, कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ 'गौवें' हैं तथा रेत:कण 'आप:' हैं। प्रभु 'बुद्धि-उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व रेत:कणों' को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु विश्वजित् हैं। उपासक प्रभु को प्राप्त करने के द्वारा सब कुछ ही प्राप्त कर लेता है।

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

'अभिभू' प्रभु

अभिभुवेऽभिभङ्गाय वन्वतेऽषाळ्हाय सहमानाय वेधसे।
तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत॥ २॥

१. **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **नमः वोचत**=नमस्कार करो। जो प्रभु **अभिभुवे**=तुम्हारे सब शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हैं। **अभिभंगाय**=चारों दिशाओं में शत्रुओं को पराजित करनेवाले हैं (रणे भंगः पराजयः)। शत्रुओं को अभिभूत व पराजित करके **वन्वते**=उनके सब धनों को जीतनेवाले हैं (वन्=win)। **अषाढाय**=कभी पराजित होनेवाले नहीं, **सहमानाय**=सब शत्रुओं का मर्षण (कुचलना) करनेवाले हैं। **वेधसे**=सबके विधाता हैं। २. **तुविग्रये**=महान् ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं। प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में वेदरूप ज्ञान को देते हैं। **वह्नये**=प्रभु ही इस संसार-शकट को वहन **करनेवाले** हैं। **दुष्टरीतवे**=सब शत्रुओं को तैर जाने के लिए प्रभु ही साधन हैं। **सत्रासाहे**=प्रभु ही सदा हमारे शत्रुओं का मर्षण कर रहे हैं। इन प्रभु के लिये हम नमस्कार करें। प्रभु की शरण में जाकर सब शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु सब शत्रुओं को पराजित करनेवाले हैं। प्रभु की शरण में जानेवाला सब शत्रुओं को कुचल पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'च्यवन' प्रभु

स॒त्रा॒सा॒हो ज॑नभ॒क्षो ज॑नंस॒हश्च्यव॑नो यु॒ध्मो अनु॒ जोष॑मुक्षि॒तः।
वृ॒तं॒च॒यः सहु॑रिर्वि॒क्ष्वा॑रि॒त इन्द्र॑स्य वोचं॒ प्र कृ॒तानि॑ वी॒र्या॑॥ ३॥

१. वे प्रभु **सत्रासाहः**=सदा शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। **जनभक्षः**=अपनी शक्ति का प्रादुर्भाव करनेवाले लोगों से सम्भजनीय होते हैं—वस्तुतः प्रभु की भक्ति यही है कि हम अपनी शक्तियों का ठीक प्रकार से विकास करें। **जनंसहः**=प्रभु बलाभिमानी जनों का अभिभव करनेवाले हैं, **च्यवनः**=इन शत्रुभूत पुरुषों को स्वस्थान से च्युत करनेवाले **युध्मः**=योद्धा हैं। **जोषम् अनु**=प्रीतिपूर्वक उपासना के अनुपात में **उक्षितः**=हमारे जीवनों में सिक्त होते हैं। जितनी हम उपासना करते हैं—उतना ही प्रभु को पाते हैं। प्रभुप्राप्ति के अनुपात में ही हमारे शत्रुओं का क्षय होता है। **वृतंचयः**=(वर्तते-पुनः-पुनः=अभिमुखमागच्छति इति वृत् शत्रुः, तं चयते हिनस्ति) हमारे शत्रुओं का वे प्रभु हिंसन करनेवाले हैं। **सहुरिः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हैं तथा **विक्षु आरितः**=सब प्रजाओं में पालकरूप से वे प्रभु प्राप्त हैं। इस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **कृतानि वीर्या**=किये हुए वृत्रहनादि कर्मों का **प्रवोचम्**=मैं प्रवचन व स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—जितना हम प्रभु का उपासन करते हैं, उसी अनुपात में वे हमारे शत्रुओं का संहार करके हमारे जीवन को सुखी करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासनादहन व ज्ञानसूर्योदय

अ॒ना॒नु॒दो वृ॑ष॒भो दोध॑तो व॒धो ग॑म्भी॒र ऋ॒ष्वो अस॑मष्टकाव्यः।
र॒ध्र॒चो॒दः श्नथ॑नो वीळि॒तस्पृ॒थुरिन्द्रः॑ सुय॒ज्ञ उ॒षसः॒ स्व॑र्जनत्॥ ४॥

१. **अनानुदः**=(अनुददाति अनुदः) उस प्रभु के समान देनेवाला कोई भी नहीं है, **वृषभः**=वह सब सुखों का वर्षण करनेवाला है। **दोधतः**=हमारे हिंसक शत्रुओं का **वधः**=वे वध करनेवाले हैं। **गंभीरः**=अपनी महिमा के कारण गाम्भीर्य से युक्त हैं। **ऋष्वः**=महान् व दर्शनीय हैं। **असमष्टकाव्यः**=(अ सम्, अश व्याप्तौ) अन्यों से अव्याप्त क्रान्तदर्शिता व बुद्धिमत्तावाले हैं। २. **रध्रचोदः**=(रध संराद्धौ) सब समृद्धियों के प्रेरक हैं। **श्नथनः**=शत्रुओं के बलापहरण के द्वारा उनका शातन करनेवाले हैं। **वीडितः**=दृढ़ अङ्गोंवाले हैं। **पृथुः**=अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को

व्याप्त करके (प्रथ विस्तारे) वर्तमान हैं। **सुयज्ञः**=उत्तम सृष्टिरूप यज्ञ के प्रवर्तक हैं। ये प्रभु ही **उषसः**=उषाओं को व **स्वः**=सूर्य को **जनत्**=उत्पन्न करते हैं। ३. अध्यात्म में 'उषसः' का भाव 'वासनाओं का दहन' है (उष दाहे) तथा 'स्वः' का भाव 'ज्ञानसूर्य' है। प्रभु उपासक की वासनाओं को दग्ध करते हैं और उसके मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य को उदित करते हैं।

भावार्थ—वे अनुपम प्रभु हमारी वासनाओं को दग्ध करके हमारे अन्दर ज्ञानसूर्य को उदित करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मार्गदर्शन व द्रविणप्राप्ति

यज्ञेन गातुमसुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजो मनीषिणः।
अभिस्वरा निषदा गा अवस्यव इन्द्रे हिन्वाना द्रविणान्याशत ॥ ५ ॥

१. **यज्ञेन**=उपासना के द्वारा (यज् देवपूजा) **गातुम्**=मार्ग को **विविद्रिरे**=जान पाते हैं। कौन? (क) **असुरः**=कर्मों को त्वरा से करनेवाले—कर्मों को अपने अन्दर प्रेरित करनेवाले। (ख) **धियः हिन्वानाः**=बुद्धियों को अपने अन्दर प्रेरित करनेवाले। (ग) **उशिजः**=प्रभुप्राप्ति की कामना वाले (घ) **मनीषिणः**=बुद्धिमान्—बुद्धि द्वारा मन का शासन करनेवाले। ये लोग उपासना द्वारा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं और अपने कर्तव्यमार्ग का ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. ये **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **गाःहिन्वानाः**= स्तुतिवचनों को प्रेरित करते हुए **अभिस्वराः**=दिन के दोनों ओर प्रातः व सायं प्रभु के नामों का उच्चारण करने द्वारा तथा **निषदा**=प्रभु के चरणों में नम्रता से बैठने द्वारा (नि+सद्) **द्रविणा नि**=जीवनयात्रा को सुन्दरता से चलानेवाले धनों को **आशत**=व्याप्त करते हैं। इन धनों को प्राप्त करके वे सुन्दरता से जीवनयात्रा पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—उपासना के दो लाभ हैं (क) मार्गदर्शन (ख) द्रविणप्राप्ति।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ द्रविण

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **श्रेष्ठानि द्रविणानि अस्मे धेहि**=श्रेष्ठ धनों का हमारे लिए धारण करिए। (क) सबसे प्रथम तो **दक्षस्य**=कार्यों को करने में कुशल पुरुष की **चित्तिम्**=चेतना हमें प्राप्त कराइए। हम कभी भी कर्ममार्ग में कुण्ठमस्तिष्क (Confused), न हो जाएँ—हम प्रत्येक समस्या को सुलझा करके आगे बढ़नेवाले हों। (ख) **सुभगत्वम्**=हमें सौभाग्यसम्पन्न बनाइए। हमारी प्रत्येक क्रिया में यश व श्री टपके। (ग) **रयीणां पोषम्**=धनों के पोषण हमें प्राप्त कराइए। हम जीवन यात्रा के लिए आवश्यक धनों का पोषण करनेवाले हों (घ) **तनूनाम् अरिष्टिम्**=शरीरों की अहिंसा को, अर्थात् स्वास्थ्य को हमें प्राप्त कराइए। (ङ) **वाचः स्वाद्मानम्**= वाणी की स्वादुता को—माधुर्य को हमें दीजिए तथा (च) **अह्नाम् सुदिनत्वम्**= दिनों की शोभनता को दीजिये, अर्थात् हमारा एक-एक दिन बड़ा सुन्दर व्यतीत हो। २. जीवनयात्रा के सौन्दर्य के लिए उल्लिखित छह बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—हम कुशलता से कार्यों को करनेवाले हों, सौभाग्यसम्पन्न हमारे काम हों, धनों की कमी न हो, शरीर स्वस्थ हों, वाणी मधुर हो तथा एक-एक दिन सुन्दर व्यतीत हो।

भावार्थ—गतमन्त्र में संकेतित द्रविणों का प्रस्तुत मन्त्र में परिगणन हुआ है। इन द्रविणों के होने पर जीवन सफल हो जाता है।

सम्पूर्ण सूक्त इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। हम अकेले काम-क्रोध आदि को जीत नहीं सकते। प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं। और उपासकों को श्रेष्ठ द्रविण प्राप्त कराके यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करने में सक्षम करते हैं। अतः हमें सदा उस प्रभु का उपासन करना चाहिये—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'देव-सत्य-इन्दु' बनना

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

१. **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) जीवन के तीनों आह्वान कालों में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में **महिषः**=उस प्रभु का पूजन करनेवाला और अतएव **तुविशुष्मः**=महान् बलवाला **विष्णुना**=परमात्मा द्वारा **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **यवाशिरम्**=(यौति, आशृणाति) अशुभों को दूर करनेवाले, शुभों को हमारे साथ सम्पृक्त करनेवाले और सब रोगकृमियों व वासनाओं को शीर्ण करनेवाले **सोमम्**=सोम को **तृपत्**=तृप्ति अनुभव करता हुआ **अपिबत्**=अपने अन्दर ही पीता है—शरीर में ही उसे व्याप्त करता है। उतना-उतना व्याप्त कर पाता है **यथा अवशत्**=जितना-जितना इन्द्रियों को वश में करता है। २. इस प्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ और इन्द्रियों को वश में करता हुआ वह सोमपान करता है, वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करता है। **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **ममाद**=प्रसन्नता अनुभव करता है। **महि कर्म कर्तवे**=महान् कर्म करने के लिए समर्थ होता है और अन्त में यह सोमपान करनेवाला एवं इस **महाम्**=महान्—पूजनीय **उरुम्**=सर्वव्यापक प्रभु को **सश्चत्**=प्राप्त होता है। यह सोमपान करनेवाला उपासक **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला बन करके **एनं देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करता है। **सत्यः**=सत्यवादी व **इन्दु**=शक्तिशाली बन करके **सत्यम्**=उस सत्यस्वरूप **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पाता है।

भावार्थ—उपासक सोमरक्षण कर पाता है। सोमरक्षण से उल्लासमय जीवनवाला होता है, महान् कर्म करनेवाला होता है, तथा 'देव, सत्य व इन्दु' बनकर उस महान् 'देव, सत्य व इन्द्र' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होना

अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रिविं युधाभवदा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे।
अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ २ ॥

१. **अध**=अब यह गतमन्त्र का 'देव सत्य व इन्द्र' **त्विषीमान्**=ज्योतिवाला बनता है, **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **युधा**=युद्ध द्वारा **क्रिविम्**=हिंसा करनेवाले इस 'काम' को **अभ्यभवत्**=अभिभूत कर लेता है। काम को पूर्णरूप से अपने वश में कर लेता है। काम को वशीभूत करके **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **अपृणत्**=(आपूरयत्) पूर्ण बनाता है—मस्तिष्क का ज्ञान से पूरण करता है और शरीर का शक्ति से। वस्तुतः वह उपासक **अस्य मज्मना**=इस उपास्य प्रभु के बल से **प्रवावृधे**=वृद्धि को प्राप्त करता है। उपासक में उपास्य प्रभु

के बल का सञ्चार होता है और उसके बल से बलसम्पन्न होकर यह सब प्रकार से उन्नत होता है। २. वस्तुतः यह **अन्यम्**=उस अपने विलक्षण प्रिय प्रभु को **जठरे अधत्त**=अपने अन्दर धारण करता है और **ईम्**=निश्चय से **अरिच्यत**=खूब शक्तियों के अतिरेक (वृद्धि) को प्राप्त करता है। **सः**=वह **एनं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **देवः**=देव बनकर **सश्चत्**=प्राप्त होता है। **सत्यम्**=सत्यस्वरूप प्रभु को **सत्यः**=सत्यमय बनकर प्राप्त होता है और **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **इन्दु**=शक्तिशाली बनकर पाता है। 'देव' को देव बनकर, 'सत्य' को सत्य बनकर तथा 'इन्द्र' को इन्दु बनकर यह पानेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होता है और वासनारूप शत्रु को विनष्ट करके शरीर को शक्ति से भरता है तो मस्तिष्क को ज्ञान से।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्शक्वरीः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्रतु-ओज-वीर्य

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः।
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥ ३॥

१. गतमन्त्र का उपासक **क्रतुना**=प्रज्ञा व शक्ति के **साकम्**=साथ **जातः**=आविर्भूत शक्तियों-वाला होता है। मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में शक्ति होने पर यह **ओजसा साकम्**=ओजस्विता के साथ **ववक्षिथ**=बढ़ता है (वक्ष्=Vase)। **वीर्यैः साकम्**=शक्तियों के साथ **वृद्धः**=बढ़ा हुआ यह उपासक **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **सासहिः**=कुचलनेवाला होता है। इन 'काम-क्रोध-लोभ' को कुचलकर यह **विचर्षणिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है (seeing, observing)। प्रत्येक पदार्थ को यह ठीक ही रूप में देखता है। किसी भी पदार्थ की आपातरमणीयता इसे धोखे में नहीं डाल सकती। २. वे प्रभु इस **स्तुवते**=स्तोता के लिए **काम्यम्**=चाहने योग्य **राधः**=कार्यसाधक **वसु**=धन को **दाता**=देनेवाले होते हैं। प्रभु इसे जीवनयात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करने के लिए सब आवश्यक धनों को देते हैं। **सः**=वह उपासक **देवः**=देव बनकर **एनं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **सश्चत्**=प्राप्त करता है। **सत्य**=सत्यवाला होकर **सत्यम्**=सत्यस्वरूप प्रभु को पाता है और **इन्दुः**=शक्तिशाली होकर **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक प्रज्ञान व शक्ति के साथ वृद्धि को प्राप्त होता हुआ इन काम आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है—तत्त्वद्रष्टा बनता है। प्रभु इसे आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं। इससे इसकी जीवनयात्रा सफलता के साथ व्यतीत होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऊर्ज व इष की प्राप्ति

तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
यद्देवस्य शर्वसा प्रारिणा असुं रिणन्नपः ।
भुवद्विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्॥ ४॥

१. हे **नृतो**=सबको नृत्य करानेवाले—इस संसार-नेपथ्य में सभी को भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में उपस्थित करनेवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तव**=आपका **त्वत्**=वह प्रसिद्ध **नर्यम्**=नरहितकारी **अपः**=कर्म **प्रथमम्**=अत्यन्त विस्तारवाला है—**पूर्व्यम्**=यह आपका कर्म हमारा पालन व पूरण करनेवाला है (पृ पालनपूरणयोः) **दिवि**=यह सम्पूर्ण द्युलोक में **प्रवाच्यं कृतम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय हुआ है। प्रभु का यह ब्रह्माण्ड-निर्माणरूप कर्म अत्यन्त अद्भुत व प्रशंसनीय है। यह हमारे हित

के लिए है। २. इसमें **यद्**=जब **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु के **शवसा**=बल से **असुम्**=प्राणशक्ति को **रिणन्**=प्रेरित करता हुआ **अपः**=कर्मों को **प्रारिणाः**=अपने में प्रेरित करता है—अर्थात् जब तू सदा क्रियाशील बनता है, तो **विश्वम्**=सब **आ अदेवम्**=चारों ओर होनेवाली अदेववृत्तियों को **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **अभिभुवत्**=अभिभूत कर लेता है। इन अदेववृत्तियों को जीतकर **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **विदात्**=प्राप्त करता है और **शतक्रतुः**=सैकड़ों कर्मों व प्रज्ञानों वाला **इषम्**=प्रभुप्रेरणा को व वाञ्छनीय अन्नों को **विदात्**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु का गुणगान करनेवाला प्रभु से शक्ति प्राप्त करता है और सब अदेववृत्तियों को अभिभूत करके ऊर्ज व इष को प्राप्त करता है।

यही सूक्त का सार है कि हम प्रभु की उपासना से शक्तिसम्पन्न बनें। प्रभु ही सर्वोपरि है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

अथ तृतीयोऽनुवाकः

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गणपति प्रभु

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥ १ ॥

१. हमारा शरीर पंचभूतों के गण से बना है। उसके अन्दर पाँच प्राणों का एक गण है (प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान), पाँच कर्मेन्द्रियों का दूसरा गण है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों का तीसरा, पाँच अन्तःकरण के भागों का चौथा (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-हृदय)। इस प्रकार इन **गणानाम्**=गणों के **गणपतिम्**=स्वामी **त्वा**=आपको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। आपने ही तो हमारे इन गणों का रक्षण करना है। **कवीनां कविम्**=आप कवियों के कवि हैं—महान् क्रान्तदर्शी हैं। 'वेद' आपका महान् अजरामर काव्य है। **उपमश्रवस्तमम्**=उपमा देने योग्य है ज्ञान जिनका, उनमें आप सर्वोपरि हैं। एक ऊँचे योगी ऋषि के लिए इसी प्रकार कहते हैं कि वे तो परमात्मा के समान ज्ञानी हैं 'ब्रह्म इव'। इस प्रकार आपके ज्ञान से ही किसी के ज्ञान की उपमा दी जाती है। **ज्येष्ठराजम्**=आप सबसे श्रेष्ठ राजा है। अन्य राजा थोड़े से काल के लिए प्रदेश का शासन करते हैं। आप सदा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं 'इन्द्रो विश्वस्य राजति'। **ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते**=सम्पूर्ण ज्ञानों के आप पति हैं—गुरुओं के गुरु हैं—आदि गुरु हैं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। २. हे प्रभो! आप **नः शृण्वन्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हुए **ऊतिभिः**=हमारे रक्षणों के हेतु से **सादनम् आसीद**=हमारे हृदयरूप आसन पर बैठिए—हमारा हृदय आपका घर बने। हृदयस्थ आपके द्वारा हम रक्षण को प्राप्त हों। जहाँ आप हैं—वहाँ कामदेव नहीं होता। अतः हृदयों में आपके स्थित होने पर काम का स्वभावतः वहाँ प्रवेश न होगा।

भावार्थ—प्रभु सब गणों के पति हैं। हमारे हृदयों में स्थित हुए-हुए वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

असुर्य-बृहस्पति

देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि॥ २ ॥

१. हे **असुर्य**=(असु+र+य) प्राणशक्ति को प्राप्त करानेवालों में उत्तम, **बृहस्पते**=ज्ञान के

स्वामिन् प्रभो! **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट चेतना व ज्ञानवाले **देवाः**=देव **चित्**=निश्चय से **ते**=आपसे ही **यज्ञियं भागम्**=यज्ञों के लिए साधनभूत भजनीय धन को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं। देवों को देवत्व आप से ही प्राप्त होता है। वे यज्ञों के लिए धनों को भी आपसे ही प्राप्त करते हैं। २. **इव**=जैसे **ज्योतिषा महः**=प्रकाश के कारण महनीय **सूर्यः**=सूर्य **उस्त्राः**=किरणों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आप **विश्वेषाम्**=सब **ब्रह्मणाम्**=ज्ञान की वाणियों के **जनिता**=उत्पन्न करनेवाले हैं। सूर्य किरणों के द्वारा सर्वत्र प्रकाश फैलाते हैं, आप इन ज्ञानवाणियों द्वारा हमारे हृदयान्धकार को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राणशक्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। सूर्य जैसे किरणों को प्रादुर्भूत करता है, प्रभु उसी प्रकार ज्ञान की वाणियों को।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

परिवाद व अज्ञान से दूर

आ विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि।
बृहस्पते भीममभित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्॥ ३॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **परिरापः**=(रप्=लप्) इधर-उधर निन्दा की बातों को—परिवादों को **च**=और **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को—तामसी वृत्तियों को **आ विबाध्य**=पूर्णतया बाधित करके—इनको हमारे से दूर करके आप **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्ञान ज्योति से दीप्त **ऋतस्य रथम्**=ऋत के रथ पर **तिष्ठसि**=स्थित होते हैं। आप ही हमारे जीवनों को सुन्दर बनाते हैं—और हमारे इन निर्मलीभूत शरीररथों में स्थित होते हैं। २. यह शरीररथ **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है, **अमित्रदम्भनम्**=अमित्रों का हिंसन करनेवाला **रक्षोहणम्**=राक्षसीवृत्तियों का हनन करनेवाला बनता है। **गोत्रभिदम्**=अविद्यारूप पर्वत का विदारण करनेवाला और **स्वर्विदम्**=प्रकाश का प्राप्त करानेवाला होता है। यह सब होता तभी है जब यह उस 'बृहस्पति' ज्ञान के स्वामी प्रभु से अधिष्ठित होता है।

भावार्थ—जब हमारा यह शरीररथ प्रभु से अधिष्ठित होता है तो हमारे में परिवादरुचिता समाप्त हो जाती है—हम स्वाध्यायशील होकर ज्योतिर्मय जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञानरुचि बनना और क्रोध से ऊपर उठना

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्॥ ४॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यः तुभ्यं दाशात्**=जो उपासक अपने को आपके प्रति अर्पित कर देता है **तम् जने**=उस मनुष्य को आप **सुनीतिभिः**=उत्तम मार्गों से **नयसि**=ले चलते हैं और **त्रायसे**=उसका रक्षण करते हैं। उस पुरुष को **अंहः**=पाप व कुटिलता **न अश्नवत्**= व्याप्त नहीं करती। वह पाप व कुटिलता की ओर नहीं चलता। २. हे प्रभो! आप **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के साथ अप्रीतिवाले के **तपनः**=संतप्त करनेवाले हैं तथा **मन्युमीः असि**=क्रोध का विनाश करनेवाले हैं। हे प्रभो! वस्तुतः **तत्**=वह **ते**=आपका **महि महित्वनम्**=महान् महत्त्व है—यह आपका अद्भुत महिमापूर्ण कार्य है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को उत्तममार्ग से ले-चलते हैं। ज्ञान में अरुचि वाले को संतप्त करते हैं। क्रोध को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कुटिलता व पाप से दूर

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते॥ ५॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **सुगोपाः**=उत्तम रक्षक आप **यं रक्षसि**=जिसका रक्षण करते हैं, **तं**=उसको **न अंहः**=न तो कुटिलता, **न दुरितम्**=न पाप और **न अरातयः**=न ही अन्य शत्रु **तितिरुः**=हिंसित करते हैं। **द्वयाविनः**=मन में कुछ और क्रिया में कुछ और छलावी पुरुष भी प्रभुरक्षित को हिंसित नहीं कर पाते। २. हे प्रभो! आप **अस्मात्**=इस अपने रक्षणीय उपासक से **विश्वाः ध्वरसः**=सब हिंसाओं को **इत्**=निश्चय से **विबाधसे**=दूर ही रखते हैं। हम गौवें हैं, प्रभु 'गोपा' हैं। प्रभु से रक्षित होने पर हम कुटिलताओं व पापों से बचे रहते हैं। हमारे में 'अ-दान' की वृत्ति नहीं उत्पन्न होती, और हम द्वयावी नहीं बनते। सब प्रकार की हिंसक-वृत्तियों से ऊपर उठकर हम प्रभु के सच्चे भक्त बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित व्यक्ति कुटिलता, पाप, अदान की वृत्ति, छलछिद्र व हिंसा से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कटु विचारों का परिणाम

त्वं नो गोपाः पथिकृद्विचक्षणस्तव व्रताय मतिभिर्जरामहे।
बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती॥ ६॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **गोपाः**=रक्षक हैं, **पथिकृत्**=हमारे लिए मार्ग बनानेवाले हैं, **विचक्षणः**=विशेषेण द्रष्टा हैं—हमारा ध्यान करनेवाले हैं (Look after)। **तव व्रताय**=आपके व्रत के लिए **मतिभिः जरामहे**=बुद्धिपूर्वक आपका स्तवन करते हैं। आपके गुणों का चिन्तन करते हुए उन गुणों को अपनाने के लिए यत्नशील होते हैं। उपासक प्रभु के व्रतों का चिन्तन करता है—उन व्रतों को अपनाने के लिए यत्नशील होता है और इस प्रकार प्रभु जैसा—प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करता है। २. हे प्रभो! **यः**=जो भी **नः अभि**=हमारा लक्ष्य करके **ह्वरः दधे**=कुटिलता धारण करता है, **तम्**=उसको **स्वा दुच्छुना**=अपना ही दुरित (शुन गतौ)—अपना ही दुष्टाचरण **हरस्वती**=प्रबल वेगवाला होता हुआ **मर्मर्तु**=प्राणत्याग करानेवाला हो। अपनी कुटिलता का वह स्वयं शिकार हो जाय।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों—हम कुटिलता से दूर रहें। जो हमारे साथ कुटिलता करता है—यह कुटिलता उसी का नाश करनेवाली हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अविघ्नम्

उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः सानुको वृकः।
बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि॥ ७॥

१. **उत वा**=और **यः**=जो **अरातीवा**=शत्रुवत् हमारी ओर आनेवाला, **सानुकः**=(समुच्छ्रितः) अभिमान के कारण ऊपर उठाये हुए सिरवाला, **वृकः**=लोभी पुरुष **अनागसः**=निष्पाप **नः**=हमें **मर्चयात्**=हिंसित करे, **तम्**=उसको **पथः**=हमारे मार्ग से **अपवर्तया**=दूर करिए। वह हमें मार्ग पर आगे बढ़ने से रोक न सके। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! उसे हमारे मार्ग से दूर

करके आप **नः**=हमारी **अस्यै**=इस **देववीतये**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए व (देवानां वीतिर्यस्मिन्) यज्ञ के लिए **सुगं कृधि**=मार्ग को सुगमता से आने योग्य करिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से दुष्टपुरुष हमारे उत्तम कर्मों में विघ्न न डाल सकें। हमारे कर्म निर्विघ्नता से पूर्ण हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुराचरण से कल्याण असम्भव

त्रातारं त्वा तनूनां हवामहेऽवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम्।
बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन्॥ ८॥

१. हे **अवस्पर्तः**=सब उपद्रवों से पार करनेवाले **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के **त्रातारम्**=रक्षक **त्वाम्**=आपको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। **अधिवक्तारम्**=आप हमें आधिक्येन उपदेश देनेवाले हैं अथवा अधिष्ठातृरूपेण उपदेश देनेवाले हैं। **अस्मयुम्**=हमारे हित की कामनावाले हैं। प्रभु पूर्ण निःस्वार्थ होने से कभी किसी के अहित की कामना कर ही नहीं सकते। २. हे बृहस्पते! आप **देवनिदः**=देवों की निन्दा करनेवाले को—दिव्यगुणों का उपहास करनेवालों को **निबर्हय**=नष्ट करिए। वस्तुतः जब वे दिव्यगुणों से दूर होते जाते हैं तो मृत्यु वा विनाश के समीप होते चलते हैं। **दुरेवाः**=दुष्टगतिवाले पुरुष कभी **उत्तरं सुम्नम्**=उत्कृष्ट सुख को **मा उन्नशन्**=मत प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीरों के रक्षक हैं। दिव्यगुणों से दूर होनेवालों का वे विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धनप्राप्ति व दानशीलता

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि।
या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः॥ ९॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **सुवृधा**=हमारा उत्तम वर्धन करनेवाले **त्वया**=आपके द्वारा **वयम्**=हम **मनुष्याः**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाले (मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः) लोग **स्पार्हा**=स्पृहणीय **वसु**=धनों को **आददीमहि**=प्राप्त करें। विचारपूर्वक कर्म करते हुए हम उत्तम धनों की प्राप्ति के पात्र होते हैं। २. इन उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाले हम सदा दानशील हों। **याः**=जो **अरातयः**=अदान की भावनाएँ **नः दूरे**=हमारे से कुछ दूरी पर हैं **याः तडितः**=जो अदानवी वृत्तियाँ हमारे समीप हैं (तडितः=अन्तिके नि०) **ताः जम्भय**=उन सबको नष्ट करिए। **ताः अनप्नसः**=ये अदान की वृत्तियाँ (अप्नस् Shape, form) उत्तम रूपवाली नहीं है—ये हमारे जीवन की शोभा को बढ़ाती नहीं अथवा ये धन की वृद्धि करनेवाली नहीं (अप्नस् Possesion)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें धन प्राप्त हों और उन धनों को हम देनेवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तमं वयः=उत्कृष्ट जीवन

त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि॥ १०॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **पप्रिणा**=हमारा पूरण करनेवाले **सस्निना**=हमारे जीवन का शोधन करनेवाले **युजा**=सदा साथ रहनेवाले **त्वया**=तेरे से **वयम्**=हम **उत्तमं वयः**=उत्कृष्ट

जीवन को **धीमहे**=धारण करें। हम आपकी उपासना करें और आप हमारे जीवन की न्यूनताओं को दूर करके हमारे जीवन का शोधन करिए। इस प्रकार आपको साथी पाकर हम उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त हों। २. **दुःशंसः**=बुराइयों का शंसन करनेवाला—सदा अशुभ को शुभ के रूप में चित्रित करके हमें अशुभ की ओर ले-जानेवाला **अभिदिप्सुः**=हमारे इहलोक व परलोक दोनों का हिंसन करनेवाला व्यक्ति **नः**=हमारा **मा ईशत्**=ईश मत बन जाए। हम उसके प्रभाव में न आ जाएँ। उससे बहकाये जाकर हम अपना नाश न कर बैठें। ३. हम सदा **मतिभिः**=बुद्धिपूर्वक **सुशंसाः**=उत्तम स्तवन करते हुए **प्रतारिषीमहि**=इस भवसागर को तैर जाएँ। यहाँ विषयवासनारूप ग्राहों से गृहीत होकर बीच में ही डूब न जाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करते हुए उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करें। दुःशंस पुरुषों के प्रभाव में न आ जाएँ। प्रभुस्तवन से हमारी बुद्धि ठीक बनी रहे और हम भवसागर से तैर जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासक के 'ऋणयाः' तथा कामुक के 'दमिता' प्रभु

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीळुहर्षिणः ॥ ११ ॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **अनानुदः**=अनुपम दाता हैं—आपके समान दूसरा देनेवाला नहीं है। **वृषभः**=आप सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **आहवं जग्मिः**=हे प्रभो! आप हमारे अध्यात्मयुद्ध में कामादि शत्रुओं के प्रति आक्रमण करनेवाले हैं। **शत्रुं निष्टप्ता**=इन कामादि शत्रुओं को पूर्णरूप से संतप्त करनेवाले हैं। **पृतनासु**=संग्रामों में **सासहिः**=इन शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **सत्यःअसि**=सत्यस्वरूप हैं। **ऋणयाः**=हमारे ऋणों की अदायगी के लिए हमें समर्थ करनेवाले हैं—वस्तुतः आप ही हमें ऋणों से मुक्त करते हैं। आप से शक्ति पाकर हम इन ऋणों को चुका पाते हैं। आप **उग्रस्य चित्**=अत्यन्त प्रबल भी **वीळुहर्षिणः**=दृढ़ हर्षवाले (Erection) कामुक पुरुष के **दमिता असि**=दमन करनेवाले हैं।

भावार्थ—उपासक को प्रभु सब ऋणों को चुकाने का सामर्थ्य देते हैं और कामुक पुरुष का दमन करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुष्टों का शमन

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नो वधो नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः ॥ १२ ॥

१. **यः**=जो **अदेवेन मनसा**=अदेव अर्थात् आसुरवृत्तिवाले मन से **रिषण्यति**=हमारी हिंसा करना चाहता है और यदि कोई **शासाम् उग्रः**=शासकों में उग्र पुरुष भी **मन्यमानः**=अभिमान की वृत्तिवाला होकर **जिघांसति**=हमें मारने की कामना करता है, हे **बृहस्पते**=ज्ञानी प्रभो! **नः**=हमें **तस्य वधः**=उसका हिंसक आयुध या **प्रणक्**=मत प्राप्त हो। प्रभु की व्यवस्था से कोई अत्याचारी हमारे पर अत्याचार न कर सके। २. **दुरेवस्य**=दुष्ट आचरणवाले **शर्धतः**=बल के अभिमान में औरों को अपमानित करते हुए पुरुष के **मन्युम्**=क्रोध को **नि कर्म**=हम निश्चय से निराकृत करनेवाले हों। उसके अभिमान को तोड़कर उसे ठीक मार्ग पर ला सकें।

भावार्थ—आसुरभाववाले व्यक्ति हमें नुकसान न पहुँचा सकें। दुराचरणवाले पुरुषों के घमण्ड को हम तोड़नेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सब धनों के दाता' प्रभु

भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनंधनम्।
विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो३ मृधो बृहस्पतिर्वि ववर्हा रथाँइव॥ १३॥

१. वे प्रभु **भरेषु**=संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु ने ही तो वस्तुतः इन संग्रामों में हमें विजयी बनाना है। **नमसा**=नमन के द्वारा वे प्रभु **उपसद्यः**=उपस्थान के योग्य हैं। हमें विनीत होकर सदा प्रभुचरणों में उपस्थित होना चाहिये। **वाजेषु गन्ता**=संग्रामों में प्रभु ही हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं—उनकी ओर जानेवाले हैं और वे प्रभु **धनंधनम्**=प्रत्येक धन को **सनिता**=देनेवाले हैं (दाता सा०)। २. वे **अर्यः**=स्वामी **बृहस्पतिः**=ज्ञान के रक्षक प्रभु **इद्**=निश्चय से **विश्वाः**=सब **अभिदिप्स्वः**=हमारा हिंसन करनेवाले **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **विववर्ह**=विशेषरूप से उखाड़ फेंकते हैं, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि एक वीरयोद्धा संग्राम में **रथान्**=शत्रुरथों को तोड़-फोड़कर दूर फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—हम नम्रता से प्रभु का उपासन करें। प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी करेंगे। वे ही हमें सब धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का दण्ड

तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्।
आविस्तत्कृष्व यदसत्त उक्थ्यं१ बृहस्पते वि परिरापो अर्दय॥ १४॥

१. हे प्रभो! **ये**=जो **दृष्टवीर्यम्**=दृष्ट पराक्रमवाले भी **त्वा**=आपको **निदे दधिरे**=निन्दा के लिए धारण करते हैं, अर्थात् एक-एक रचना में जिन आपकी शक्ति का प्रकाश हो रहा है—उन आपको जो सदा निन्दित करते हैं, उन **रक्षसः**=राक्षसीवृत्तिवाले पुरुषों को **तेजिष्ठया**=अत्यन्त तीव्र **तपनी**=तपन-साधन आयुध से **तप**=सन्तप्त करिए। धनादि के मद में आसुरवृत्तिवाले पुरुष 'ईश्वरोऽहं' अपने को ईश्वर समझने लगते हैं और नास्तिकवृत्ति के बन जाते हैं। इन पर प्रभु का कोप होता है—किसी तीव्र विपत्ति के पड़ने पर ही ये संतप्त होते हैं और अपने राक्षसीभाव को दूर करने का फिर से विचार करते हैं। २. हे **बृहस्पते**=इन महान् आकाशादि लोकों के स्वामिन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय—स्तुति के योग्य पराक्रम **असत्**=है **तत्**=उसे **आविष्कृष्व**=प्रकट करिए और इस पराक्रम से **परिरापः**=चारों ओर परिवादवृत्तिवाले इन लोगों को **वि अर्दय**=विशेषरूप से पीड़ित करिए। इस पीड़ा से ही इनका हृदय परिवर्तित हो पायेगा।

भावार्थ—नास्तिकवृत्तिवाले लोग प्रभुविस्मरण से विलास में डूब जाते हैं। प्रभु का दण्ड इन्हें फिर से सावधान करनेवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमत्+क्रतुमत् (दीप्ति+शक्ति)

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥ १५॥

१. हे **ऋतप्रजात**=ऋत द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले! जब मनुष्य जीवन में 'ऋत' धारण करता है, सब क्रियाओं को बड़े नियम से करनेवाला होता है तभी उसे हृदयस्थ प्रभु का दर्शन होता है। **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यद्**=जिस ब्रह्मवर्चस् को **अर्यः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अति**

अर्हात्=सब वस्तुओं से अधिक पूजित करता है, वह ब्रह्मवर्चस् **जनेषु**=लोगों में **द्युमत्**=ज्योतिर्मय होकर और **क्रतुमत्**=शक्तिवाला होकर **विभाति**=चमकता है अर्थात् उस ब्रह्मवर्चस् के कारण मस्तिष्क दीप्त होता है तो शरीर शक्तिसम्पन्न। २. **यत्**=जो ब्रह्मवर्चस् **शवसः**=बल के रूप में **दीदयत्**=चमकता है **तत्**=उस **चित्रं द्रविणम्**=अद्भुत ब्रह्मवर्चस् रूप धन को **अस्मासु**=हमारे में **धेहि**=स्थापित करिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे में ब्रह्मवर्चस् की स्थापना हो, जो ब्रह्मवर्चस् हमें मस्तिष्क में दीप्त व शरीर में शक्तिसम्पन्न करे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अदेवों से दूर

मा नः स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः।
आ देवानामोहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः ॥ १६ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! जो **साम्नः**=शान्ति से **परः**=कुछ भी उत्कृष्ट है ऐसा **न विदुः**=नहीं जानते, अर्थात् जो शान्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं, उन **नः**=हमें **स्तेनेभ्यः मा**=चोरों के लिए मत दे डालिए, अर्थात् हम चोरों से अभिभूत न हो जाएँ। **ये**=जो लोग **द्रुहस्पदे**=द्रोह के स्थान में **निरामिणः**=नितरां रमण करनेवाले हैं, उनके लिए मत दे डालिए। जो **रिपवः**=औरों का विदारण करनेवाले शत्रुभूत पुरुष **अन्नेषु**=औरों के अन्नों में **जागृधुः**=लालचवाले होते हैं, उनके लिए हमें मत दे डालिए। २. हमें उनके लिए भी मत दे डालिए जो कि **हृदि**=हृदय में **देवानाम्**=दिव्यवृत्तियों के **विव्रयः**=वर्जन को **ओहते**=धारण करते हैं, अर्थात् जो हृदय में शुभभावों को न धारण करके सदा अशुभभावों को ही स्थान देते हैं, हम उनसे अभिभूत न हो जाएँ।

भावार्थ—हम चोरों 'द्रोहवृत्तिवालों' लोभियों तथा अदिव्य भावनाओंवालों से दूर रहते हुए शान्तजीवन बिता सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋणचित्+ऋणयाः

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥ १७ ॥

१. **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझे **विश्वेभ्यः भुवनेभ्यः**=सब प्राणियों के लिए—सबके हितसाधन के लिए—**परि अजनत्**=उत्पन्न करता है। तुमने अकेले अपने स्वार्थ सिद्ध करते हुए—मौज मारते हुए जीवन नहीं बिताना। परार्थ को सिद्ध करना ही तेरा स्वार्थ होना चाहिए। २. वे प्रभु **'साम्नः साम्नः कविः'**=प्रत्येक शान्तिप्राप्ति साधन के उपदेष्टा हैं (कु शब्दे)। **सः**=वे **ऋणचित्**=(ऋण Strong hold, fort) इस दृढ़शरीररूप किले का चयन करनेवाले हैं। **ऋणयाः**=सब 'पितृऋण-ऋषिऋण-देवऋण व मानवऋण' आदि ऋणों को हमारे से पृथक् करनेवाले हैं—इन ऋणों से अनृण होने की हमें क्षमता प्रदान करनेवाले हैं (ऋणस्य यावयिता)। २. **ब्रह्मणस्पतिः**=ये ज्ञान के स्वामी प्रभु **द्रुहः हन्ता**=द्रोहवृत्ति को नष्ट करनेवाले हैं उस व्यक्ति के जीवन में ये द्रोह की वृत्ति को नष्ट करते हैं जो कि **महः**=पूजा का तथा **ऋतस्य**=यज्ञ का **धर्तरि**=धारण करनेवाला है। संध्या व अग्निहोत्र को नियम से करनेवाले में प्रभु द्रोहवृत्ति को नहीं उत्पन्न होने देते।

भावार्थ—प्रभु ने हमें सबके हित सिद्ध करने के लिए यह जन्म दिया है। यथासम्भव शान्तजीवन बिताने का हमें प्रयत्न करना है। ध्यान व यज्ञ में प्रवृत्त होकर द्रोह से दूर रहना है। वे प्रभु हमें दृढ़ शरीर प्राप्त कराते हैं—इस योग्य बनाते हैं कि हम सब ऋणों को ठीक से अदा करके मुक्त हो सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गौवों का उत्सर्ग

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥ १८॥

१. हे **अङ्गिरः**=गतिशील पुरुष (अगि गतौ) **तव श्रिये**=तेरी शोभा के लिए **पर्वतः**=यह अविद्या का पर्वत **व्यजिहीत**=हिल जाता है। जब मनुष्य क्रियाशील जीवन बिताता है तो वह अज्ञानान्धकार से भी ऊपर उठता है। **यद्**=जब हे अङ्गिरः! तू **गवां गोत्रम्**=गौओं के—इन्द्रियों के—समूह को **उद् असृजः**=विषयों के बन्धन से मुक्त करता है। अविद्या के कारण ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में रागद्वेषवाली थीं। अविद्या गई और रागद्वेष गया। यही इन्द्रियों का विषय बन्धन से मुक्त होना है। २. **इन्द्रेण युजा**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुरूप मित्र के साथ **तमसा परीवृतम्**=तमोगुण से आवृत्त हुए-हुए **अपाम् अर्णवम्**=ज्ञानजलों के समुद्र को हे **बृहस्पते**=श्रेष्ठ ज्ञानिन्! **निर् औब्जः**=सरल प्रवाहवाला बनाता है (To make straight) प्रभु की मित्रता में हम वृत्रविनाश करके ज्ञानसूर्य को दीप्त करनेवाले बनते हैं। ज्ञानसूर्य की दीप्ति हमारी शोभा बढ़ाती है।

भावार्थ—अविद्या विनष्ट करके हमें चाहिये कि इन्द्रियों को बन्धनमुक्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान द्वारा 'भद्र जीवन'

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १९॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अस्य सूक्तस्य**=इस सूक्त के—उत्तम ज्ञानमयी वाणी के **यन्ता**=प्राप्त करानेवाले हैं। **बोधि**=आप हमारा भी ध्यान करिए। **च**=और **तनयं जिन्व**=आपके सन्तानरूप हमको प्रीणित करिए। आपने ही तो हमें ज्ञान देना है। २. आपसे ज्ञान प्राप्त करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यद् अवन्ति**=जिस बात का अपने में रक्षण करते हैं **विश्वं तद् भद्रम्**=वह सब भद्र ही है। उनका जीवन उत्तम बातों से ही परिपूर्ण होता है। अतः हम भी **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही आपके स्तोत्रों का उच्चारण करें। आपका स्तवन करते हुए हम देव बनें। देव बनकर अपने में शुभ का धारण करें। इस प्रकार अपने जीवन को भद्र बनानेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान देते हैं—ज्ञान देकर वे हमारे जीवन को भद्र बनाते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रभु से जीवनयात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है। उसी के लिए ज्ञान, शक्ति, धन आदि की याचना करता है। अगले सूक्त का भी यही विषय है। प्रस्तुत सूक्त का अन्तिम मन्त्र अगले सूक्त का भी अन्तिम मन्त्र है।

अथ द्वितीयाष्टके सप्तमोऽध्यायः

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सुमति' द्वारा 'प्रभृति'

सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽ या विधेम नवया महा गिरा।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्॥ १ ॥

१. **सः**=वे आप **यः**=जो कि **ईशिषे**=सारे ब्रह्माण्ड के ईश हैं, **इमाम्**=इस **प्रभृतिम्**=हमारे प्रकृष्ट भरण को **अविड्ढि**=जानिए-आप हमारे भरण का ध्यान करिए। आप ही हमारे माता-पिता है—हम पुत्रों का पोषण आपके द्वारा ही तो होता है। हम **अया**=इस **नवया**=(नु स्तुतौ) स्तुतियुक्त **महा**=महनीय **गिरा**=वाणी द्वारा **विधेम**=आपका पूजन करते हैं। हम आपके ही गुणों का धारण करते हैं। यह आपके गुणों का स्मरण ही वस्तुतः हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि को उत्पन्न करके हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। इस प्रकार यह स्तवन हमारा भरण करता है। २. **यथा नः मीढ्वान्**=आप जैसे हमारे लिए सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं; अतः **तव सखा**=यह आपका मित्र **स्तवते**=आपका स्तवन करता है। **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **सः**=वे आप **उत**=निश्चय से **नः मतिम् सीषधः**=हमारी बुद्धि को सिद्ध करिए। हमें बुद्धि देकर हमारा पालन करिए। यह 'प्रभृति' इस 'मति' पर ही तो निर्भर है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें—प्रभु हमें सुमति दें। सुमति द्वारा वे हमारी प्रभृति (भरण) का कारण हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसुमान् पर्वत में प्रवेश

यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि ।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम्॥ २ ॥

१. **यः**=जो **ओजसा**=ओजस्विता द्वारा **नन्त्वानि**=नमनीय—दबाने के योग्य—काम, क्रोध आदि वृत्तियों को **अनमत्**=झुका देता है—दबा देता है—वशीभूत कर लेता है। **उत**=और **मन्युना**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **शम्बराणि**=शान्ति को आवृत कर लेनेवाली ईर्ष्या द्वेषादि की भावना को **वि अदर्दः**=विदीर्ण कर देता है। **अच्युता**=असुरों के बने हुए दृढ़ किलों को भी **प्राच्यावयत्**=अपने स्थान से च्युत कर देता है—काम, क्रोध, लोभ के इन्द्रिय, मन व बुद्धि में बने हुए दृढ़ दुर्गों को नष्ट कर डालता है। वह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्राणसाधना करता हुआ **आ च**=शीघ्र ही **वसुमन्तम्**=उत्कृष्ट वसुओंवाले **पर्वतम्**=शरीर में मेरुदण्ड के रूप में स्थित मेरुपर्वत में **वि अविशत्**=विशेषरूप से प्रवेश करता है। २. मेरुदण्ड में स्थित भिन्न-भिन्न चक्रों में प्राणों का संयम करता हुआ उत्कृष्ट वसुओं को यह प्राप्त करता है। एक-एक चक्र में प्राणों का संयम विविध शक्तियों को प्राप्त कराता है। ये शक्तियाँ ही योगदर्शन में विभूतियों के रूप में वर्णित हैं।

भावार्थ—काम-क्रोध को हम ओजस्विता द्वारा वश में रखें। ईर्ष्या को ज्ञानाग्नि में भस्म कर दें। असुरों के किलों को विदीर्ण कर दें। प्राणों को मेरुदण्डस्थ चक्रों में निरुद्ध करके उत्कृष्ट वसुओं को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति का मार्ग

तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन्दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।
उद्ना आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः॥ ३॥

१. **देवानां देवतमाय**=देवों में देवाधिदेव प्रभु के लिए **तद् कर्त्वम्**=यह कर्तव्य होता है कि (क) **दृढा**=बड़े दृढ़ असुरों के दुर्ग **अश्रथ्नन्**=शिथिल हो जाएँ। आसुरभावों की जड़ों को हम हिला दें। (ख) **वीडिता**=बड़े प्रबल आसुरभाव **अव्रदन्त**=मृदु हो जाएँ। इनकी प्रबलता समाप्त हो जाए। ३. **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को यह विषयों के बाड़े से **उद् आजत्**=बाहर हांकनेवाला हो। इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करे। **ब्रह्मणा**=ज्ञान द्वारा **वलम्**=(Veil) शान्ति पर परदे के रूप में पड़ जानेवाले ईर्ष्यारूप वलासुर को **अभिनद्**=विदीर्ण करे। ईर्ष्यालु पुरुष कभी प्रभु को नहीं प्राप्त करता। ५. **तमःअगूहत्**=अन्धकार को संवृत कर देता है और **स्वः**=प्रकाश को **व्यचक्षयत्**=प्रकट करता है। स्वाध्याय को अपनाने द्वारा अज्ञानान्धकार दूर करके ज्ञानप्रकाश प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग यह है कि हम काम क्रोधादि के किलों को तोड़ डालें, प्रबल आसुरभावों की तीव्रता समाप्त कर दें, इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, ईर्ष्या से ऊपर उठें और स्वाध्याय द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अश्मास्य अवत का हिंसन

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥ ४॥

१. हमारे जीवनों में 'काम' (कामदेव) **अश्मास्यं**=अशनवान् आस्य (मुख) वाला है (अशनवन्तं नि) बहुत खानेवाला है—कभी न तृप्त होनेवाला है। **मधुधारं**=अत्यन्त मधुर प्रवाह वाला है। हमारे पर आक्रमण भी करता है तो अपने पुष्पों से बने धनुष से तथा पुष्पों के बाणों से ही आक्रमण करता है। इस **अवतम्**=जो एक कुएँ के रूप में है—जिसमें मनुष्य के पतन का सदा भय है। ऐसे **यम्**=जिस काम को **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **ओजसा**=ओजस्विता द्वारा **अभि अतृणत्**=हिंसित करते हैं। २. **विश्वे**=सब **स्वर्दृशः**=प्रकाश को देखनेवाले ज्ञानी पुरुष **तम् एव**=उस ब्रह्मणस्पति को ही **पपिरे**=पीने का प्रयत्न करते हैं—उस प्रभु को ही अपनी सूक्ष्मदृष्टि से देखने के लिए यत्नशील होते हैं और **साकम्**=साथ मिलकर **उद्रिणम् उत्सम्**=उस ज्ञान जल से परिपूर्ण ज्ञान के स्रोत प्रभु को बहु **सिसिचुः**=खूब ही अपने में सींचने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानपुञ्ज प्रभु हमारी वासना विनष्ट करते हैं और ज्ञानी लोग प्रभु को ही देखने का प्रयत्न करते हैं—प्रभु को ही अपने में सींचने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सनातन ज्ञान के द्वारों का उद्घाटन

सना ता का चिद् भुवना भवीत्वा माद्भिः शरद्भिर्दुरो वरन्त वः।
अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद्या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः॥ ५॥

१. **या**=जिन **वयुना**=प्रज्ञानों को **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **चकार**=करता है **ता**=वे **सना**=सनातन हैं—सदा से चले आ रहे हैं—प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाते हैं। वे **का चित्**=निश्चय से आनन्द देनेवाले हैं। **भुवना**=वे वर्तमान में भी दिए जा रहे हैं। **भवीत्वा**=भविष्यत् काल में भी दिए जाएँगे। अगली सृष्टियों के प्रारम्भ में भी इसी प्रकार प्राप्त कराएँ जाएँगे। इन ज्ञानों के **दुरः**=द्वार **माद्भिः**=महीनों से वा **शरद्भिः**=वर्षों से **वः वरन्त**=तुम्हारे लिए खोले जाते हैं, अर्थात् कई बार इन मन्त्रों के भाव पूर्णतया महीनों व वर्षों में स्पष्ट होते हैं। २. कई बार **अयतन्ता**=न यत्न करते हुए ही पति-पत्नी **अन्यत् अन्यत् इत्**=निश्चय से नये-नये ज्ञान में **चरतः**=विचरण करनेवाले होते हैं, अर्थात् स्वाध्याय द्वारा निरन्तर अभ्यास करते हुए वे कई बार अन्तःप्रकाश के रूप में ही वेदार्थ को जान पाते हैं—यह ज्ञान वस्तुतः उन्हें अन्तःस्थित प्रभु द्वारा ही प्राप्त हो रहा होता है। इसे ही (Flash of light) प्रातिभिक ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु द्वारा दिए इस सनातन ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सदा यत्नशील रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

फिर ब्रह्मलोक में

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन्तदुदीयुराविशम्॥ ६॥

१. **ये**=जो **अभिनक्षन्तः**=प्रातःसायं प्रभु की ओर जाते हुए (अभि=दोनों ओर—दिन के प्रारम्भ में व अन्त में) प्रभु की प्रातःसायं उपासना करते हुए **पणीनाम्**=(पण स्तुतौ) स्तोताओं की **गुहा हितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थापित **तं परमं निधिम्**=उस उत्कृष्ट ज्ञाननिधि को **अभि आनशुः**=सब तरह से प्राप्त करते हैं—पूर्णतया प्राप्त करते हैं—उसके भौतिक व अध्यात्म अर्थों को जानते हुए प्राप्त करते हैं। २. **ते विद्वांसः**=वे विद्वान् **अनृता प्रतिचक्ष्य**=सब अनृतों को अपने से दूर करके **यतः उ आयन्**=जिधर से निश्चयपूर्वक आये थे पुनः फिर **तत्**=उसी ब्रह्मलोक में **आविशम्**=प्रवेश करने के लिए **उदीयुः**=उत्कृष्ट गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को पानेवाले अनृत को छोड़कर फिर उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं जो कि उनका वास्तविक घर है। वहीं से आये थे, वहीं लौट जाते हैं। इस संसार की चमक से मूढ़ नहीं बन जाते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सकामयज्ञों में न उलझना

ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आ तस्थुः कवयो महस्पथः।
ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्॥ ७॥

१. **ऋतावानः**=ऋत का पालन करनेवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोग **अनृता प्रतिचक्ष्य**=अनृतों को छोड़कर **पुनः**=फिर **अतः**=इस संसार से हटकर **महस्पथः**=महान् पथ पर **आतस्थुः**=आस्थित होते हैं। संसारमार्ग छोड़कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होते हैं। संसारमार्ग अनृत से परिपूर्ण है—इसे वे छोड़ते हैं, ऋत को अपनाते हैं और प्रभु की ओर चलनेवाले बनते हैं। २. **ते**=वे **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **धमितम्**=तप्त की हुई—दीप्त की हुई **तम् अग्निम्**=उस स्वर्गादिप्राप्ति की साधनभूत अग्नि को भी **हि**=निश्चय से **जहुः**=छोड़ देते हैं। वे समझ जाते हैं कि 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'=यज्ञरूप बेड़े भी दृढ़ नहीं हैं—ये हमें पार न लगाएँगे। वे समझ लेते हैं कि **सः**=वह **अश्मनि**=पत्थर में होनेवाला—अग्निकुण्ड में होनेवाला **नकिः अस्ति**=कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है—

अरणः=ये रमण व आनन्द को देनेवाला नहीं। इस प्रकार सकामयज्ञों में भी न उलझते हुए ये उपासक प्रभु को आराधित करते हैं।

भावार्थ—ऋतरक्षक ज्ञानी लोग प्रभु का उपासन करते हुए महान् पथ के पथिक होते हैं। वे सकामयज्ञों में भी उलझते नहीं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रणवो धनुः

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः ॥ ८ ॥

१. ज्ञानीपुरुष 'प्रणव' (ओ३म्) को ही अपना धनुष बनाता है। खाली समय में 'ओ३म्' का ही जप करता है। इस प्रणवरूप धनुष की 'ज्या' (डोरी) ऋत है। यह प्रणव का जप करनेवाला अनृत से सदा दूर रहता है। इसका जीवन क्रियाशील होता है—क्रियाशीलता के द्वारा यह वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर रखता है। वासना-विनाश करके यह उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त होता है। **ब्रह्मणस्पतिः**=यह ज्ञानीपुरुष **ऋतज्येन**=ऋत की ज्यावाले **क्षिप्रेण**=शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले **धन्वना**=प्रणवरूप धनुष से **यत्र**=जहाँ **वष्टि**=चाहता है **तत्**=उस स्थान को **अश्नोति**=प्राप्त करता है। २. **तस्य**=उस ज्ञानी के **इषवः**=बाण **साध्वीः**=बड़े उत्तम होते हैं। ये बाण **कर्णयोनयः**=श्रोत्रमूलक हैं। श्रोत्र द्वारा श्रवण किये जानेवाले मन्त्र='ज्ञान के वचन' ही वस्तुतः वे बाण हैं। **याभिः**=जिन बाणों द्वारा **नृचक्षसः**=(Demon, goblin) दैत्यभावों को **अस्यति**=दूर फेंकता है। इस प्रकार राक्षसवृत्तियों को दूर करके यह **दृशये**=प्रभुदर्शन के लिए होता है।

भावार्थ—हम प्रणव को धनुष बनाकर आसुरीभावों को क्रियाशीलतारूप बाणों से परे फेंकनेवाले हों। ऋत को जीवन में स्थान दें। ऐसा होने पर ही हम प्रभुदर्शन कर सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य के समान

स संनयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः।
चाक्ष्मो यद्वाजं भरते मती धनादित्सूर्यस्तपति तप्यतुर्वृथा ॥ ९ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रणवरूप धनुषवाला **सः**=वह उपासक **सन्नयः**=अपने जीवन को सम्यक् प्रणीत करनेवाला होता है। **सः**=वह **विनयः**=विनीत होता है। **सः**=वह **पुरोहितः**=औरों के सामने (पुरः) आदर्शरूप से स्थापित होता है। **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनकर **सः**=वह **युधि**=अध्यात्मसंग्राम में **सुष्टुतः**=उत्तम स्तुतिवाला होता है। यह प्रभुस्तवन ही उसे वासनाओं से पराजित नहीं होने देता। २. **चाक्ष्मः**=द्रष्टा बनकर अथवा क्षमाशील बनकर (चक्ष् अथवा क्षम्) **यद्**=जब यह **वाजम्**=शक्ति को तथा **मती**=बुद्धि के साथ **धना**=धनों को **भरते**=धारण करता है। **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **तप्यतुः**=शत्रुओं को संतप्त करनेवाला यह व्यक्ति **वृथा**=अनायास ही **सूर्यः तपति**=ज्ञानसूर्य बनकर दीप्त होता है।

भावार्थ—जीवन को सम्यक् चलाते हुए हम विनीत बनें। औरों के लिए आदर्श जीवनवाले होते हुए अध्यात्म-संग्राम में प्रभुस्तवन द्वारा विजयी बनें। द्रष्टा व क्षमाशील बनकर शक्तिवृद्धि व धनों को प्राप्त करें तथा सूर्य की तरह चमकें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वाराड् जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सब धनों के स्वामी प्रभु

विभु प्रभु प्रथमं मेहनावतो बृहस्पतेः सुविदत्राणि राध्या।
इमा सातानि वेन्यस्य वाजिनो येन जना उभये भुञ्जते विशः ॥ १० ॥

१. **मेहनावतः**=धनों की वर्षा करनेवाले **बृहस्पतेः**=आकाशादि महान् लोकों के रक्षक प्रभु के **सुविदत्राणि**=उत्तम धन (विद् लाभे) **विभु**=व्यापक हैं, **प्रभु**=शक्ति के देनेवाले हैं, **प्रथमम्**=अत्यन्त विस्तृत हैं, **राध्या**=ये हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं। २. **इमा सातानि**=ये सब दिये गये धन उस **वेन्यस्य**=सबका हित चाहनेवाले **वाजिनः**=सब अन्नों के स्वामी उस ब्रह्मणस्पति प्रभु के हैं, **येन**=जिससे **जनाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले लोग तथा **विशः**=विविध योनियों में प्रवेश करनेवाले प्राणी **उभये**=दोनों ही **भुञ्जते**=अपने शरीरों का पालन करते हैं। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी सभी इस धन से अपना पालन करते हैं। यह धन सभी के पालन का साधन बनता है। एक भक्त धन को प्रभु का दिया हुआ समझ कर सभी के हित के लिए उसका विनियोग करता है।

भावार्थ—सब धनों के स्वामी वे प्रभु हैं। उनसे दिये गये धनों को हम सब प्राणियों के लिए उपयुक्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वव्यापक प्रभु

योऽ वरे वृजने विश्वथा विभुर्महामु रण्वः शवसा ववक्षिथ।
स देवो देवान्प्रति पप्रथे पृथु विश्वेदु ता परिभूर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ ११ ॥

१. **यः**=जो **अवरे**=इस अवर (Lower) निचले **वृजने**=(Moving) संसार में **विश्वथा विभुः**=सब प्रकार से व्याप्त है—इस ब्रह्माण्ड में जिसकी व्याप्ति से कोई भी स्थान खाली नहीं है। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः' इस मन्त्र भाग में कहा है कि यह सारा संसार परमेश्वर के इस अवर एक देश में स्थित है—उसका त्रिपात् तो इस ब्रह्माण्ड से ऊपर ही है। इस अवर ब्रह्माण्ड में प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। **उ**=निश्चय से वे प्रभु **महाम्**=महान् व महनीय (पूजनीय) हैं। **रण्वः**=वे रमणीय प्रभु **शवसा**=बल से **ववक्षिथ**=बढ़े हुए हैं। अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। २. **सः**=वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **देवान् प्रति**=सब देवों का लक्ष्य करके **पृथु पप्रथे**=खूब ही विस्तृत होते हैं। वस्तुतः इन सब देवों को वे महादेव ही देवत्व प्राप्त कराते हैं और **ब्रह्मणस्पतिः**= वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **उ इत्**=निश्चित ही **ता**=उन **विश्वा**=सब प्राणियों को **परिभूः**=व्याप्त कर रहे हैं। सब प्राणियों में भी जो कुछ विभूति—श्री व ऊर्जित है वह सब उस प्रभु की व्याप्ति के कारण ही है। सब सूर्यादि देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे प्रभु हैं और सब प्राणियों को शक्ति प्राप्त करानेवाले वे ही हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। देवों को देवत्व तथा प्राणियों को अमुक-अमुक शक्ति प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिरिन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व ज्ञान का समन्वय

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽ न्नं युजेव वाजिना जिगातम् ॥ १२ ॥

१. 'इन्द्र' शक्ति का देवता है और 'ब्रह्मणस्पति' ज्ञान का। हे **मघवाना**=ऐश्वर्यवाले इन्द्राब्रह्मणस्पती=इन्द्र और ब्रह्मणस्पति **युवोः**=आप दोनों का **विश्वं सत्यम् इत्**=सब सत्य ही है। जब इन्द्र और ब्रह्मणस्पति का मेल हो जाता है तो सब कुछ सत्य ही प्रतीत होता है। शक्ति और ज्ञान का मेल सब असत्य को दूर कर देता है। **च**=और **आपः**=('आपो वै सर्वा देवताः' ऐ० २.१६ 'आपो वै सर्वे देवाः' श० १०.५.४.१४) सब देव **वाम्**=आपके **व्रतम्**=व्रत को न **प्रमिनन्ति**=हिंसित नहीं करते हैं। वस्तुतः देववृत्ति के व्यक्ति 'इन्द्र व ब्रह्मणस्पति' दोनों के ही पूजक होते हैं। वे शक्ति और ज्ञान को लक्ष्य बना करके ही सब कर्म करते हैं। २. **नः**=हमारा भी **हविः**=त्यागपूर्वक अदन, यज्ञशेष का सेवन **इन्द्राब्रह्मणस्पती अच्छा**=इन्द्र और ब्रह्मणस्पति का लक्ष्य करके हो। इन्द्र व ब्रह्मणस्पति हमारी हवि को इस प्रकार प्राप्त हों **इव**=जैसे **युजा वाजिना**=इकट्ठे जुतनेवाले घोड़े **अन्नं जिगातम्**=अन्न की ओर जाते हैं। 'युजा वाजिना' में कोई घोड़ा छोटा और कोई बड़ा नहीं है। इसी प्रकार 'इन्द्र और ब्रह्मणस्पति' में कोई छोटा व कोई बड़ा नहीं। शक्ति व ज्ञान दोनों का ही महत्त्व समानरूप से है। इनको प्राप्त करने के लिए हम हवि को स्वीकार करें।

भावार्थ—हमारा जीवन शक्ति व ज्ञान का समन्वय करके चले।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आशिष्ठा वह्नयः

उताशिष्ठा अनु शृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मती धना।
वीळुद्वेषा अनु वशं ऋणमादिदिः स ह वाजी समिथे ब्रह्मणस्पतिः ॥ १३ ॥

१. **उत**=और **आशिष्ठाः**=उत्तम इच्छाओंवाले **वह्नयः**=कर्त्तव्यभार उठानेवाले व्यक्ति **अनुशृण्वन्ति**=उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सुनते हैं। २. इस प्रेरणा को सुननेवाला **सभेयः**=सभा में उत्तम—सभ्यता से व्यवहार करनेवाला **विप्रः**=ज्ञानी **मती**=बुद्धि से **धना**=धनों का **भरते**=भरण करता है। सभा में सदा उत्तम व्यवहारवाला होता है—ज्ञान को प्राप्त करता है तथा बुद्धिपूर्वक उत्तम मार्गों से धनार्जन करता है। २. **वीडुद्वेषाः**=प्रबल काम-क्रोध आदि राक्षसीभावों से प्रीति न करनेवाला, **अनुवश**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुसार **ऋणम् आददिः**=(ऋण=दुर्गभूमि=Fort) असुरों के दुर्गों को ले-लेनेवाला होता है। असुरों के किलों को छीन लेता है। असुरों को तीनों पुरियों से निकाल भगाता है—इस प्रकार त्रिपुरारि बनता है। ३. **सः**=वह **ह**=निश्चय से **समिथे**= संग्राम में **वाजी**=शक्तिशाली होता है **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है। शरीर में वाजी—मस्तिष्क में ब्रह्मणस्पति।

भावार्थ—हम उत्तम इच्छाओंवाले व कर्त्तव्य का पालन करनेवाले हों। सभ्य व ज्ञानी बनकर बुद्धिपूर्वक धनों का अर्जन करें। इन्द्रियों को वश में करते हुए असुरों के किलों का विध्वंस करें। शक्तिशाली व ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रियों का विषयों से उन्नयन

ब्रह्मणस्पतेरभवद्यथावशं सत्यो मन्युर्महि कर्मा करिष्यतः ।
यो गा उदाजत्स दिवे वि चाभजन्महीव रीतिः शवसासरत्पृथक् ॥ १४ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतेः**=ज्ञानी का सब कुछ **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **अभवत्**=हो जाता है। इसका **मन्युः**=ज्ञान **सत्यः**=सत्य होता है। **महि कर्म करिष्यतः**=महत्त्वपूर्ण कर्मों को करते हुए

इसका कभी भी कुछ इच्छा के विपरीत नहीं होता। इसका ज्ञान सत्य होता है—अतः इसके कर्म भी सत्य होते हैं 'सत्यप्रतिष्ठायां सर्वकर्मफलाश्रयत्वम्' (योग द०)। २. यह ब्रह्मणस्पति वह है **यः**=जो **गाः उदाजत्**=इन्द्रियरूप गौवों को विषयों से ऊपर उठाता है—विषयों से बद्ध नहीं होने देता। **च**=और **सः**=वह **दिवे**=ज्ञानप्राप्ति के लिए **अभजत्**=इन्हें भागी बनाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति के लिए अर्थों के सम्पर्क में आती हैं। **मही रीतिः इव**=महान् जलधारा की भाँति (री प्रस्रावणे) **शवसा**=शक्ति के साथ **पृथक्**=अनायास ही **असरत्**=इसकी ज्ञानधारा प्रवाहित होती है। कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में व्यापृत होकर इसे सशक्त बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों में न फंसकर इसके ज्ञानप्रवाह को अविच्छिन्नरूप से चलाती हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में न फंसने देंगे तो कर्मेन्द्रियाँ शक्तिवृद्धि का कारण बनेंगी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानवृद्धि का।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयमयुक्त उत्कृष्ट जीवनवाला 'धन'

ब्रह्मणस्पते सुयमस्य विश्वहा रायः स्याम रथ्यो३ वयस्वतः।
वीरेषु वीराँ उप पृङ्धि नस्त्वं यदीशानो ब्रह्मणा वेषि मे हवम्॥ १५॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम **विश्वहा**=सदा **रायः**=धन के **रथ्यः**=स्वामी **स्याम**=हों। उस धन के हम स्वामी हों जो कि **सुयमस्य**=उत्तम नियमवाला है—जिस धन के कारण हमारा जीवन असंयत नहीं बन जाता तथा उस धन के हम स्वामी हों जो कि **वयस्वतः**=उत्कृष्ट जीवनवाला है—जो धन हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाता है। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नः वीरेषु**=हमारे वीर सन्तानों में **वीरान्**=वीर ही सन्तानों को **उपपृङ्धि**=सम्पृक्त करिए। धनों का ठीक ही प्रयोग करते हुए हम तो वीर हों ही—हमारे सन्तान भी वीर हों—उनके सन्तान भी वीर हों। आप **यत्**=क्योंकि **ईशानः**=ईशान हैं—स्वामी हैं, अतः आप **मे**=मेरी **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक की गई **हवम्**=पुकार व स्तुति को **वेषि**=प्राप्त होते हैं। मैंने और किससे आराधना करनी! आप ही ईशान हो, आपको छोड़कर मैंने और कहाँ जाना? आप मेरी प्रार्थना को अवश्य सुनेंगे ही।

भावार्थ—हे प्रभो! आप मुझे संयमयुक्त उत्कृष्ट जीवनवाले धन प्राप्त कराइए। हमारा वंश वीरतावाला हो। आप ही हमारे ईशान हैं। आप से ही हम याचना करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-गोष्ठियों में प्रभुचर्चा

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १६॥

यह २.२३.१९ पर व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त उत्कृष्ट स्तवन द्वारा प्रभुप्राप्ति का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार ब्रह्मणस्पति की उपासना करनेवाला स्वयं भी ब्रह्मणस्पति बनता है, ब्रह्मणस्पति का मित्र बनता है और कहता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रुविजय-वृद्धि व दीर्घजीवन

इन्धानो अग्निं वनवद्वनुष्यतः कृतब्रह्मा शूशुवद्रातहव्य इत्।
जातेन जातमति स प्र सर्सृते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥ १॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है, अर्थात् जो प्रभु का मित्र बन पाता है वह **अग्निम् इन्धानः**=उस प्रकाशमय प्रभु को अपने अन्दर समिद्ध करता हुआ—अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करता हुआ **वनुष्यतः**=हिंसा करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **वनवत्**=जीत लेता है। यह प्रभु की मित्रता में इन प्रबल शत्रुओं को हिंसन करने में समर्थ होता है। २. **कृतब्रह्मा**=(कृतं ब्रह्म येन) स्तुति करनेवाला अथवा ज्ञान का सम्पादन करनेवाला **रातहव्यः**=(रातं हव्यं येन) हव्यों को देनेवाला, अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञों को करनेवाला यह प्रभु का मित्र **इत्**=निश्चय से **शूशुवत्**=वृद्धि को प्राप्त होता है और ३. यह दीर्घजीवनवाला होता हुआ **जातेन**=पुत्र से **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए पौत्र को भी **अति**=लाँघकर **प्रसर्सृते**=खूब चलता है, अर्थात् पुत्र-पौत्र तथा प्रपौत्र को भी देखनेवाला होता है। पुत्र के होने पर यह सामान्यतः छब्बीस वर्ष का था तो पौत्र के होने पर इकावनवें वर्ष में होगा तथा प्रपौत्र को देखनेवाला यह छहत्तरवें वर्ष से ऊपर होगा।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु का मित्र बनकर यह (क) काम-क्रोधादि को जीत पाता है (ख) ज्ञान स्तवन व यज्ञों में चलता हुआ यह निश्चय से बढ़ता है (ग) दीर्घजीवनवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रुविजय तथा ज्ञान वृद्धि

वीरेभिर्वीरान्वनवद्वनुष्यतो गोभी रयिं पप्रथद्बोधति त्मना।
तोकं च तस्य तनयं च वर्धते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ २ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयं युजं कृणुते**=जिस-जिस को अपना साथी बनाता है, वह **वीरेभिः**=वीर-सन्तानों के साथ **वनुष्यतः**=हिंसा करनेवाले **वीरान्**=प्रबल कामादि शत्रुओं को **वनवत्**=पराजित करता है स्वयं तो कामादि को जीतता ही है—इसके सन्तान भी काम-क्रोध को जीतनेवाले होते हैं। २. काम-क्रोध को जीतकर यह **गोभिः**=अपनी इन्द्रियों से **रयिम्**=ऐश्वर्य को **पप्रथत्**=विस्तृत करता है। इसकी इन्द्रियाँ इसके ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाने का साधन बनती हैं। अन्ततः यह **त्मना**=अन्तःस्थित आत्मतत्त्व से **बोधति**=ज्ञान प्राप्त करता है। इसे अन्तः-प्रकाश प्राप्त होता है ३. तथा **तोकं च**=इसके पुत्र **च**=और **तनयम्**=पौत्र **वर्धते**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके सन्तानों को भी उत्तम संस्कार प्राप्त होते हैं और वे सब दृष्टिकोणों से बढ़नेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु को मित्ररूप में पाकर (क) हम सन्तानों के साथ वासनाओं को जीतनेवाले होते हैं (ख) हमारा ज्ञान बढ़ता है (ग) हमारे पुत्र-पौत्र सब दृष्टिकोणों से उन्नत होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विजेता-अपराजित

सिन्धुर्न क्षोदः शिमीवाँ ऋघायतो वृषेव वध्रीरभि वष्ट्योजसा।
अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है, वह **शिमीवान्**=उत्कृष्ट कर्मोंवाला होता हुआ **ऋघायतः**=हिंसा करनेवाले शत्रुओं को **ओजसा**=बल द्वारा **अभिवष्टि**=(अभितः हन्तुं कामयते सा०) अन्दर-बाहर नष्ट करने की कामना करता है। उसी प्रकार **नः**=जैसे कि **सिन्धुः**=नदी **क्षोदः**=किनारे को (क्षुद्यमानं कूलं सा०) और

इव=जैसे कि **वृषा**=शक्तिशाली वृषभ **वध्रीन्**=निर्वीर्य बैल को। २. जैसे **अग्नेः**=अग्नि की **प्रसितिः**=ज्वाला **अह**=निश्चय से **वर्तवे न**=निवारण के लिए नहीं होती है, उसी प्रकार यह प्रभुमित्र शत्रुओं से पराजित नहीं किया जा सकता।

भावार्थ—प्रभुमित्र शत्रुओं का विजेता तथा शत्रुओं से सदा अपराजित होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निरन्तर प्रकाश

तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः स सत्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति।
अनिभृष्टतविषिर्हन्त्योजसा यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ४॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है **तस्मा**=उसके लिए **असश्चतः**=अनिरुद्ध अर्थात् निरन्तर **दिव्याः**=प्रकाश की किरणें **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं। इसे अन्तःप्रकाश दिखने लगता है और इसके अन्दर ज्ञान का स्रोत उमड़ आता है। २. **सः**=वह **सत्वभिः प्रथमः**=सात्त्विकभावों के दृष्टिकोण से प्रथम स्थान में स्थित हुआ-हुआ **गोषु गच्छति**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त होता है। ३. **अनिभृष्टतविषिः**=शत्रुओं से अबाधित बलवाला होता हुआ **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **हन्ति**=शत्रुओं को नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—प्रभु का मित्र (क) निरन्तर प्रकाश को प्राप्त होता है (ख) सात्त्विकवृत्तिवाला होता हुआ उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियोंवाला होता है (ग) ओजस्वी बनकर शत्रुओं को पराजित करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवताओं के रक्षण में

तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽच्छिद्रा शर्म दधिरे पुरूणि।
देवानां सुम्ने सुभगः स एधते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ५॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है **तस्मै इत्**=उसके लिए निश्चय से **विश्वे**=(विश्=प्रवेशने) शरीर में ही प्रविष्ट होनेवाले **सिन्धवः**= स्पन्दनशील रेतःकण **धुनयन्त**=रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं और इस प्रकार इसके शरीर को नीरोग बनाते हैं। २. नीरोग बने हुए इन व्यक्तियों के लिए **अच्छिद्रा**=छिद्ररहित—लगातार **पुरूणि**=बहुत अथवा पालन व पूरण करनेवाले **शर्म**=सुख **दधिरे**=धारण किये जाते हैं। इसका जीवन निरन्तर आनन्दमय होता है। ३. **सः**=वह **देवानाम्**=देवताओं के **सुम्ने**=आनन्द में (Happiness) अथवा रक्षण में (protection) **सुभगः**=सौभाग्यवाला होता हुआ **एधते**=वृद्धि को प्राप्त होता है। इसके आनन्द देवताओं के आनन्द होते हैं, न कि राक्षसों के। यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही आनन्द अनुभव करता है, मांस शराब आदि के सेवन में नहीं। देवताओं के रक्षण प्राप्त करके यह अपने सौभाग्य को निरन्तर बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का मित्र (क) वीर्यकणों के रक्षण से नीरोग शरीरवाला होता है (ख) इसका आनन्द अच्छिद्र होता है (ग) देवों के रक्षण में इसका सौभाग्य बढ़ता चलता है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु के मित्र के लक्षणों का वर्णन करता है। प्रभु का मित्र (१) प्रभु को हृदय में दीप्त करता हुआ कामादि शत्रुओं का हिंसन करता है (२) ज्ञान-ध्यान व यज्ञोंवाला होता हुआ निरन्तर बढ़ता है (३) पुत्रों-पौत्रों व प्रपौत्रों को भी देखनेवाला दीर्घजीवी होता है (४) वीरसन्तानों

के साथ प्रबल शत्रुओं को भी जीतता है (५) ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाता है, अन्तःस्थित आत्मा से प्रकाश प्राप्त करता है (६) इसके पुत्र-पौत्र भी उन्नतिपथ पर चलनेवाले होते हैं (७) यह ओजस्विता से शत्रुओं को सब ओर से समाप्त करता है (८) अग्निज्वाला के समान शत्रुओं से रोका नहीं जा सकता (९) अनिरुद्ध ज्ञानधाराएँ इसे प्राप्त होती हैं (१०) सात्त्विकभावों में प्रथम होता हुआ ज्ञान वाणियों को प्राप्त होता है। (११) अबाधित बलवाला होता है (१२) इसके शरीर में व्याप्त वीर्यकण इसे नीरोग बनाते हैं (१३) निरन्तर आनन्द धारण करता है (१४) देवों के रक्षण में सदा बढ़ता चलता है। अगला सूक्त भी इसी का चित्रण करता है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋजुः-शंसः

ऋ॒जुरिच्छंसो॑ वनवद्वनुष्य॒तो दे॑व॒यन्निद॑देवयन्तम॒भ्य॑सत्।
सु॒प्रा॒वीरिद्ध॑नवत्पृ॒त्सु दु॒ष्टरं॒ यज्वेदय॑ज्योर्वि भ॑जाति॒ भोज॑नम्॥ १॥

१. गतसूक्त के अनुसार प्रभु जिसको मित्र बनाते हैं वह **ऋजुः इत्**=निश्चय से सरलता से युक्त होता है। इसका जीवन सरल होता है—छलछिद्र से रहित होता है। **शंसः**=यह सदैव प्रभुस्तवन करनेवाला होता है। इस प्रभुशंसन के कारण प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर **वनुष्यतः वनवद्**=हिंसक काम-क्रोध आदि शत्रुओं को हिंसित करनेवाला होता है। काम-क्रोधादि को यह पराजित करता है। २. **देवयन् इत्**=सदा उस देव प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला होता हुआ **अदेवयन्तम्**=अदिव्य-भावनाओं को **अभ्यसत्**=अभिभूत करता है। दिव्य भावनाओं को अपने अन्दर उपजाता हुआ यह उस महादेव प्रभु को प्राप्त करता है। ३. यह **इत्**=निश्चय से **सुप्रावीः**=बड़ी उत्तमता से अपना रक्षण करता है। **पृत्सु**=संग्रामों में **दुष्टरम्**=बड़ी कठिनता से जीतने योग्य शत्रुओं को भी **वनवत्**=यह जीत लेता है और **इत्**=निश्चय से **यज्वा**=यज्ञशील बनता है **अयज्योः**=अयज्यु के—यज्ञ न करनेवाले के **भोजनम्**=भोजन को **विभजाति**=अपने से विभक्त—पृथक् करता है, अर्थात् कभी यज्ञ किये बिना भोजन करनेवाला नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु का मित्र सरल, स्तुति करनेवाला, प्रभुप्राप्ति की कामनावाला—वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचानेवाला व यज्ञशील होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भद्रं मनः कृणुष्व

यज॑स्व वीर॒ प्र वि॑हि॒ मनाय॒तो भ॒द्रं मनः॑ कृणुष्व वृत्र॒तूर्ये॑।
ह॒विष्कृ॑णुष्व सुभगो॒ यथास॑सि॒ ब्रह्म॑ण॒स्पते॒रव॒ आ वृ॑णीमहे॥ २॥

१. प्रभु इस भक्त से कहते हैं कि हे **वीर**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाले! **यजस्व**=तू यज्ञशील हो। **मनायतः**=अभिमन्यमान—अभिमानयुक्त—शत्रुओं के प्रति **प्रविहि**=प्रकर्षेण युद्ध के लिए जानेवाला हो। **मनः भद्रं कृणुष्व**=अपने मन को भद्र बना। २. **वृत्रतूर्ये**=वासना के हिंसन के निमित्त **हविः कृणुष्व**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बन। **यथा**=जिससे तू **सुभगः**=उत्तम सौभाग्यवाला **असिसि**=होता है। दानपूर्वक अदन से ही जीवन सुन्दर बनता है। अन्यथा यह जीवन असुर बन जाता है। असुर यज्ञ न करके सब स्वयं खा जाते हैं। ३. इस प्रकार दानपूर्वक अदन करते हुए हम **ब्रह्मणस्पतेः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु के **अवः**=रक्षण की **आवृणीमहे**=प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों। यज्ञशीलपुरुष ही प्रभुरक्षा का पात्र होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

श्रद्धामनाः हविषा

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥ ३॥

१. **यः**=जो **श्रद्धामनाः**=श्रद्धायुक्त मनवाला होकर **हविषा**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष का सेवन करने से—**देवानां पितरम्**=सब देवों के पालक **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को **आविवासति**=पूजता है; **सः इत्**=वह निश्चय से **अनेन**=अपने बन्धुजनों के साथ **वाजं भरते**=अन्न का भरण करनेवाला होता है। **सः**=वह **विशा**=अपनी प्रजा के साथ अन्न का भरण करता है, **सः**=वह **जन्मना**=जन्म से ही—स्वभाव से ही अन्नों का धारण करनेवाला होता है, **सः**=वह **पुत्रैः**=अपने सन्तानों से वाजं भरते=अन्न का पोषण करता है। यह **नृभिः**=कर्मों का प्रणयन करनेवाले लोगों के साथ **धना**=धनों का सम्पादन करता है। २. श्रद्धायुक्त मन से—यज्ञशेष के सेवन से—प्रभु की उपासना करनेवाले को अन्न व धन की कमी नहीं रहती। यह अपने बन्धुजनों-प्रजाओं-पुत्रों व कर्मकरों के साथ अन्न और धन को सिद्ध करता है और इसे जन्म से ही अन्न धन प्राप्त होता है, अर्थात् 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' यह पवित्र व श्रीसम्पन्न घरों में ही जन्म लेता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन श्रद्धा व हवि से होता है। यह उपासक अन्न व धन के दृष्टिकोण से क्षीण नहीं होता।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उरुचक्रिरद्भुतः

यो अस्मै हव्यैर्घृतवद्भिरविधत्प्र तं प्राचा नयति ब्रह्मणस्पतिः।
उरुष्यतीमंहसो रक्षती रिषोऽहोश्चिदस्मा उरुचक्रिरद्भुतः॥ ४॥

१. **यः**=जो **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **घृतवद्भिः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तिवाले **हव्यैः**=दानपूर्वक अदन से **अविधत्**=पूजा करता है। वस्तुतः प्रभु का पूजन इसी प्रकार होता है कि हम (क) मलों को अपने से दूर करें (ख) ज्ञान को दीप्त करें (ग) दानपूर्वक अदन करनेवाले हों। **तम्**=उस व्यक्ति को **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **प्राचा**=आगे बढ़ने के मार्ग से (प्र अञ्च्) **प्रणयति**=ले-चलता है। २. **अद्भुतः**=वह आश्चर्यभूत प्रभु **ईम्**=निश्चय से इसे **अंहसः**=पाप से **उरुष्यति**=बचाता है। **रिषः**=हिंसक **अंहोः**=दारिद्र्य व कुटिलता से **रक्षति**=रक्षित करता है और **चित्**=निश्चय से **अस्मै**=इसके लिए **उरुचक्रिः**=महान् उपकार को करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'मलों के क्षरण, ज्ञानदीप्ति तथा यज्ञशेष के सेवन' से होती है। प्रभु उपासक को पाप से बचाते हैं—दारिद्र्य से रक्षित करते हैं।

सूक्त की मूल भावना यह है कि हम प्रभु का उपासन करें, प्रभु हमारा रक्षण करेंगे। प्रभु से रक्षित होकर हम दिव्यभावों को प्राप्त करेंगे।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मित्र आदि देवों का धारण

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ १॥

१. आदित्य ही देव हैं। ये सदा अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले हैं 'आदानात्'। अच्छाइयों को ग्रहण करने के कारण ही ये देव बने हैं। ये देव ज्ञान से दीप्त होने के कारण यहाँ 'राजभ्यः' इस प्रकार कहे गये हैं 'राजृ दीप्तौ'। मैं **राजभ्यः**=इन चमकनेवाले **आदित्येभ्यः**=देवों के लिए—इन देवों को प्राप्त करने के लिए **इमाः**=इन **घृतस्नूः**=ज्ञानदीप्ति का स्रवण करनेवाली **गिरः**=वाणियों को **सनात्**=सदा **जुह्वा**=वाणी से **जुहोमि**=(करोमि -सा०) सदा अपने अन्दर आहुत करता हूँ। इन ज्ञानवाणियों द्वारा मैं दिव्य गुणों को अपने में धारण करता हूँ। २. (क) **मित्रः**=मित्र **नः**=हमारी प्रार्थना **शृणोतु**=सुने। 'प्रमीतेस्त्रायकः' प्रमीति से बचानेवाला मित्र है—मैं अपने को रोगों व पापों से बचानेवाला बनूँ। (ख) **अर्यमाः**='अरीन् यच्छति' काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला सुने, अर्थात् मैं भी काम-क्रोध-लोभ का नियमन करनेवाला बनूँ। (ग) **भगः**=भजनीय ऐश्वर्य मेरी प्रार्थना को सुने। मैं भजनीय ऐश्वर्य का प्राप्त करनेवाला होऊँ। (घ) **तुविजातः**=महान् विकासवाला मेरी वाणी को सुने। मैं अधिक से अधिक विकासवाला बनूँ। (ङ) **वरुणः**=पाप से निवारण करनेवाला देव मेरी प्रार्थना सुने। मैं पाप से अपने को बचाता हुआ वरुण बनूँ। (च) **दक्षः**=सब कार्यों को कुशलता से करने में समर्थ 'दक्ष' मेरी वाणी को सुने। मैं भी कार्यकुशल 'दक्ष' बनूँ। (छ) **अंशः**=अंश मेरी प्रार्थना सुने। धनों को बांटकर खानेवाला 'अंश' ही मैं बन पाँऊ। (अंश् to divide)।

भावार्थ—मैं ज्ञान प्राप्त करता हुआ नियमन करनेवाला, भजनीय ऐश्वर्यवाला, महान् विकासवाला, पाप से अपना निवारण करनेवाला, कार्यकुशल, बाँटकर खानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मित्र-अर्यमा-वरुण

इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः॥ २॥

१. **अद्य**=आज **मे इमं स्तोमम्**=मेरे इस स्तवन को **सक्रतवः**=समान संकल्प व प्रज्ञानवाले **मित्रः अर्यमा वरुणः**=मित्र, अर्यमा और वरुण **जुषन्त**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले बनें। मैं मित्र बनूँ—अर्यमा बनूँ और वरुण बनूँ। सबके साथ स्नेह करनेवाला—काम-क्रोध-लोभ को वश में करनेवाला तथा द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। २. 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ये **आदित्यासः**=आदित्य हैं—सब अच्छाइयों का अपने में आदान करनेवाले हैं। **शुचयः**=ये पवित्र हैं। **धारपूताः**=अपनी धारकशक्ति द्वारा पवित्र ही पवित्र हैं। **अवृजिनाः**=वृजिन व पाप से रहित हैं। **अनवद्याः**=प्रशस्त ही प्रशस्त हैं और **अरिष्टाः**=हमें हिंसित न होने देनेवाले हैं।

भावार्थ—स्नेह, संयम व निर्द्वेषता धारण करके मैं जीवन को बड़ा पवित्र बना पाऊँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-लक्षण

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति॥ ३॥

१. **ते**=वे **आदित्यासः**=देव **उरवः**=विशाल होते हैं—सम्पूर्ण वसुधा को कुटुम्ब मानकर चलते हैं। **गभीराः**=गम्भीरवृत्ति के होते हैं—उथले स्वभाव के नहीं। झट तैश में नहीं आ जाते। **अदब्धासः**=कभी दबते नहीं—अहिंसित होते हैं। **दिप्सन्तः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के हिंसन की कामनावाले, **भूर्यक्षाः**=(भूरि अक्षि) दूरदृष्टि व बहुत तेजवाले होते हैं (बहुतेजसः -

सा०)। २. ये **अन्तः**=अपने अन्दर **वृजिना**=पापों को **उत**=और **साधु**=जो उत्तमता है, उसको **पश्यन्ति**=देखते हैं। पाप दूर करने के लिए यत्नशील होते हैं। औरों के ही पाप-पुण्यों को नहीं देखते रहते। ३. इन **राजभ्यः**=देदीप्यमान ज्ञानदीप्त देवों के लिए **परमाचित्**=सामान्य लोगों से दूर देश में स्थित भी ज्ञानतत्त्व निश्चय से **सर्वम् अन्ति**=सब समीप ही समीप होते हैं। सामान्य लोग जिन तत्त्वों को नहीं देख रहे होते, वे उन्हें साक्षात् करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—'देव' विशालहृदय-गम्भीर-अहिंसित व कामादि का हिंसन करनेवाले तेजस्वी होते हैं। वे अपने पाप-पुण्यों को देखते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानतत्त्वों का ये साक्षात्कार करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धारण करनेवाले देव

धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि ॥ ४ ॥

१. **आदित्यासः**=देव **जगत्**=जंगम प्राणिसमूह को और **स्थाः**=स्थावर जगत् को भी **धारयन्तः**=धारण करते हुए होते हैं। **देवः**=ये प्रकाशमय जीवनवाले **विश्वस्य भुवनस्य**=सारे प्राणियों के **गोपाः**=रक्षक होते हैं। इनके कर्म सदा धारणात्मक होते हैं। 'विनाश' वृत्ति तो दस्युओं की है। २. **दीर्घाधियः**=ये दीर्घबुद्धि व कर्मोंवाले होते हैं—अल्पदृष्टि न होकर विशाल दृष्टिवाले होते हैं तथा संकुचित कर्मोंवाले न होकर विशाल कर्मोंवाले होते हैं। ये **असुर्यम्**=उस महान् असुर-प्राणशक्ति दाता प्रभु की प्राप्ति के लिए हितकर सोमशक्ति (वीर्यशक्ति) का **रक्षमाणाः**=रक्षण करते हैं। इस सोमरक्षण से ही तो उस सोम की प्राप्ति होनी है। **ऋतावानः**=ये ऋतवाले होते हैं—सदा सब कर्मों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले होते हैं और इसप्रकार **ऋणानि**='पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण तथा देव-ऋण' को **चयमानाः** (अपगमयन्तः -सा०)=अपने से अपगत करते हैं। इन ऋणों को उतारनेवाले होते हैं। सन्तानों का पालन, स्वाध्याय व यज्ञों को करते हुए इन ऋणों से मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—देव सदा रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये वे शक्तिरक्षण करके प्रभुप्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पापगर्त में गिरने से बचाव

विद्यामादित्या अवसो वो अस्य यदर्यमन्भय आ चिन्मयोभु।
युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम् ॥ ५ ॥

१. हे **आदित्याः**=देवो! मैं **वः**=आपके **अस्य अवसः**=इस रक्षण का **विद्याम्**=लाभ करूँ (विद् लाभे)। आपके इस रक्षण को प्राप्त करनेवाला बनूँ **यत्**=जो हे **अर्यमन्**=शत्रुओं का नियमन करनेवाले! **भये**=इस भयावह संसार में **चित्**=निश्चय से **आमयोभु**=सर्वतः कल्याण देनेवाला है। २. हे अर्यमन्! **मित्रावरुणा**=स्नेह की देवते! तथा निर्द्वेषता की देवते! **युष्माकं प्रणीतौ**=आपके प्रणयन में **दुरितानि**=पापों को **परिवृज्याम्**=मैं इस प्रकार चारों ओर से छोड़नेवाला बनूँ **इव**=जैसे कि कोई भी व्यक्ति **श्वभ्रा**=गड्ढों को छोड़कर चलता है। मैं दुरितों से ऐसे बचूँ जैसे गड्ढों से।

भावार्थ—अर्यमा मित्र और वरुण का आराधन—'न्यायकारित्वस्नेह तथा निर्द्वेषता' का साधन मुझे सब पापों से बचाए।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुगम मार्ग

सुगो हि वो अर्यमन्मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति।
तेनादित्या अधि वोचता नो यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म ॥ ६ ॥

१. हे **अर्यमन्**=काम-क्रोध-लोभ का नियमन करनेवाले! **वः पन्थाः**=आपका मार्ग **हि**=निश्चय से **सुगः**=सुखेन गन्तव्य है। उस मार्ग में कुटिलता नहीं—भटकने का खतरा नहीं। हे **मित्र**=स्नेह की देवते! तेरा मार्ग **अनृक्षरः**=(ऋक्षर=कण्टक) कण्टकरहित है अथवा (अ-नृ-क्षर) मनुष्यों को विनाश न करनेवाला है। हे **वरुण**=पाप व द्वेष का निवारण करनेवाले! आपका मार्ग **साधुः अस्ति**=सदा कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। २. अर्यमा, मित्र, और वरुण का मार्ग सुग, अनृक्षर व साधु है, अतः **तेन**=उस कारण से हे **आदित्याः**=अर्यमा आदि देवो! **नः**=हमारे लिए **अधिवोचत**=आधिक्येन इस मार्ग का उपदेश दीजिए और **नः**=हमारे लिए **दुष्परिहन्तु**=सब बुराइयों का परिहनन (हिंसन) करनेवाले **शर्म**=सुख को **यच्छता**=दीजिए। हम अर्यमा का आराधन करते हुए अपने जीवन के मार्ग को सुग बनावें, मित्र का आराधन हमारे मार्ग को अनृक्षर बनाए, वरुण के आराधन से हमारा मार्ग साधु हो। इस मार्ग पर चलते हुए हम उस सुख को प्राप्त करें, जिसमें कि किसी अशुभ का समावेश न हो। हमारा सुख भी शुद्ध व पवित्र हो। मलिन-वस्तुओं में हम आनन्द लेनेवाले न हों।

भावार्थ—हमारा मार्ग सुख से गन्तव्य, कण्टक रहित व उत्तम हो। मेरा सुख सब अशुभों का हनन करनेवाला हो।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्द्वेषता में ही सुख है

पिपर्तु नो अदितीर राजपुत्रातिऽद्वेषांस्यर्यमा सुगेभिः।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टाः ॥ ७ ॥

१. यह **अदितिः**=माता **राजपुत्रा**=देदीप्यमान पुत्रोंवाली **नः**=हमें **द्वेषांसि अति पिपर्तु**=द्वेष की वृत्तियों से पार करे। **अर्यमा**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को वश में करनेवाला अर्यमा **सुगेभिः**=सुष्ठु गन्तव्य मार्गों से हमें द्वेषादि वृत्तियों से ऊपर उठाये। २. **मित्रस्य**=सबके साथ स्नेह करनेवाले का तथा **वरुणस्य**=द्वेष व पाप के निवारण करनेवाले का **शर्म**=सुख **बृहत्**=महान् है। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता में ही सुख है। हम **पुरुवीराः**=खूब वीर सन्तानोंवाले होते हुए **अरिष्टाः**=वासनाओं से अहिंसित होते हुए मित्र और वरुण के **शर्म**=सुख को **उपस्याम**=उपगत हों। हमें भी मित्र और वरुण का सुख प्राप्त हो।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठें, इसी में सुख है।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वास्थ्य-शान्ति-दीप्ति

तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रींरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु ॥ ८ ॥

१. मित्र, अर्यमा और वरुण ये क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को धारण करते हैं। मित्र इन्द्रियों में असुरों (काम) के बनाये हुए किले को नष्ट करता है। वरुण हृदयान्तरिक्ष में बनाये हुए क्रोध के किले को तथा अर्यमा मस्तिष्क में बनाये हुए लोभ के किले को समाप्त करता है। इस

प्रकार ये मित्र, अर्यमा और वरुण **तिस्रः भूमीः**=तीनों भूमियों को—प्राणियों के निवासस्थान भूत लोकों को **धारयन्**=धारण करते हैं। **उत**=और **त्रीन् द्यून्**=इन लोकों के तीन देवों को—अग्नि, विद्युत् व सूर्य को भी धारण करते हैं। शरीर में अग्नि को, हृदय में विद्युत् को तथा मस्तिष्क में सूर्य को ये धारण करते हैं। काम के विनाश से शरीर में अग्नितत्त्व ठीक रूप में रहता है, क्रोध के विनाश से हृदय में विद्युत्तत्त्व ठीक रूप में होता है और लोभ के विनाश से मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से देदीप्यमान रहता है। **अन्तः विदथे**=शरीर के अन्दर चलनेवाले यज्ञ में **एषाम्**=इन मित्र, वरुण, अर्यमा के **त्रीणि व्रता**=तीन व्रत हैं। 'मित्र' शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करता है। 'वरुण' हृदय को क्रोधशून्य कर शान्ति देता है। 'अर्यमा' लोभ को दूर करके मस्तिष्क को दीप्ति प्राप्त कराता है। २. हे **आदित्याः**=देवो! **ऋतेन**=ऋत के कारण—सब कार्यों को ठीक व ठीक स्थान में करने के कारण **वः**=आपका **महि महित्वम्**=महान् महत्त्व है। हे **अर्यमन् वरुण मित्र**=अर्यमा, वरुण व मित्र देवो! आपका वह महत्त्व **चारुः**=बड़ा सुन्दर है। इनकी महिमा से जीवन भी सौन्दर्य से परिपूर्ण हो उठता है।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व अर्यमा' हमारे जीवनों में स्वास्थ्य शान्ति व दीप्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देव क्या करते हैं?

त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय॥ ९॥

१. देववृत्ति के पुरुष **ऋजवे मर्त्याय**=ऋजुमार्ग से चलनेवाले मनुष्य के लिए **त्री**=तीन **दिव्या**=अलौकिक **रोचना**=दीप्तियों को—'स्वास्थ्य, शान्ति व ज्ञानदीप्ति' को **धारयन्त**=धारण करते हैं। ये देववृत्ति के पुरुष **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय-जीवनवाले होते हैं, **शुचयः**=पवित्र मनोंवाले तथा **धारपूताः**=शुक्र को धारण करने से पवित्र व नीरोग शरीरवाले होते हैं। मस्तिष्क में हिरण्यम, मन में शुचि व शरीर में धारपूत। २. ये देव **अस्वप्नजः**=स्वप्नक्—सोने की वृत्तिवाले नहीं होते। **अनिमिषाः**=आँख की पलक नहीं मारते—सदा सावधान रहते हैं। इसीलिए **अदब्धाः**=वासनाओं से हिंसित नहीं होते। **उरुशंसाः**=खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं। यह प्रभुस्तवन इन्हें वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। ३. इस प्रकार स्वयं उत्तमजीवनवाले बनकर ये देव अपने क्रियात्मक उदाहरण से औरों के जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—देव 'ज्योतिर्मय, पवित्र व स्वस्थ' होते हैं। सदा सावधान रहते हुए, वासनाओं के शिकार न होकर, औरों को वासनाओं का शिकार होने से बचाते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दीर्घ, सशक्त व निष्पाप' जीवन

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा॥ १०॥

१. हे **असुर**=सब वासनाओं को हमारे से परे फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) **वरुण**=पाप के निवारक! **त्वम्**=आप **विश्वेषाम्**=सबके **राजा**=शासक हैं। **ये च देवाः**=जो देववृत्ति के हैं, **ये च**=और जो **मर्ताः**=सामान्य मनुष्य हैं—उन सबके आप शासक हैं। २. आप **नः**=हमें **शतं शरदः**=सौ वर्ष **विचक्षे**=विशिष्ट दर्शन के लिए **रास्व**=दीजिए। हम सौ वर्ष तक इन्द्रियों से ठीक

कार्य करते हुए उत्तम जीवन को बितानेवाले हों। उन **आयूंषि**=जीवनों को **अश्याम**=हम व्याप्त करें—प्राप्त करनेवाले हों जो कि **सुधितानि**=उत्तमता से धारण किये गये हैं (सु-हितानि) तथा **पूर्वा**=पालन व पूरण वाले हैं। जिन जीवनों में शरीर रोगों से रहित हैं, तथा मन न्यूनताओं से रहित हैं उन पूर्णजीवनों को हम प्राप्त करें।

भावार्थ—वरुण की कृपा से हमारे जीवन दीर्घ, सशक्त व निष्पाप हों।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिङ् मोह-निवृत्ति (सत्संग-लाभ)

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥ ११॥

१. **न दक्षिणा विचिकिते**=न दक्षिण दिशा जानी जाती है, **न सव्या**=ना ही दक्षिण से विपरीत उत्तर दिशा। हे **आदित्याः**=अमरो! **न प्राचीनम्**=न पूर्व सूझता है, **उत**=और **न पश्चा**=न पश्चिम। दायां-बायां व आगे-पीछे कुछ सूझता नहीं। आनन्द अज्ञान के कारण मुझे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का स्पष्ट बोध नहीं होता। 'क्या करुँ, क्या न करूँ' कुछ सूझता नहीं। २. हे **वसवः**=मेरे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **पाक्या चित्**=मैं निश्चय से पक्तव्यप्रज्ञावाला हूँ—अपरिपक्व बुद्धि हूँ। **धीर्या चित्**=धैर्य देने योग्य हूँ, अर्थात् कातर व भयभीत हूँ। पर **युष्मानीतः**=आपसे ले-जाया जाता हुआ मैं **अभयं ज्योतिः**=अभय ज्योति को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। उस प्रकाश को प्राप्त करूँ जो कि मुझे सब भयों से ऊपर उठानेवाला हो—जिससे मेरी सारी कातरता दूर हो जाय। यह प्रकाश मुझे बुद्धि की परिपक्वता प्राप्त कराए। परिपक्व बुद्धिवाला होकर मैं कर्तव्यपथ को जाननेवाला बनूँ। मैं दिङ्मूढ़ न बना रहूँ।

भावार्थ—ज्ञानीपुरुषों के संग से मुझे वह प्रकाश प्राप्त हो, जो कि मेरे दिङ्मोह को दूर करनेवाला हो। उस प्रकाश में मैं कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन के तीन प्रयोग

यो राजभ्य ऋतनिभ्यो ददाश यं वर्धयन्ति पुष्टयश्च नित्याः।
स रेवान्याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः॥ १२॥

१. (क) **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् पुरुष **राजभ्यः**=राजाओं के लिए **ददाश**=कर के रूप में धन देता है। (ख) जो **ऋतनिभ्यः**=ऋत के नेताओं के लिए—युवकों को सन्मार्ग पर ले चलनेवाले उपाध्यायों व आचार्यों के लिए इसी प्रकार (ऋत=यज्ञ) लोकहित के कर्मों को करनेवालों के लिए देता है। (ग) **च**=और **यम्**=जिसको **नित्याः**=स्थिर **पुष्टयः**=पोषक पदार्थ **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं, अर्थात् जो धनों का विनियोग जीवन के पोषक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए करता है—अर्थात् जो विलास में धनों का अपव्यय नहीं करता। २. **सः देवान्**=वह धनी **प्रथमः**=सबसे आगे **रथेन याति**=रथ से चलता है, अर्थात् इस धनी को जनसमूह में सम्मान प्राप्त होता है। यह **वसुदावा**=धनों का देनेवाला होता है और **विदथेषु प्रशस्तः**=यज्ञों में प्रशंसनीय होता है। यज्ञस्थलों में एकत्रित होनेवाले इसकी प्रशंसनीय शब्दों में चर्चा करते हैं।

भावार्थ—धन हमें धन्य बनाता है यदि हम (क) उचित कर राजकोष में दें (ख) लोकहित में लगे हुए व्यक्तियों व संस्थाओं को इसे प्राप्त कराएँ (ग) तथा जीवन के पोषक तत्त्वों को प्राप्त करने में इसका व्यय करें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जल व अन्न

शुचिरपः सूयवसा अदब्ध उप क्षेति वृद्धवयाः सुवीरः।
नकिष्टं घ्नन्त्यन्तितो न दूराद्य आदित्यानां भवति प्रणीतौ॥ १३॥

१. **शुचिः**=गतमन्त्र में वर्णित पवित्र जीवनवाला यह व्यक्ति **अपः**=जलों को तथा **सूयवसाः**=शोभन सस्यों को **अदब्धः**=अहिंसित होता हुआ **उपक्षेति**=खाकर जीवन धारण करता है (उप जीवति)। जलों और अन्नों का ही सेवन करता है—उनका भी सेवन मात्रा में ही करता है ताकि वे इसे हिंसित करनेवाले न हों। इस प्रकार यह **वृद्धवयाः**=दीर्घ व उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। **सुवीरः**=उत्तम वीर होता है। २. **यः**=जो भी इस प्रकार **आदित्यानाम्**=देवों के **प्रणीतौ**=प्रणयन में होता है, अर्थात् देवों की तरह ही हविर्भुक् होता है न कि पिशाच, **तम्**=उसको **नकिः अन्तितः**=न तो समीप से और न **दूरात्**=न दूर से **घ्नन्ति**=शत्रु मारनेवाले होते हैं। न आन्तर-शत्रु उसे मार पाते हैं और न ही बाह्य-शत्रु।

भावार्थ—मनुष्य देवों का अनुकरण करता हुआ जल पीये और अन्न खाये तो वह शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है। मांसभोजन ही काम, क्रोध, लोभादि को जन्म देता है।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाश, न कि अन्धकार

अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः॥ १४॥

१. **अदिते**=हे अदीने! **मित्र उत वरुण**=स्नेह तथा निष्पापता के देवताओ! **मृड**=आप हमें सुखी करो **यद्**=चाहे **वयम्**=हम **वः**=आपके विषय में **कच्चिद्**=कुछ **आगः**= अपराध **चकृमा**=कर बैठें। 'अदिति' अखण्डन व स्वास्थ्य का देवता है। हम असावधानी से स्वास्थ्य के विषय में कुछ अपराध कर बैठें तथा स्नेह के स्थान में कभी कटुता को अपना बैठें और निर्द्वेषता से पूरे-पूरे ऊपर न उठ पाएँ तो भी आप हमें कृपादृष्टि से ही देखना। २. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विनाश करनेवाले प्रभो! मैं **उरु**=विशाल **अभयम्**=निर्भयता के आधारभूत **ज्योतिः**=प्रकाश को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। और **नः**=हमें **दीर्घः**=ये न समाप्त होनेवाले—दीर्घकाल तक चलनेवाले **तमिस्राः**=अन्धकार **मा अभिनशन्**=मत प्राप्त हों। रात्रि के कुछ निद्रा के घण्टों को छोड़कर हम सदा चैतन्य अवस्था में बने रहें।

भावार्थ—अदिति, मित्र और वरुण की कृपा से हम प्रकाश को प्राप्त हों—अन्धकार हमारे से दूर हो।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सौभाग्यशाली

उभे अस्मै पीपयतः समीची दिवो वृष्टिं सुभगो नाम पुष्यन्।
उभा क्षयावाजयन्याति पृत्सूभावर्धौ भवतः साधू अस्मै॥ १५॥

१. **अस्मै**=इस प्रकाशमय जीवनवाले के लिए **उभे**=दोनों **समीची**=संगत हुए-हुए अर्थात् एक-दूसरे के पूरक होते हुए द्युलोक और पृथ्वीलोक **पीपयतः**=आप्यायन=वर्धन-करनेवाले होते हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक इसे ज्ञान से बढ़ाता है और शरीररूप पृथ्वीलोक इसे दृढ़ता व शक्ति से पुष्ट करता है। यह **सुभगः**=उत्तम भाग्यवाला पुरुष **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **वृष्टिम्**=ज्ञान

की वर्षा को **नाम**=निश्चय से **पुष्यन्**=अपने में प्राप्त (Possess) करनेवाला होता है। २. यह व्यक्ति **पृत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में चलता हुआ **उभौ क्षयौ**=दोनों लोकों को—द्युलोक व पृथिवीलोक को—मस्तिष्क व शरीर को **आजयन्**=पूर्णरूप से जीतता हुआ **याति**=गति करता है। विजयी बनकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है। **अस्मै**=इसके लिए **उभौ अर्धौ**=ये दोनों आधे-आधे लोक **साधू भवतः**=इसके स्वास्थ्य को सिद्ध करनेवाले होते हैं। शरीर की शक्ति के बिना मस्तिष्क अधूरा है, मस्तिष्क के बिना शक्ति अधूरी है। ये दोनों अलग-अलग अधूरे हैं। मिलकर एक दूसरे की पूर्ति करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सौभाग्यशाली वह है जिसके जीवन में द्युलोक व पृथिवीलोक का मेल होता है। 'ज्ञान' शक्ति का पूरक है, 'शक्ति' ज्ञान की। दोनों मिलकर इसके जीवन को पूर्ण बनाते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

न द्रोह न रिपुता

या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः।
अश्वीव ताँ अति येषं रथेनारिष्टा उरावा शर्मन्त्स्याम॥ १६॥

१. हे **यजत्राः**=पूज्य **आदित्याः**=अमरो! **याः**=जो **वः**=आपकी **मायाः**=मायाएँ **अभिद्रुहे**=औरों का द्रोह करनेवालों के लिए हैं तथा जो आपके **पाशाः**=जाल **रिपवे**=शत्रुओं के लिए **विचृत्ताः**=ग्रथित हुए हैं मैं **तान्**=उन सब मायाओं व पाशों को **अतियेषम्**=लांघकर पार करनेवाला बनूँ—इन मायाओं व पाशों को तैर जाऊँ। उसी प्रकार तैर जाऊँ **इव**=जैसे कि **अश्वी**=उत्तम घोड़ेवाला **रथेन**=रथ से दुर्गम मार्गों को लांघ जाता है। द्रोह करनेवाले पुरुष प्रभु की इस माया में फंस जाते हैं—वस्तुतः माया में फंसने के कारण ही वे द्रोहवृत्तिवाले हो जाते हैं। परमात्मा औरों के साथ शत्रुता से वर्तनेवालों को पाशों में जकड़ता है। हम न रिपु हों और न द्रोही ही। तभी हम माया व पाशों से बच पाएँगे। २. **अरिष्टाः**=अहिंसित होते हुए हम **उरौ आ शर्मन्**=प्रभु की विशाल शरण में **स्याम**=हों। हम द्रोह व शत्रुता के भावों से ऊपर उठकर विशाल सुखों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम द्रोह व शत्रुता से ऊपर उठें—तभी माया के चक्कर से बच पाएँगे और प्रभु के पाशों में जकड़े न जाएँगे।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयमयुक्त धन

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १७॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! **अहम्**=मैं **मघोनः**=ऐश्वर्यों के स्वामी **भूरिदाव्नः**=खूब देनेवाले **प्रियस्य आपेः**=प्रिय मित्र आपके आगे **शूनम्**=दारिद्र्यजनित कष्ट को **मा आविदम्**=मत निवेदन करूँ। मुझे दारिद्र्य-कष्ट का रोना न रोना पड़े। २. हे **राजन्**=सम्पूर्ण संसार के शासक प्रभो! **सुयमात्**=उत्तम संयम से युक्त **रायः**=धन से मैं **मा अवस्थाम्**=मत दूर स्थित होऊँ, अर्थात् मुझे सदा वह धन प्राप्त रहे जो कि मेरे जीवन में संयम को नष्ट करनेवाला न हो। हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विदथे**=ज्ञान-यज्ञों में **बृहद्वदेम**=खूब ही आप का स्तवन करें।

भावार्थ—मुझे दारिद्र्य-कष्ट न हो। मेरा जीवन संयमयुक्त धन से सम्पन्न हो।

सम्पूर्ण सूक्त 'देवों की उपासना द्वारा देव बनने' का संकेत करता है। देवों का धन संयमयुक्त

होता है। अदेवों के लिए धन मायामय हो जाता है। अगला सूक्त भी वरुण के व्रतों को धारण करने का उपदेश करता है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुकीर्ति-भिक्षा

इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु मह्ना।
अति यो मन्द्रो यजथाय देवः सुकीर्तिं भिक्षे वरुणस्य भूरेः ॥ १ ॥

१. **इदम्**=यह स्तोत्र उस प्रभु का है जो कि **कवेः**=क्रान्तदर्शी हैं—तत्त्वज्ञानी हैं—सर्वज्ञ हैं। **आदित्यस्य**=जो प्रभु आदित्य हैं—सूर्यसम तेज से देदीप्यमान हैं, अथवा सबको अपने अन्दर लिये हुए हैं 'आदानादादित्यः'। **स्वराजः**=स्वयं राजमान हैं—किसी अन्य से शासित नहीं होते—'प्रशासितारं सर्वेषाम्'=सबके शासक हैं। वे प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **विश्वानि सान्ति**=सब वर्तमान पदार्थों को **अभ्यस्तु**=अभिभूत किये हुए हैं। प्रभु के शासन से कोई भी वस्तु अतीत नहीं। २. **यः देवः**=जो प्रकाशयुक्त प्रभु **यजथाय**=(देवपूजा) पूजा करनेवाले के लिए **अतिमन्द्रः**=अतिशयेन हर्षयिता है। मैं उस **भूरेः**=(भृ=धारणपोषणयोः) धारण व पोषण करनेवाले **वरुणस्य**=वरुण के, पाप-निवारक प्रभु के **सुकीर्तिम्**=उत्तम कीर्तन को **भिक्षे**=माँगता हूँ। अथवा उस प्रभु से उत्तम कीर्तियुक्त जीवन की भिक्षा चाहता हूँ—मेरा जीवन अपयशवाला न हो जाए।

भावार्थ—पापनिवारक वरुणदेव की कृपा से मेरा जीवन उत्तमकीर्तिवाला हो।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वाध्यः तुष्टुवांसः (ध्यान-निष्पापता-सौभाग्य)

तव व्रते सुभगासः स्याम स्वाध्यो वरुण तुष्टुवांसः।
उपायन उषसां गोमतीनामग्नयो न जरमाणा अनु द्यून् ॥ २ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! हम **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यानवाले होकर **तुष्टुवांसः**=स्तवन करनेवाले बनकर **तव व्रते**=आपके व्रत में स्थित हुए-हुए, अर्थात् निर्द्वेषता व निष्पापता को ही ध्येय बनाते हुए **सुभगासः**=उत्तम सौभाग्यवाले **स्याम**=हों। निष्पापता का परिणाम सौभाग्य है। निष्पापता के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का ध्यान व स्तवन करें। २. **गोमतीनाम्**=प्रकाशक की किरणोंवाली **उषसाम्**=उषाओं के **उपायने**=आने पर **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **जरमाणाः**=आपका स्तवन करते हुए हम **अग्नयः न**=अग्नियों के समान समिद्ध हों। जैसे अग्निकुण्ड में प्रतिदिन प्रातः अग्निहोत्र की अग्नि समिद्ध होती है, इसी प्रकार प्रभु का स्तवन करता हुआ मैं ज्ञान से समिद्ध होऊँ।

भावार्थ—ध्यान व स्तवन द्वारा प्रभु के व्रत में चलते हुए हम सौभाग्यवाले हों। प्रतिदिन प्रातः प्रभुचिन्तन करते हुए हम अग्नियों की तरह चमकें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के मित्र

तव स्याम पुरुवीरस्य शर्मन्नुरुशंसस्य वरुण प्रणेतः।
यूयं नः पुत्रा अदितेरदब्धा अभि क्षमध्वं युज्याय देवाः ॥ ३ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! **पुरुवीरस्य**=खूब ही शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले

उरुशंसस्य=महान् स्तवनवाले **प्रणेतः**=प्रकृष्ट नेता प्रभो! **तव**=आपकी **शर्मन्**=शरण में (गृहे सा०) **स्याम**=हम हों। प्रभु की शरण में चलने पर हमारे शत्रु नष्ट हो जाएँगे—प्रभु का उपासक कामादि वासनाओं से प्रतारित नहीं होता। २. **अदितेः पुत्राः**=अमृत के पुत्रो—आदित्यो **देवाः**=देवो! **अदब्धाः**=अहिंसित होते हुए **यूयम्**=आप **नः**=हमें **युज्याय**=उस प्रभु की मित्रता के लिए **अभिक्षमध्वम्**=सहनशक्ति से युक्त करो। आप हमें सब प्रकार से प्रभु के मेल के लिए सक्षम बनाओ। जितना-जितना हम देवों के समीप होते जाते हैं—जितनी-जितनी वे दिव्यवृत्तियाँ अहिंसित रूप से हमारे में स्थित होती हैं, उतना-उतना हम प्रभु की मित्रता के योग्य होते जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की शरण में रहें। देववृत्तियों का वर्धन करते हुए प्रभु के मित्र बनने योग्य हों।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृष्टिरूप कर्म

प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन्॥ ४॥

१. **आदित्यः**=वह सूर्यसम दीप्त **विधर्ता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु **सीम्**=सर्वतः **ऋतम्**=(Rain water) वृष्टिजल को **प्रासृजत्**=खूब ही बरसाता है। इस वृष्टिजल से ही **वरुणस्य**=उस सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु की **सिन्धवः**=ये नदियाँ **यन्ति**=प्रवाहित होती हैं। वृष्टिजल से नदियाँ वह चलती हैं। २. **एते**=ये नदियाँ **न श्राम्यन्ति**=न तो थक ही जाती हैं, **न विमुचन्ति**=न ही अपने प्रवाहरूप कर्म को छोड़ देती हैं। ये तो **वयः न**=आकाश में उड़नेवाले पक्षियों के समान **रघुया**=तीव्र गतिवाली होती हुई **परिज्मन्**=इस पृथ्वी पर चारों ओर **पप्तू**=गतिवाली होती हैं। इन नदियों के प्रवहण से ही हमारे लिए जल की प्राप्ति सम्भव होती है। अन्यथा यह सब पानी समुद्र में पहुँचा हुआ हमारे लिए दुर्लभ ही हो जाता।

भावार्थ—प्रभु के वृष्टिरूप कर्म से नदियाँ प्रवाहित होती हैं और हमारे लिए जलप्राप्ति सम्भव होती है। इस वृष्टिरूप-कर्म द्वारा ही प्रभु हमारा धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्त तक क्रियाशीलता

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः॥ ५॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **रशनाम् इव**=एक रज्जु (रस्सी) की तरह **मत्**=मेरे से **आगः**=अपराध को **विश्रथाय**=ढीला करिए। पाप को मेरे से दूर करिए, उस तरह दूर करिए जैसे कि किसी से रस्सी के बन्ध को दूर करते हैं। हे प्रभो! हम **ते**=आपकी **ऋतस्य खाम्**=इस वृष्टिजल की नदी को—गतमन्त्र में वर्णित निरन्तर चलनेवाली नदी को **ऋध्याम**=बढ़ानेवाले हों। इसी उद्देश्य से **धियम्**=यज्ञात्मक कर्म को **वयतः**=निरन्तर सतत करते हुए **मे**=मेरा **तन्तुः**=यह यज्ञतन्तु **मा छेदि**=मत विनष्ट हो। 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'=इन यज्ञों से ही तो बादल होता है। यज्ञों द्वारा वृष्टि में सहायक होते हुए हम इस ऋत की नदी को बढ़ानेवाले हों। २. **ऋतोःपुरा**=ऋतु से पहले—समाप्ति काल से पूर्व, अर्थात् १०० वर्ष के जीवन के अन्त से पहले **अपसः**=कर्म की **मात्रा**=माप **मा शारि**=शीर्ण मत हो जाए। हम अन्तिम दिन तक यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने में प्रमाद न करें। इन यज्ञों द्वारा वृष्टि में सहायक हों। समय पर ठीक वर्षा के होने से हमारे ऐश्वर्यों में वृद्धि हो। इन यज्ञों को न करना ही पाप है 'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'। यज्ञचक्र को न चलानेवाला

तो व्यर्थ ही जीता है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें—पाप से ऊपर उठें—यज्ञों द्वारा वृष्टि में सहायक होकर, प्रभु के इन वृष्टिजल से प्रवृत्त होनेवाली नदियों को हम बढ़ानेवाले हों। जीवन के अन्त तक क्रियाशील बने रहें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बन्धनमुक्ति व अनुग्रह

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे॥ ६॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! आप **मत्**=मेरे से **भियसम्**=भय को **सु**=अच्छी तरह **अपः म्यक्ष**=(अपगमय) दूर करिए। **सम्राट्**=आप सम्यग् राजमान हैं—आप ही सबके शासक हैं। **ऋतावः**=ऋतवाले हैं—ऋत का रक्षण करते हैं। आप **मा अनुगृभाय**=मेरे पर अनुग्रह कीजिए। २. **इव**=जैसे **वत्सात्**=बछड़े से **दाम**=रस्सी को छुड़ाते हैं, उसी प्रकार आप मेरे से **अंहः**=पाप को **विमुमुग्धि**=मुक्त करिए। आप ही सब कुछ करनेवाले हैं। **त्वत् आरे**=आपसे दूर कोई भी **निमिषः चन**=एक पलक मारने का भी **नहि ईशे**=ईश नहीं है—सामर्थ्य नहीं रखता। पलक मारने की शक्ति भी आपसे ही प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे से भय को दूर करें। अनुग्रह करके पाप को हमारे से छुड़ाएँ। आप से प्राप्त कराई गई शक्ति से ही सब कार्य होते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्योति का अप्रवास

मा नो वधैर्वरुण ये त इष्टावेनः कृण्वन्तमसुर भ्रीणन्ति।
मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म वि षू मृधः शिश्रथो जीवसे नः॥ ७॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **असुर**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभो! **ये**=जो **ते इष्टौ**=तेरे यज्ञ में **एनः कृण्वन्तम्**=पाप करते हुए को **भ्रीणन्ति**=हिंसित करते हैं **नः**=हमें **वधैः**=उन वधों से **मा**=मत हिंसित करिए। वरुण पाशी हैं। वरुण सम्बन्धी यज्ञ यही है कि हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधें। इस यज्ञ में पाप का स्वरूप यही है कि जीवन अव्रती हो। इस अव्रती का हिंसन होता ही है। हम व्रतमय जीवनवाले हों और हिंसित न हों। २. हम व्रतमय जीवनवाले तभी नहीं होते जबकि हमारा ज्ञान लुप्त हो जाता है। सो प्रार्थना करते हैं कि हम **ज्योतिषः**=ज्ञानज्योति के **प्रवसथानि**=प्रवासों को **मा गन्म**=मत प्राप्त हों, अर्थात् हमारी ज्योति सदा हमारे में बसे। इस ज्ञानाग्नि के द्वारा **मृधः**=हमारा वध करनेवाली वासनाओं को **सु**=अच्छी तरह **विशिश्रथः**=हमारे से मुक्त करिए—पृथक् करिए और इस प्रकार **नः जीवसे**=हमारे उत्कृष्टजीवन के लिए होइए।

भावार्थ—हमारा जीवन व्रती हो—हम ज्ञानज्योति से सदा युक्त रहें। इस ज्ञानज्योति में वासनाएँ भस्म हो जाएँ, ताकि हमारा जीवन उत्कृष्ट हो। हमारी बुद्धि कहीं चरने न चली जाए।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृढ़व्रतित्व

नमः पुरा ते वरुणोत नूनमुतापरं तुविजात ब्रवाम।
त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि॥ ८॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! **ते**=आपके लिए **पुरा**=पूर्वकालों में **नमः**=नमस्कार का **ब्रवाम**=हम उच्चारण करें। **उत**=और **नूनम्**=निश्चय से **तुविजात!**=हे महान् विकासवाले वरुण! **अपरम् उत**=अपरकालों में भी नमस्कार का उच्चारण करें। दिन के प्रारम्भ में और दिन के अन्त में दोनों समय हम आपका स्तवन करनेवाले हों। आपके प्रति खूब ही 'नम उक्तिं' को करनेवाले हों। इस नमन से ही हमारे जीवनों का ठीक विकास होगा। २. हे **दूडभ**=हिंसित न होनेवाले वरुण! **त्वे**=आपमें ही **व्रतानि**=व्रत **अप्रच्युतानि श्रितानि**=न च्युत होनेवाले रूप में आश्रित हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **पर्वते**=पर्वत में। पर्वत को कोई स्थानभ्रष्ट नहीं कर सकता, इसी प्रकार वरुण को कोई भी शक्ति व्रतभ्रष्ट नहीं कर पाती। वरुण की उपासना मुझे भी दृढ़ व्रतोंवाला बनाए।

भावार्थ—वरुण का उपासक बनकर मैं दृढ़व्रतमय जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'आत्मना भुजमश्नुताम्'

परा ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान्वरुण तासु शाधि॥ ९॥

१. हम छोटे होते हैं—असहाय होते हैं। माता-पिता कष्ट उठाकर हमारा पालन करते हैं। उनका हमारे पर एक ऋण चढ़ जाता है। अब हम अबोध बालकों को आचार्य ज्ञान देकर सुबोध बनाते हैं। इन आचार्यों, ऋषियों का हमारे पर दूसरा ऋण होता है। वायु आदि देवों का भी हमारे पर ऋण है—क्योंकि ये ही हमारे स्वास्थ्य के लिए निरन्तर क्रियाशील हैं। इस प्रकार हम अपने ऊपर इन ऋणों का भार लादे हुए हैं। हे **वरुण**=वरुण! **अध**=अब **मत्कृतानि**=मेरे से पैदा कर लिये गये इन **ऋण**=ऋणों को **पर आ सावीः**=हमारे से दूर करिए हे **राजन्**=ब्रह्माण्ड के शासक प्रभो! **अहम्**=मैं **अन्यकृतेन**=दूसरे से उत्पन्न किये गये धनों से **मा भोजम्**=अपना पालन करनेवाला न होऊँ। दूसरों की कमाई पर न जीऊँ। अपनी कमाई पर जीनेवाला ही श्रेष्ठ है। पिता की कमाई पर जीनेवाला मध्यम है—मामा की कमाई पर जीनेवाला अधम तथा श्वसुर की कमाई पर जीनेवाला अधमाधम है। सब ऋणों को उतार कर ही मैं अपने जीवन को सुन्दर बना पाता हूँ। २. जब तक ये ऋण उतर नहीं जाते तब तक **भूयसीः उषासः**=ये बहुत-से उषाकाल **इत् नु**=निश्चय से **अव्युष्टाः**=उदय होते हुए भी मेरे लिए अनुदित से ही हैं—ऋणों का भार मेरे प्रसाद को समाप्त-सा कर देता है। हे **वरुण**=मेरे ऋणों के बन्धन को दूर करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **तासु**=उन उषाओं में **जीवान्**=उज्जीवित करते हुए **आशाधि**=समन्तात् शासित करिए। आपके दिये हुए ज्ञान के प्रकाश से हम ऋणों को दूर करने के मार्ग पर चलें और प्रकाशमय जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम वरुण के व्रतों में चलते हुए ऋणों को दूर करनेवाले हों तथा अपने पोषण के लिए औरों पर निर्भर न हों। 'आत्मना भुजमश्नुताम्'।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भयंकर स्वप्न क्यों?

यो मे राजन्युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह।
स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्॥ १०॥

१. हे **राजन्**=ब्रह्माण्ड के शासक प्रभो! **यः**=जो ये **युज्यः वा**=मेरे साथ काम करनेवाला **वा**=अथवा **सखा**=मेरा मित्र **भीरवे मह्यम्**=मुझ भीरु के लिए **स्वप्ने**=स्वप्न में **भयम् आह**=भय को कहता है। हमने किसी युज्य वा सखा के विषय में कोई अपराध किया होता है तो कई बार

रात्रि में स्वप्न में भय लगता है—वह पाप भयंकर होकर हमें पीड़ित करनेवाला बनता है। हे वरुण! आप हमें उससे बचाइए। २. **वा**=अथवा **यः**=जो **स्तेनः**=चोर **नः**=हमें **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता है, **वा**=अथवा कोई **वृकः**=भेड़िया आदि हिंस्रपशु हमें मारना चाहता है। हे **वरुण**=हमारे पापों व कष्टों को दूर करनेवाले प्रभो! आप **तस्मात्**=उससे **अस्मान्**=हमें **पाहि**=रक्षित करिए। हम चोरों व हिंस्र पशुओं के शिकार न हो जाएं। वस्तुतः जब हम अपने युज्यों (साथ काम करनेवालों व रिश्तेदारों) व सखाओं से धोखा करके अपने को धनी बनाना चाहते हैं तो यह पाप हमारे भयंकर स्वप्नों का कारण बनता है अथवा हमें चोरों व वृकों से पीड़ित करता है।

भावार्थ—मैं पाप से ऊपर उठूँ। परिणामतः न भयंकर स्वप्नों को देखूँ—न चोरों व वृकों का शिकार होऊँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भूरिदावा वरुण

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ११॥

यह २.२७.१७ पर व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त वरुण की उपासना द्वारा जीवन को श्रेष्ठ बनाने पर बल देता है। अगले सूक्त में भी वरुण की उपासना से दिव्यगुणों के उत्पादन का संकेत है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धृतव्रत, आदित्य व इषिर

धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः ।
शृण्वतो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वाँ अवसे हुवे वः॥ १॥

१. **इव**=जिस प्रकार **रहसूः**=एकान्त में—विजन में बच्चों को जन्म देनेवाली कोई अविवाहित युवति उत्पन्न बच्चे को अपने से दूर करने के लिए यत्नशील होती है, इस प्रकार हे **धृतव्रताः**=व्रतों के धारण करनेवाले **आदित्याः**=सूर्यसम तेजस्वी अथवा सूर्य के समान प्रकाश को फैलानेवाले **इषिराः**=जातिमय जीवनवाले देवो! **मत्**=मेरे से **आगः**=अपराध को **आरे कर्त**=दूर करो। आपके उपदेश व प्रेरणा से मेरा जीवन निष्पाप बने। मैं भी आपकी तरह 'धृतव्रत-आदित्य व इषिर' बनूँ। २. हे **वरुण**=पापनिवारक **मित्र**=सबके साथ स्नेह करनेवाले! **देवाः**=प्रकाशमय जीवनवाले लोगो! **वः**=आपकी **भद्रस्य विद्वान्**=भद्रता को जानता हुआ मैं **शृण्वतः वः**=मेरी प्रार्थना को सुननेवाले आप लोगों को **अवसे**=रक्षण के लिये **हुवे**=पुकारता हूँ। आपके सम्पर्क में मैं भी 'वरुण-मित्र व देव' बन पाता हूँ। धृतव्रत होने से 'वरुण' होता हूँ। वरुण पाशी है—मैं भी व्रतों के पाशों से अपने को जकड़ता हूँ। आदित्य होने से 'मित्र' बनता हूँ। सूर्य के समान प्रकाश को फैलाता हुआ पापगर्त में गिरने से अपने को बचा पाता हूँ। इषिर व गतिशील बनकर 'देव' बनता हूँ।

भावार्थ—हम धृतव्रत, आदित्य व इषिर बनें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रमति-ओज-निर्द्वेषता

यूयं देवाः प्रमतिर्यूयमोजो यूयं द्वेषांसि सनुतर्युयोत ।
अभिक्षत्तारो अभि च क्षमध्वमद्या च नो मृळयतापरं च॥ २॥

१. हे **देवाः**=देवो! आप **प्रमतिः**=प्रकृष्टबुद्धि हो—आपके द्वारा मुझे यह प्रकृष्ट बुद्धि प्राप्त हो। **यूयम्**=आप **ओजः**=ओज हो। आपका उपासक बनता हुआ मैं ओजस्वी बनूँ। **यूयम्**=आप **द्वेषांसि**=द्वेषों को **सनुतः**=अन्तर्हित रूप में **युयोत**=हमारे से पृथक् करो। द्वेषों को इस प्रकार से हमारे से अन्तर्हित करिए कि ये हमें कभी न प्राप्त हों। वस्तुतः बुद्धि व ओज के होने पर द्वेष स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। २. **च**=और **अभिक्षत्तारः**=सब ओर शत्रुओं का हिंसन करनेवाले देवो! **अभिक्षमध्वम्**=हमारे शत्रुओं को आप अभिभूत करो, **च**=और **नः**=हमें **अद्य**=आज **आ मृडयत**=सुखी करो। **अपरं च**=आगे आनेवाले दिनों में भी सुखी करो। वस्तुतः काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को जीतकर ही हमारा जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—हम देवों की आराधना से प्रकृष्टबुद्धि व ओज प्राप्त करके द्वेषों से ऊपर उठें। इन अन्तःशत्रुओं के जीतने पर ही जीवन सुखी होता है।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवाराधन से कल्याण

किमू नु वः कृणवामापरेण किं सनेन वसव आप्येन।
यूयं नो मित्रावरुणादिते च स्वस्तिमिन्द्रामरुतो दधात॥ ३॥

१. हे देवो! **वः**=तुम्हारा **नु**=अब **किम् ऊ**=क्या ही **कृणवाम**=कर्म करें। अर्थात् किस कर्म द्वारा आपकी आराधना करें। **अपरेण**=आगे होनेवाले कर्म से आपकी क्या सेवा करें। हे **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **सनेन आप्येन किम्**=सनातन आप्तव्यकर्म से हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? हम आपका उचित आराधन करने में समर्थ नहीं, आपको पूरा-पूरा अपना नहीं पाते तो भी। २. **यूयम्**=आप हे **मित्रावरुणा**=मित्र, वरुण व **अदिते**=अदिति **च**=तथा **इन्द्रामरुतः**=इन्द्र और मरुतो! **इत्**=निश्चय से **स्वस्तिम् दधात**=कल्याण को धारण करो। 'मित्र' स्नेह का देवता है। 'वरुण' निर्द्वेषता का। 'अदिति'=स्वास्थ्य का सूचक है। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतिपादन करता है और 'मरुतः'=प्राणवाचक है। 'स्नेह-निर्द्वेषता-स्वास्थ्य-जितेन्द्रियता व प्राणसाधना' हमारा पूर्णरूपेण कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—मित्रादि देवों के आराधन के लिए यत्नशील हों। ये हमारा कल्याण करेंगे।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशीलता व अशान्ति

हये देवा यूयमिदापयः स्थ ते मृळत नाधमानाय मह्यम्।
मा वो रथो मध्यमवाळृते भून्मा युष्मावत्स्वापिषु श्रमिष्म॥ ४॥

१. **हये**=हे **देवाः**=देवो! **यूयम् इत्**=आप ही निश्चय से **आपयः स्थ**=मित्र हो। **ते**=वे आप **नाधमानाय**=वासनाओं से उपतप्त होते हुए (नाध=उपतापे) **मह्यम्**=मेरे लिए **मृडत**=सुख देनेवाले होओ। आप मेरी वासनाओं को नष्ट करो और उपताप के कारण को दूर करके मुझे सुखी करो। २. **वः**=आपका **रथः**=यह शरीररूप रथ **ऋते**=यज्ञों के निमित्त **मध्यमवाट्**=मध्यम (=धीमी) गतिवाला **मा भूत्**=मत हो। मेरा यह शरीररूप रथ आपसे अधिष्ठित है 'सर्वा ह्यस्मिन् देवताः गावो गोष्ठ इवासते'। यह यज्ञों के प्रति जाने में आलस्यवाला न हो। मैं इस मानव-शरीर को प्राप्त करके सदा यज्ञशील बना रहूँ। ३. **युष्मावत्सु**=आप जैसे **आपिषु**=मित्रों के होने पर **मा श्रमिष्म**=हम थक न जाएँ। हम सदा शक्तिशाली बने रहें—eschousted न हो जाएँ।

भावार्थ—देवों की मित्रता में हम यज्ञशील बने रहें। हमारी शक्ति समाप्त न हो जाए।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के अनुशासन से पाप-अपवृत्ति

प्र व एको मिमय भूर्यागो यन्मा पितेव कितवं शशास।
आरे पाशा आरे अघानि देवा मा माधि पुत्रे विमिव ग्रभीष्ट॥ ५॥

१. हे देवो! **वः**=आपका यह **एकः**=अकेला भी मैं **आगः**=पाप को **प्रमिमय**=प्रकेषण हिंसित करनेवाला हुआ हूँ। **यत्**=क्योंकि आपने उसी प्रकार **मा**=मेरा अनुशासन किया है **इव**=जैसे कि **पिता**=रक्षक पिता **कितवम्**=जुए में प्रवृत्त सन्तान को **शशास**=शासित करता है। २. हे **देवाः**=देवो! **पाशा आरे**=मेरे से विषयों के पाश दूर हुए हैं—**अघानि आरे**=सब पाप मेरे से दूर हुए हैं। हे विषयपाशो! **मा**=मुझे **अधिपुत्रेः**=उत्कृष्ट पुत्रों के होने पर तुम इस प्रकार **मा**=मत **ग्रभीष्ट**=पकड़ लो, **इव**=जैसे कि **विम्**=एक व्याध पक्षी को पकड़ता है। मैं उन पुत्रों के निर्माण आदि कार्यों में इस प्रकार प्रवृत्त रहूँ कि मेरा पाप की ओर झुकाव ही न हो। अथर्व में कहा कि हे पाप! तू मेरे से दूर हो क्योंकि 'गृहेषु गोषु मे मनः'=मेरा मन घर के कार्यों व गौवों की सेवा में प्रवृत्त है। उसी प्रकार यहाँ कहा गया है कि मैं अपने मन को सन्तान के निर्माण में लगाए हुए हूँ, मुझे अवकाश नहीं। पाप तो अवकाशवाले को ही बांधता है न?

भावार्थ—मैं देवों के उपदेश से पापवृत्तियों को नष्ट करनेवाला बनूँ। पुत्रादि के उत्तमनिर्माण में लगा हुआ मैं पापों से बचा रहूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवरक्षण द्वारा पापों से बचाव

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः॥ ६॥

१. हे **यजत्राः**=पूज्य देवो! **अद्य**=आज **अर्वाञ्चः भवत**=हमारे अभिमुख होइए—हमें आपकी अनुकूलता प्राप्त हो। **भयमानः**=इन पापों से डरता हुआ मैं **वः**=आपके **हार्दि**=हृदय में अवस्थित रक्षण को **आव्ययेयम्**=सर्वथा प्राप्त होऊँ। मैं हृदय में दिव्यभावों का उद्बोधन करता हुआ पाप से बचा रहूँ। २. हे **देवाः**=देवो! आप **वः**=हमें **वृकस्य**=इस लोभरूप वृक के (वृक आदाने) **निजुरः**=निहनन से **त्राध्वम्**=रक्षित करो। तथा **यजत्राः**=हे पूज्य देवो! **अवपदः**=अवनति के (अव=नीचे, पद गतौ) **कर्तात्**=करनेवाले इस काम-क्रोध से **त्राध्वम्**=हमारा रक्षण करिए।

भावार्थ—देवों के रक्षण से हम लोभादि से आहत न हों।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का खूब स्तवन

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ७॥

इसकी व्याख्या २.२७.१७ पर देखिए।

सूक्त का मूलभाव यही है कि हम देवों के रक्षण द्वारा पापों से बचे रहें। अगला सूक्त भी गृत्समद ऋषि का ही है। उसमें प्रभु का इन्द्रादि नामों से स्मरण है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की ओर झुकाव कब ?

ऋतं देवाय कृण्वते सवित्र इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः।
अहरहर्यात्यक्तुरपां कियात्या प्रथमः सर्ग आसाम्॥ १॥

१. **ऋतं कृण्वते**=सृष्टि के प्रारम्भ में अपने तीव्र तप से 'ऋत' को जन्म देनेवाले 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'। **देवाय**=ज्ञान से दीप्त **सवित्रे**=प्रेरणा देनेवाले अथवा सृष्टि उत्पन्न करनेवाले **अहिघ्ने**=वासना को (वृत्र=अहि) विनष्ट करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **आपः**=प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **न रमन्ते**=रमण व क्रीड़ावाली नहीं होतीं। सामान्यतः मनुष्यों का झुकाव प्रभु की ओर नहीं होता। जैसे एक बच्चा खिलौने से खेलने में मस्त रहता है—माता को भूल जाता है। इसी प्रकार इस संसार के विषयों में बद्ध हुए हम प्रभु को भूल जाते हैं। २. **अहरहः**=प्रतिदिन **अक्तुः**=प्रकाश की किरण **याति**=मनुष्य को प्राप्त होती है। जैसे सूर्योदय होता है और सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलता है। पर कितने ही कम वे व्यक्ति हैं जो कि सूर्य के प्रकाश का पूरा लाभ उठाते हैं। इसी प्रकार प्रभु की प्रेरणा सभी के हृदयों में प्राप्त होती है, परन्तु विरले ही व्यक्ति उसे सुनते व उससे लाभ उठाते हैं। ३. **आसाम् अपाम्**=इन प्रजाओं का यह **प्रथमः सर्गः**=मुख्य निश्चय (सर्ग=Determination, Resolve) न जाने **कियात्या**=कितने समय में हो पाएगा। 'हमने संसार के विषयों में न उलझकर प्रभु को ही पाना है' मनुष्य का यह निश्चय सर्वोत्तम है। इस निश्चय के होने में समय लग ही जाता है। कई जन्म बीत जाते हैं 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। वही दिन सौभाग्य का होगा जिस दिन हम प्रभु को पाने का दृढ़ निश्चय कर लेंगे।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश तो हमें सदा प्राप्त होता है, परन्तु हम उसको पाने के लिए कुछ कम उत्सुक होते हैं। यदि हमारा प्रभु की ओर झुकाव हुआ तो हम सचमुच सौभाग्यवाले होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना का नियमन व ज्ञानप्रवाह

यो वृत्राय सिनमत्राभरिष्यत्प्र तं जनित्री विदुष उवाच।
पथो रदन्तीरनु जोषमस्मै दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम्॥ २॥

१. **यः**=जो **वृत्राय**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना के लिए **अत्र**=इस जीवन में **सिनम्**=(सि=बन्धने) बन्धन को **अभरिष्यत्**=प्राप्त कराता है, अर्थात् जो कामरूप पशु को नियन्त्रित करके—बाँधकर रखता है **जनित्री**=यह वेदमाता **तम्**=उसे **विदुषे**=उस सर्वज्ञ प्रभु के लिए **प्र उवाच**=कहती है—संस्तुति recommend करती है, अर्थात् यदि मनुष्य वासनाओं को नियन्त्रित करके ज्ञानप्राप्ति में लगता है तो प्रभु को पानेवाला बनता है। २. **अस्मै**=इसके लिए **धुनयः**=ज्ञान की नदियाँ—सरस्वती के प्रवाह **अनुजोषम्**=जितना-जितना यह उनका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है उतना-उतना **पथः रदन्तीः**=मार्गों को बनाती हैं और **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अर्थम्**=उस अन्तिम गन्तव्य देश की ओर—परमात्मा की ओर **यन्ति**=चलती हैं, अर्थात् वासना का नियमन करनेवालों को ज्ञान की वाणियाँ प्रभु को प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—वासना का नियमन ज्ञानप्रवाह का कारण बनता है। ज्ञानप्रवाह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शत्रु-विजय

ऊर्ध्वो ह्यस्थादध्यन्तरिक्षेऽधा वृत्राय प्र वधं जभार।
मिहं वसान उप हीमदुद्रोत्तिग्मायुधो अजयच्छत्रुमिन्द्रः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वासना का नियमन करनेवाला **हि**=निश्चय से **ऊर्ध्वः**=विषयों से ऊपर उठा हुआ **अन्तरिक्षे**=मध्यमार्ग में **अधि अस्थात्**=स्थित होता है। वासना ही हमें मध्यमार्ग से विचलित करके 'अति' में ले-जाती हैं। **अधा**=अब यह मध्यमार्ग में चलनेवाला व्यक्ति **वृत्राय**=वासना के लिए **वधम्**=नाशक आयुध को **प्रजभार**=प्रहृत करता है—नाशक आयुध से उस पर प्रहार करता है। २. वासनाविनाश द्वारा **मिहम्**=शक्तिसेचन को **वसानः**=धारण करता हुआ—शक्ति को अपने में ही सुरक्षित करता हुआ **हि ईम्**=निश्चय से इस प्रभु के **उप अदुद्रोत्**=समीप गतिवाला होता है। इस सोमशक्ति के रक्षण से प्रभुरूप सोम को प्राप्त होने का सम्भव होता है। ३. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तिग्मायुधः**=इन्द्रिय मन व बुद्धिरूप आयुधों को तीव्र करके **शत्रुम्**=वासनारूप शत्रु को **अजयत्**=जीत लेता है।

भावार्थ—मध्यमार्ग में चलता हुआ मनुष्य वासना को नष्ट करता है—ज्ञान को बढ़ाता है और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम-वेधन

बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्।
यथा जघन्थ धृषता पुरा चिदेवा जहि शत्रुमस्माकमिन्द्र ॥ ४ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **तपुषा**=अपनी ज्ञान की दीप्ति से आप **वृकद्वरसः**=इन्द्रियद्वारों को छिन्न करनेवाले **असुरस्य**=कामरूप असुर के (आसुरभाव के) **वीरान्**=वीरों को—काम से उत्पन्न प्रबल विकारों को इस प्रकार **विध्य**=विद्ध करिए जैसे **अश्ना इव**=(अशन्या इव) जैसे विद्युत् से किसी को छिन्न करते हैं। आपकी यह ज्ञानदीप्ति आसुरभावों के लिए विद्युत्पतन के समान हो। इन आसुरभावों को विनष्ट करके आप हमारे इन्द्रियद्वारों को अपना-अपना कार्य करने में समर्थ करिए। २. हे **इन्द्र**=असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे **पुरा चित्**= आज से पहले भी **धृषता**=अपनी धर्षणशक्ति से **जघन्थ**=आप हमारे शत्रुओं का नाश करते रहे हैं, **एवा**=इसी प्रकार आप **अस्माकम्**=हमारे **शत्रुम्**=इस कामरूप शत्रु को **जहि**=नष्ट करिए। आपकी शक्ति से ही इसका विनाश होना है।

भावार्थ—प्रभु से दी गई ज्ञानज्योति से आसुरभावों के मूलभूत 'काम' का विनाश हो। इसके विनाश से ही सब इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान तथा गोधन

अव क्षिप दिवो अश्मानमुच्चा येन शत्रुं मन्दसानो निजूर्वीः।
तोकस्य सातौ तनयस्य भूरेरस्माँ अर्धं कृणुतादिन्द्र गोनाम् ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विध्वंसक प्रभो! **दिवः अश्मानम्**=ज्ञान के वज्र को (अश्मवत् कठिनं वज्रम् सा०) **उच्चा**=खूब ऊँचाई से **अवक्षिप**=नीचे इन शत्रुओं पर फेंकिए। **येन**=जिस वज्र से **शत्रुम्**=शत्रु को **निजूर्वीः**=आप हिंसित करते हो। ज्ञानाग्नि ही 'काम' रूप शत्रु को भस्म करती

है। २. **मन्दसानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **भूरेः**=(भर्तव्यस्य) भरणीय **तोकस्य**=सन्तानों के व **तनयस्य**=पौत्रों के **सातौ**=सम्भजन के निमित्त—उत्तम पालन व पोषण के लिए **अस्मान्**=हमारे लिए **गोनाम् अर्धम्**=गवादि पशुओं की समृद्धि को **कृणुतात्**=करिए। हमारे घरों में गौवों की कमी न हो ताकि सन्तानों को हम दूध आदि से अच्छी प्रकार पाल सकें।

भावार्थ—हमें ज्ञानरूप वज्र प्राप्त हो, जिससे कि हम कामरूप शत्रु का विध्वंस कर सकें तथा हमें गोधन की कमी न हो ताकि हम पुत्र-पौत्रों को गोदुग्ध पर पालकर सुन्दर शरीर, मन व मस्तिष्कवाला बना पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र और सोम

प्र हि क्रतुं वृहथो यं वनुथो रध्रस्य स्थो यजमानस्य चोदौ।
इन्द्रासोमा युवमस्माँ अविष्टमस्मिन्भयस्थे कृणुतमु लोकम्॥ ६॥

१. 'इन्द्र' शक्ति व शत्रुसंहार का देवता है तो 'सोम' उस शत्रुसंहार व शक्ति का गर्व न करने का देवता है—सौम्यता का देवता है। हे **इन्द्रासोमा**=इन्द्र और सोम! आप **हि**=निश्चय से **यं वनुथः**=जिस क्रतु को प्राप्त करते हो (वन् to possess) उस **क्रतुम्**=ज्ञान व शक्ति को **प्रवृहथः**=(to expend) खूब ही बढ़ाते हो। हमारे जीवनों में इन्द्र और सोमतत्त्व का मेल होने पर ज्ञान व शक्ति का खूब वर्धन होता है। आप **रध्रस्य**=संराधना करनेवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **चोदौ स्थः**=प्रेरक हो। यह रध्र यजमान अपने अन्दर इन्द्र और सोम का स्थापन करता हुआ अपने क्रतु को बढ़ानेवाला होता है। २. हे इन्द्र और सोम! **युवम्**=आप दोनों **अस्मान् अविष्टम्**=हमारा रक्षण करो। इन्द्र और सोम मिलकर हमारे जीवन को पूर्ण-सा बना देते हैं। हमारे में शक्ति होती है, परन्तु हमें उस शक्ति का गर्व नहीं होता। हमारे में सौम्यता होती है, परन्तु वह निर्बलता को लिये हुए नहीं होती। ३. हे शक्ति और सौम्यते! आप दोनों मिलकर **अस्मिन् भयस्थे**=इस भय के स्थान में—संसाररूप युद्धक्षेत्र में **उ**=निश्चय से **लोकम्**=हमारे लिए प्रकाश को **कृणुतम्**=करो। हम तम व अन्धकार से आवृत्त होकर मूढ़ न बन जाएँ। मूढ़ बन गये, तब तो पराजय निश्चित ही है।

भावार्थ—'शक्ति व सौम्यता' हमारे जीवन में क्रतु का वर्धन करें तथा हमें इस संसार के रणक्षेत्र में विजयी बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ग्लानि, खेद व आलस्य से दूर

न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम मा सुनोतेति सोमम्।
यो मे पृणाद्यो ददद्यो निबोधाद्यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत्॥ ७॥

१. इन्द्र **मा**=मुझे **न तमत्**=ग्लानियुक्त न करदे—मैं कर्त्तव्यकर्मों को करने से कभी ऊबूँ नहीं। **न श्रमत्**=मुझे खिन्न भी न करे—मैं उदास होकर कर्त्तव्यकर्मों में कभी प्रमाद न करूँ। 'तमु ग्लानौ, श्रमु खेदे'। **उत**=और वह इन्द्र **न तन्द्रत्**=मुझे तन्द्रायुक्त न कर दे—मुझे आलस्य में मत जाने दे। हम **'सोमम् मा सुनोत'**=सोम का सम्पादन न करो—वीर्यशक्ति के रक्षण का इतना महत्त्व नहीं है—**इति मा वोचाम्**=इस प्रकार की बातें न करें। २. इन्द्र वे हैं **यः**=जो **मे पृणात्**= मेरी उत्तम कामनाओं को पूर्ण करते हैं, **यो ददत्**=जो मुझे सब आवश्यक वस्तुओं व धनों को देते हैं, **यः निबोधात्**=जो मुझे ज्ञानयुक्त करते हैं और **यः**=जो **सुन्वन्तम्**=सोम का अभिषव—वीर्यशक्ति का

सम्पादन करते हुए **मा**=मुझको **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के साथ—प्रकाश की किरणों के साथ **उप आयत्**=समीपता से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हमें ग्लानि, खेद व आलस्य न सताये। हम सोम का (वीर्य का) रक्षण करें। प्रभु हमें प्रकाश की किरणों के साथ प्राप्त हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वाध्याय-प्राणायाम-उपासना

सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून्।
त्यं चिच्छर्धन्तं तविषीयमाणमिन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्॥ ८॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवते! **त्वम्**=तू **अस्मान्**=हमें **अविड्ढि**=रक्षित कर। ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। हे सरस्वति! तू **मरुत्वती**=प्राणोंवाली होती हुई, **धृषती**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाली होकर **शत्रून् जेषि**=हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतती है। सरस्वती की आराधना का अभिप्राय है—स्वाध्याय करना। 'मरुत्त्वती' का भाव है—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना में प्रवृत्त होना। इस प्रकार प्राणायाम के साथ स्वाध्याय हमारे शत्रुओं का धर्षण करता है। २. **इन्द्रः**=वे प्रभु **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **शर्धन्तम्**=प्रसहनशील **तविषीयमाणम्**=बल की तरह आचरण करते हुए, अर्थात् अत्यन्त प्रबल **शण्डिकानां वृषभम्**=(शंड् to heart) नाश करनेवालों में उत्तम अर्थात् प्रबल विध्वंसक शत्रु को **हन्ति**=नष्ट करते हैं। हम प्रभु का उपासन करते हैं—प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

भावार्थ—काम आदि शत्रुओं के नाश के लिए आवश्यक है कि हम 'स्वाध्याय, प्राणायाम व उपासना' का आश्रय लें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सनुत्य-जिघत्नु-द्रुह' का विनाश

यो नः सनुत्य उत वा जिघत्नुरभिख्याय तं तिगितेन विध्य।
बृहस्पत आयुधैर्जेषि शत्रून्द्रुहे रीषन्तं परि धेहि राजन्॥ ९॥

१. **यः**=जो **नः**=हमारा **सनुत्यः**=अन्तर्हित शत्रु है—मन में ही छिपकर रहनेवाला 'काम' रूप शत्रु है **उत वा**=अथवा **जिघत्नुः**=हमारी हिंसा करनेवाला क्रोध रूप शत्रु है, **तम्**=उसको **अभिख्याय**=अच्छी तरह देखकर **तिगितेन**=तीव्र ज्ञानरूप अस्त्र से **विध्य**=वींध डाल। देदीप्यमान ज्ञानरूप शस्त्र से ही इनका वेधन होता है। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **आयुधैः**=इन्द्रिय मन व बुद्धिरूप आयुधों द्वारा **शत्रून्**=शत्रुओं को **जेषि**=तू जीतता है। हमने इन शत्रुओं को क्या जीतना! प्रभु ही हमारे लिए इस विजय को करते हैं। ३. हे **राजन्**=शासक प्रभो! अथवा ज्ञानदीप्त प्रभो! **द्रुहे**=हमारे जिघांसु—मारने की इच्छावाले—इन कामादि शत्रुओं के लिए **रीषन्तम्**= हिंसक वज्र को **परिधेहि**=धारण करिए। ज्ञानरूप वज्र द्वारा इन शत्रुओं का हिंसन कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानरूप वज्र प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञानरूप वज्र से हम अन्तर्हित रूप से हमारे अन्दर रहनेवाले हिंसक द्रोही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रेम, करुणा व दानवृत्ति

अस्माकेभिः सत्वभिः शूर शूरैर्वीर्या कृधि यानि ते कर्त्वानि।
ज्योगभूवन्ननुधूपितासो हत्वी तेषामा भरा नो वसूनि॥ १०॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! **अस्माकेभिः**=हमारे से दिये हुए **शूरैः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **सत्वभिः**=बलों से **वीर्या कृधि**=शक्तिशाली कर्मों को तू करनेवाला हो। **यानि**=जो शक्तिशाली कर्म **ते कर्त्वानि**=तेरे कर्त्तव्य हैं। वस्तुतः जीव का मूल कर्त्तव्य यही है कि यह अन्तःशत्रुओं को पराजित करने का प्रयत्न करे। काम-क्रोध-लोभ का विजय ही सब उन्नतियों का मूल है। ३. तेरे शत्रु **ज्योक्**=चिरकाल तक **अनुधूपितासः**=सन्तप्त **अभूवन्**=हों। **हत्वी**=इनको मारकर **तेषां वसूनि**=उनके वसुओं को **नः**=हमारी प्राप्ति के लिए **आभर**=धारण कर। काम के विनाश से 'प्रेम' का विकास होता है। क्रोध विनष्ट होकर करुणा के रूप में हो जाता है और लोभ नष्ट होकर सद्गुणों के संग्रह की रुचि को व दानवृत्ति को जन्म देता है। 'प्रेम, करुणा व दान' ही वे वसु हैं, जो हमें इन शत्रुओं के विनाश से प्राप्त होते हैं। इनको प्राप्त करनेवाला प्रभुप्राप्ति का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके काम, क्रोध, लोभ को नष्ट करें तथा 'प्रेम, करुणा व दान' को धारण करनेवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सर्ववीर-अपत्यसाच-श्रुत्य' रयि

तं वः शर्धं मारुतं सुम्नयुर्गिरोप ब्रुवे नमसा दैव्यं जनम्।
यथा रयिं सर्ववीरं नशामहा अपत्यसाचं श्रुत्यं दिवेदिवे॥ ११॥

१. प्रभु कहते हैं कि **तम्**=उस **वः**=आपके **सुम्नयुः**=सुख चाहने वाला मैं **मारुतं शर्धम्**=प्राण-सम्बन्धी बल को **उपब्रुवे**=स्तुत करता हूँ। प्राणसाधना द्वारा प्राप्त होनेवाला बल वस्तुतः स्तुति योग्य है। **गिरा**=ज्ञानवाणियों के हेतु से **नमसा**=नमन द्वारा **दैव्यं जनम्**=देव की ओर चलनेवाले मनुष्यों को स्तुत करता हूँ, अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करने के उद्देश्य से तुम नम्रतापूर्वक देवजनों के समीप उपस्थित होवो। यह ज्ञान तुम्हारे मनों को पवित्र बनाकर तुम्हारे जीवन को अधिक से अधिक शक्तिवाला बनाएगा। एवं प्राणसाधना से शरीर तथा देवसम्पर्क से मस्तिष्क की उन्नति होकर जीवन पूर्ण बन पाएगा। २. जीव प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ऐसा करिए कि **यथा**=जिससे **रयिम्**=उस धन को **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **नशामहा**=प्राप्त करें जो कि **सर्ववीरम्**=सब प्रकार से हमें वीर बनानेवाला है, **अपत्यसाचम्**=अपतन के साथ हमारा मेल करनेवाला है—जो हमारे पतन का कारण नहीं है और **श्रुत्यम्**=ज्ञान प्राप्ति के लिए साधनभूत है। जब हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे तथा विद्वानों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करेंगे तो हमें यह 'सर्ववीर-अपत्यसाच-श्रुत्य' धन प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना व देवजनसम्पर्क को अपनाकर उस धन को प्राप्त करें जो कि हमें वीर बनाए—हमें पतन से बचाए तथा हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बने।

सूक्त का मूलभाव यही है कि अन्तर्हित शत्रुओं पर विजय पाएँ। इसके लिए प्रभु का स्मरण करें। अपने अन्दर इन्द्र और सोमशक्ति का वर्धन करें। प्राणायाम को अपनाएँ। देवजनों के सम्पर्क में होकर अपने ज्ञान को बढ़ाएँ। यही भाव अगले सूक्त के प्रारम्भ में निम्न शब्दों में है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मित्रावरुणा

अस्माकं मित्रावरुणावतं रथमादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा।
प्र यद्वयो न पप्तन्वस्मनस्परि श्रवस्यवो हृषीवन्तो वनर्षदः॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—प्राण और अपान अथवा स्नेह व निर्द्वेषता के देवताओ! आप **अस्माकम्**=हमारे **रथम्**=शरीररूप रथ को **अवतम्**=रक्षित करो। प्राणायाम से तो शरीर का रक्षण होता ही है। प्रेम व निर्द्वेषता की भावनाएँ भी दीर्घजीवन का कारण बनती हैं। हे मित्रावरुणौ! आप **आदित्यैः रुद्रैः वसुभिः**=आदित्यों, रुद्रों और वसुओं के **सचाभुवा**=साथ मिलकर होनेवाले हो, अर्थात् प्रेम व निर्द्वेषता के होने पर आदित्यों, रुद्रों और वसुओं का हमारे में निवास होता है। 'आदित्य' द्युलोक के देवता हैं—'रुद्र' अन्तरिक्षलोक के तथा 'वसु' पृथिवीलोक के। शरीर में ये 'मस्तिष्क, हृदय व स्थूलशरीर' के देव हैं। प्रेम व निर्द्वेषता के होने पर शरीर में इन सबका निवास होता है। यही 'दिव्य जीवन' है। २. **यद्**=जब इस प्रकार का जीवन हम बना पाते हैं तो **श्रवस्यवः**=उत्तम ज्ञान की कामनावाले होते हुए, **हृषीवन्तः**=हृदय में प्रसन्न-मनोवृत्तिवाले तथा **वनर्षदः**=शरीररूप गृह में निवास करनेवाले अर्थात् स्व-स्थ शरीरवाले होते हुए **वस्मनःपरि**=इन शरीररूप निवासस्थानों से ऊपर इस प्रकार **प्रपप्तन्**=उड़ जाएँ **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी घोंसले से उड़ जाते हैं। हम शरीरों से ऊपर, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो सकें।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हम जीवन को दिव्य बनाएँ। 'ज्ञानी प्रसादयुक्त स्वस्थ' जीवन बिताकर मोक्ष के अधिकारी हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पद्याभिः-पाणिभिः

अध स्मा न उदवता सजोषसो रथं देवासो अभि विक्षु वाजयुम्।
यदाशवः पद्याभिस्तित्रतो रजः पृथिव्याः सानौ जङ्घनन्त पाणिभिः ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में मित्र और वरुण के साथ 'आदित्य, रुद्र व वसु' इन सब देवों के लिए आराधना की गई थी। **सजोषसो देवासः**=सब समान रूप से प्रीतिवाले देवो! अब आप **नः रथम्**=हमारे इस शरीररथ को **उदवता स्म**=उत्कर्षेण रक्षित करो। यह हमारा रथ **विक्षु**=प्रजाओं में **अभिवाजयुम्**=शरीर व आत्मा दोनों के बल की कामनावाला हो। २. **यद्**=जब **आशवः**=शरीररूप रथ में जाते हुए मार्ग का व्यापन करनेवाले इन्द्रियाश्व **पद्याभिः**=अपनी गतियों से—अपने-अपने कार्य द्वारा **रजः तित्रतः**=रजोगुण को तैरते हुए **पाणिभिः**=(पण व्यवहारे स्तुतौ च) उत्तम व्यवहारों व स्तुतियों द्वारा **पृथिव्याः सानौ**=पृथिवी के उन्नत देश में, अर्थात् अधिक से अधिक उन्नत स्थिति में **जङ्घनन्त**=गतिवाले होते हैं। 'सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में ठीक से लगें' यही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हम जीवन को दिव्य बनाते हुए शरीर व आत्मा दोनों के बल को प्राप्त करें। गतिशीलता से राजसभाओं से ऊपर उठकर अधिक से अधिक उन्नत स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु से अधिष्ठित शरीररथ

उत स्य न इन्द्रो विश्वचर्षणिर्दिवः शर्धेन मारुतेन सुक्रतुः।
अनु नु स्थात्यवृकाभिरूतिभी रथं महे सनये वाजसातये ॥ ३ ॥

१. **उत**=और **स्यः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वचर्षणिः**=(विश्वे चर्षणयो यस्य) सब मनुष्यों का द्रष्टा-ध्यान व पालन करनेवाला है (Look after)। वह प्रभु **नः**=हमारे लिए **दिवःशर्धेन**=ज्ञान के बल से तथा **मारुतेन**=प्राणों के **शर्धेन**=बल से **सुक्रतुः**=शोभन प्रज्ञा व

शक्ति देनेवाले हैं। स्वाध्याय व प्राणसाधना से हमारा ज्ञान व बल बढ़ता है। २. वे प्रभु **नु**=अब **अवृकाभिः ऊतिभिः**=हिंसा से रहित रक्षणों से **रथम् अनुस्थाति**=हमारे शरीररथों पर अधिष्ठित होते हैं। हमारे शरीरों में स्थित हुए-हुए वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। इसी से हम **महे सनये**=महान् ज्ञानधन की प्राप्ति के लिए तथा **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं। जब हमारे शरीररथ के सारथि प्रभु होते हैं तो हमारा रथ दृढ़ होता है तथा प्रकाश से युक्त होता है। हमारा जीवन बल व ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हमारा शरीररथ प्रभु से अधिष्ठित हो। ऐसा होने पर ही हम ज्ञान तथा शक्ति से सम्पन्न होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुप्रेरणा के अनुसार

उत स्य देवो भुवनस्य सक्षणिस्त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जूजुवद्रथम्।
इळा भगो बृहद्दिवोत रोदसी पूषा पुरंधिरश्विनावधा पती॥ ४॥

१. **उत**=और **भुवनस्य सक्षणिः**=सारे ब्रह्माण्ड का सेव्य **स्यः देवः**=वह प्रकाशमय प्रभु **ग्नाभिः**=छन्दोयुक्त वेदवाणियों से **सजोषाः**=समान प्रीतिवाला वह **त्वष्टा**=सारे संसार का निर्माता प्रभु **रथं जूजुवत्**=मेरे शरीररथ को प्रेरित करे। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार मैं चलूँ। २. **इडा**=वेदवाणी मेरे रथ को प्रेरित करे। वेदवाणी के अनुसार मेरा जीवन हो। **भगः**=ऐश्वर्य का देवता मेरे रथ को प्रेरित करे। मैं ऐश्वर्य कमानेवाला बनूँ। **बृहद्दिवा**=यह भग महान् प्रकाशवाला हो **उत**=और **रोदसी**=द्यावापृथिवी 'मस्तिष्क व शरीर दोनों मेरे रथ को प्रेरित करें।' शरीर का जहाँ मैं ध्यान करूँ, उतना ही मस्तिष्क का भी ध्यान करूँ। ३. **पूषा**=पोषण का देवता मेरे रथ को प्रेरित करे। इस शरीर में सब अंगों का पोषण ठीक से हो। **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धि इस रथ को प्रेरित करे, अर्थात् बुद्धि का विकास पूर्णरूपेण हो। **अधा**=अब **अश्विना**=प्राणापान इस शरीररथ के **पती**=रक्षक हों। प्राणापान की साधना से यहाँ सब अंग ठीक बने रहें—किसी प्रकार की कमी न आये।

भावार्थ—मेरा जीवन प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित हो—वेदानुकूल मेरा जीवन हो। इसमें ज्ञानयुक्त ऐश्वर्य हो (भगो बृहद्दिवा) अङ्गों के पोषण के साथ पालक बुद्धि हो। प्राणापान साधना से इसका मैं समुचित रक्षण करूँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

त्रिवयाः

उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोषासानक्ता जगतामपीजुवा।
स्तुषे यद्वां पृथिवि नव्यसा वचः स्थातुश्च वयस्त्रिवया उपस्तिरे॥ ५॥

१. **उत**=और **त्ये**=वे **देवी**=दिव्य गुणोंवाले **सुभगे**=हमारे उत्तमभाग्य के कारणभूत **मिथूदृशा**=परस्पर मिलकर सब प्राणियों का ध्यान करनेवाले **उषासानक्ता**=दिन और रात **जगताम्**=सब गतिशील प्राणियों के **अपीजुवा**=प्रेरक होते हैं। ये दिन-रात हमारे शरीररथ के भी प्रेरक हों। ये हमारे जीवनों को दिव्य बनानेवाले हैं। हमें शोभन धनों को प्राप्त कराते हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। ये दिन-रात हमें जीवनयात्रा में आगे और आगे प्रेरित करनेवाले हों। २. इन दिन-रात में हे (द्यावा) **पृथिवी**=द्युलोक और पृथिवी लोको! **यद्**=जब मैं **वाम्**=आपके **नव्यसा**=(नु स्तुतौ) स्तुति के हेतु **वचः स्तुषे**=वचन का उच्चारण करता हूँ, **च**=और **स्थातुः**=स्थावर पदार्थों के ही **वयः**=अन्न

को **उपस्तिरे**=आच्छादित करता हूँ तो **त्रिवयाः**=त्रिगुण जीवनवाला बनता हूँ। (त्रि+वयस्)—मेरे शरीर व हाथों से यज्ञादि प्रवृत्त होते हैं—मन में अर्चना तथा मस्तिष्क में ज्ञान ज्योति दीप्त होती है। मेरा जीवन कर्म, भक्ति व ज्ञान तीनों को लेकर चलता है। ३. यह सब होता तभी है जब कि (क) मैं दिन को अहन् बना डालता हूँ 'अ+हन्'=जिसका एक पल भी नष्ट नहीं होता और रात्रि में मैं निद्रा में रमण करता हूँ। (ख) जब मैं द्यावापृथिवी दोनों का ध्यान करता हूँ। मस्तिष्क व शरीर दोनों को ज्ञान व शक्ति से उज्ज्वल करने का प्रयत्न करता हूँ और (ग) तब मैं माँसभोजन से दूर रहता हूँ। ४. 'त्रिवयाः' का अर्थ यह भी है कि यह मनुष्य तीन गुण आयुष्यवाला—३००वर्ष के जीवनवाला होता है। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः, कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' (यजु० ३।६२)। शरीर में जमदग्नि=दीप्त जाठराग्निवाला, मस्तिष्क में कश्यप-ज्ञानी तथा मन में देव बनकर यह त्र्यायुष व **त्रिवयाः** बनता है।

भावार्थ—हम उषासानक्ता=दिन-रात का अपने जीवन में सुन्दर समन्वय करें। द्यावापृथिवी=मस्तिष्क व शरीर दोनों को उन्नत करके चलें तथा वानस्पतिक भोजनों को ही करें। इस प्रकार ३०० वर्ष का जीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-शंसन

उत वः शंसमुशिजामिव श्मस्यहिर्बुध्न्योऽज एकपादुत।
त्रित ऋभुक्षाः सविता चनो दधेऽपां नपादाशुहेमा धिया शमि॥ ६॥

१. **उत**=और **वः शंसम्**=हे देवो! आपके स्तवन को **उशिजाम् इव**=मेधावियों की भाँति **श्मसि** (उश्मसि)=हम चाहते हैं। हम सब देवों का शंसन करते हैं—इन देवों के शंसन से हम देवों जैसे ही बनने का प्रयत्न करते हैं। देवों के शंसन की तरह हम मेधावियों का भी शंसन करते हैं, उन जैसे ही मेधावी बनने के लिए यत्नशील होते हैं। २. **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन बुध्न (=मूल) वालों में उत्तम-विशाल आधारवाला, **अजः**=गति के द्वारा सब मलों को दूर फेंकनेवाला (अज गतिक्षेपणयोः), **एकपात्**=एकचाल चलनेवाला—बहुरूपिया न बननेवाला **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ (त्रीन् तरति) **ऋभुक्षाः**=विशाल दीप्ति में निवास करनेवाला, **सविता**=उत्पन्न करनेवाला—निर्माण करनेवाला, ये सब **चनः दधे**=अन्न को धारण करें, अर्थात् हम अन्न को इस दृष्टिकोण से खाएँ कि हम 'अहिर्बुध्न्य व अज' आदि बन पाएँ। जैसा अन्न वैसा ही मन बनता है—अन्न ने ही हमें बनाना है। ३. **अपांनपात्**=शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाला **आशुहेमा**=शीघ्रता से कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला हमें **धिया शमि**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों में धारण करे, अर्थात् हम सदा समझदारी से कर्मों को करते हुए शक्तिकणों के रक्षण में समर्थ हों। शक्तिकणों के रक्षण द्वारा क्रियाशील बनें।

भावार्थ—हम देवों का शंसन करते हुए देव बनें। उत्तम अन्नों के सेवन से अपने में दिव्यता को बढ़ाएँ। बुद्धिपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

श्रवस्यवः-वाजं चकानाः

एता वो वश्म्युद्यता यजत्रा अतक्षन्नायवो नव्यसे सम्।
श्रवस्यवो वाजं चकानाः सप्तिर्न रथ्यो अह धीतिमश्याः॥ ७॥

१. हे **यजत्राः**=पूजनीय देवो! मैं **एता**=इन **वः**=आपके **उद्यता**=उद्यत स्तुतिवचनों को

वश्मि=चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सदा आपका स्तवन करनेवाला बनूँ। २. **आयवः**=गतिशील मनुष्य **श्रवस्यवः**=उत्तम ज्ञान की कामनावाला होते हुए तथा **वाजं चकानाः**=शक्ति की कामना करते हुए **नव्यसे**=आपके स्तवन के लिए **समतक्षन्**=स्तुतिवचनों का निर्माण करते हैं। देवों के स्तवन से स्तोता की वृत्ति भी दिव्य बनती है और वह अपने ज्ञान और शक्ति को बढ़ा पाता है। ३. हे देवो! आपका यह स्तोता **रथ्यः सप्तिः न**=रथ में जुते उत्तम घोड़े की भाँति **अह**=निश्चय से **धीतिम्**=(धीति=कर्म नि० २.२४) कर्म को **अश्याः**=प्राप्त हो। इसका सारा समय उत्तम कर्मों में ही व्यतीत हो।

भावार्थ—हम देवों का स्तवन करें—ज्ञान और शक्ति की कामना करें तथा कर्मों में लगे रहें।

सूक्त का सार यही है कि हम जीवन को दिव्य बनाने का प्रयत्न करें। अगले सूक्त में भी इसी विषय को द्यावापृथिवी के आराधन से आरम्भ करते हैं।

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋतायत्-सिषासत्

अस्य मे द्यावापृथिवी ऋतायतो भूतमवित्री वचसः सिषासतः।
ययोरायुः प्रतरं ते इदं पुर उपस्तुते वसूयुर्वां महो दधे ॥ १ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, **ऋतायतः**=ऋत का आचरण करनेवाले **सिषासतः**=सम्भजन की इच्छावाले अथवा धन को संविभागपूर्वक सेवन करनेवाले **मे**=मेरे **अस्य वचसः**=इस स्तुतिवचन के **अवित्री भूतम्**=रक्षक हों। द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर मेरे ऐसे बने रहें कि मैं प्रभु का स्तवन करता हुआ सदा ऋतमार्ग पर चलता रहूँ तथा संविभाग-पूर्वक खाने की वृत्तिवाला बना रहूँ। ३. **ययोः**=जिन द्यावापृथिवी का—मस्तिष्क व शरीर का **आयुः प्रतरम्**=आयुष्य अत्यन्त दीर्घ है, **ते**=वे द्यावापृथिवी **इदम्**=(इदानीम्) अब **पुरः उपस्तुते**=सबसे पहले स्तुत होते हैं, अर्थात् जितने दीर्घकाल तक मस्तिष्क व शरीर ठीक रहें उतने ही वे अधिक प्रशंसनीय होते हैं। **वसूयुः**=सब वसुओं की कामनावाला जीवनधनों की इच्छावाला मैं **वाम्**=आपके **महः**=तेज को **दधे**=धारण करता हूँ। मस्तिष्क व शरीर दोनों को मैं तेजस्वी बनाता हूँ।

भावार्थ—मेरे जीवन में ऋत हो—मैं संविभागपूर्वक चीज़ों का सेवन करूँ मेरे शरीर व मस्तिष्क दोनों तेजस्वी हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रस्त्वष्टा वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अटूट मित्रता

मा नो गुह्या रिप आयोरहन्दभन्मा न आभ्यो रीरधो दुच्छुनाभ्यः।
मा नो वि यौः सख्या विद्धि तस्य नः सुम्नायता मनसा तत्त्वेमहे ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **सुम्नायता**=(सुम्न Hymn) स्तुति की कामनावाले **मनसा**=मन से **त्वा तत् ईमहे**=आपसे यही चाहते हैं कि (क) **नः**=हमें **आयोः**=मनुष्य के **गुह्याः**=हृदयरूप गुहा में ही छिपकर रहनेवाले **रिपः**=हिंसक काम आदि शत्रु **अहन्**=इस जीवन के दिनों में **मा दभन्**=हिंसित करनेवाले न हों। हम इन शत्रुओं के वश में न हो जाएँ। (ख) आप **नः**=हमें **आभ्यः**=इन **दुच्छुनाभ्यः**=दुर्गतियों के लिए **मा रीरधः**=मत वशीभूत करिए। हम दुराचारों के काबू में न हो जाएँ। ३. इन दोनों बातों से भी बड़ी बात तो यह है कि **नः**=हमारी **सख्या**=(सख्यानि) मित्रता

को **मा वियौः**=अपने से पृथक्-मत करिए। हम सदा आपके मित्र बने रहें। कभी यह मित्रता टूटे नहीं। **तस्य विद्धि**=इस बात का आप अवश्य ध्यान करिए। हमारी सर्वोपरि कामना यही है कि हम आपके मित्र बने रहें।

भावार्थ—हम अन्तःशत्रुओं से हिंसित न हों। हम दुराचारों के वशीभूत न हों। हमारी प्रभु से मित्रता बनी रहे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रस्त्वष्टा वा** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पद्याभिः वचसा च

अहेळता मनसा श्रुष्टिमा वह दुहानां धेनुं पिप्युषीमसश्चतम्।
पद्याभिराशुं वचसा च वाजिनं त्वां हिनोमि पुरुहूत विश्वहा॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अहेडता**=न क्रोध करते हुए **मनसा**=मन से आप **श्रुष्टिम्**=सब सुखों को देनेवाली, **दुहानाम्**=ज्ञानदुग्ध को दोहन करनेवाली **पिप्युषीम्**=ज्ञान द्वारा हमारा आप्यायन व वर्धन करनेवाली **असश्चतम्**=(not sticking) संसार में हमें आसक्त न होने देनेवाली **धेनुम्**= इस वेदवाणीरूप गौ को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। २. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **विश्वहा**=सदा मैं **आशुम्**=सर्वत्र व्याप्त व शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले **वाजिनम्**=शक्तिशाली **त्वाम्**=आपको **पद्याभिः**=क्रियाओं द्वारा **वचसा च**=और स्तुतिवचनों द्वारा **हिनोमि**=अपने में प्रेरित करता हूँ। मैं निरन्तर आपकी दृश्य व श्रव्य भक्ति को करता हुआ आपके समीप और समीप होता चलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराएँ। हम उत्तम क्रियाओं व स्तुतिवचनों से प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**विराट्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राका

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे श्रृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ ४॥

१. जीवनयात्रा में सफलता बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अहम्**=मैं **राकाम्**=पूर्णचन्द्रवाली रात्रि के समान रमयित्री इस नवयुवति को (राका=A girl in whom menstruation has just commenced) **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतिवचनों से **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभु से आराधना करता हूँ कि मुझे राका के समान जीवनसाथी की प्राप्ति हो। जो **सुहवाम्**=आसानी से पुकारी जा सकती है, अर्थात् जिसको आवाजें लगाते-लगाते ही पुरुष थक नहीं जाता। यह **सुभगा**=घर के सौभाग्य की कारणभूत पत्नी **नः**=हमारी बात को **श्रृणोतु**=सुने। **त्मना बोधतु**=स्वयं सब कार्यों को समझती हो। "क्या कार्य कैसे करना है कैसे नहीं", इस बात को स्वयं समझती हो। २. जो **अच्छिद्यमानया सूच्या**=न टूटती हुई सुई से **अपः**=कर्मरूप वस्त्रों को **सीव्यतु**=सीनेवाली हो। निरन्तर कर्मों को करनेवाली हो। ऐसी यह पत्नी हमारे लिए **वीरम्**=वीरसन्तान को **ददातु**=दे। जो सन्तान **शतदायम्**=सैकड़ों ही दान देनेवाला हो तथा **उक्थ्यम्**=सब प्रकार से प्रशंसनीय जीवनवाला हो।

भावार्थ—पत्नी पूर्णचन्द्र निशा के समान रमयित्री, सुहवा तथा सुभगा हो। समझदार, निरन्तर क्रियाशील व वीर सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**विराट्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुपेशसः सुमतयः

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे ररांणा॥ ५॥

१. हे **राके**=पूर्णचन्द्र निशा के समान आनन्द देनेवाली पत्नी! **याः**=जो **ते**=तेरी **सुपेशसः**=उत्तम रूपों का निर्माण करनेवाली **सुमतयः**=उत्तम बुद्धियाँ हैं **याभिः**=जिनके द्वारा तू **दाशुषे**=गृहस्थी उन्नति के लिए सब कुछ देनेवाले पति के लिए **वसूनि**=सब वसुओं को—घर को उत्तम बनानेवाले धनों को **ददासि**=देती है **ताभिः**=उन सुमतियों से **सुमनाः**=उत्तम मनवाली तू **अद्य**=आज **नः**=हमें **उपागहि**=समीपता से प्राप्त हो। पति अपनी सारी कमाई घर की उन्नति के लिए दे डालता है सो 'दाश्वान्' है। पत्नी उस धन का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करती हुई घर को सब वस्तुओं से पूर्ण कर देती है। २. इस प्रकार **सुभगे**=गृह के उत्तम भाग्य की कारणभूत पत्नि! तू **सहस्रपोषं रराणा**=सहस्रसंख्यावाले धन की पुष्टि को देती है, हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—पति अपना अर्जित धन गृह-उन्नति के लिए दे। पत्नी उसका सद्व्यय करती हुई घर को सब वस्तुओं से परिपूर्ण करनेवाली हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सिनीवाली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सिनीवाली

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ ६॥

१. **सिनीवालि**=(षिञ् बन्धने) उत्तम व्रतों के बन्धनवाली व उत्तम अन्नवाली—घर में अन्न की व्यवस्था को उत्तम रखनेवाली, **पृथुष्टुके**=उत्तम जघनोंवाली व उत्तम केशपाशवाली, **या**=जो तू **देवानां स्वसा असि**=देवों की बहिन है, अर्थात् तेरे भाई देववृत्ति के हैं—झगड़ालु नहीं हैं। २. वह तू **आहुतम्**=देवयज्ञ में—अग्नि में आहूत हुए-हुए **हव्यम्**=यज्ञशिष्ट पदार्थों को ही **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो, अर्थात् यज्ञ करके सदा यज्ञशेष को ग्रहण करनेवाली हो तथा हे **देवि**=उत्तम व्यवहारवाली गृहपत्नी! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=देनेवाली हो। यज्ञशील-पत्नी की सन्तान अवश्य उत्तम होगी।

भावार्थ—पत्नी उत्तम व्रतबन्धनों वाली—यज्ञशेष का सेवन करनेवाली व उत्तम सन्तान को बनानेवाली हो।

सूचना—व्यवहारिक दृष्टिकोण से पत्नी वही दिव्य है 'या देवानामसि स्वसा'=जो देववृत्तिवाले भाइयों की बहिन है—यह भी कुलीन होने से घर को उत्तम ही बनाएगी। जिसके भाई झगड़े की वृत्तिवाले होंगे, उसके साथ सम्बन्ध होने पर झगड़ा ही होता रहेगा। 'देवानां स्वसा' का भाव यह भी है कि जो दिव्यगुणों को अपने में अच्छी तरह स्थापित करनेवाली है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सिनीवालीः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुषूमा

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी। तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन॥ ७॥

१. **या**=जो **सुबाहुः**=उत्तम प्रयत्नोंवाली है अथवा उत्तम भुजाओंवाली है। **सु अंगुरिः**=जो उत्तम अंगुलियोंवाली है अथवा सदा 'अगि गतौ' क्रियाशील है—आलस्य से सदा दूर है। क्रियामय जीवन के कारण ही **सुषूमा**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली है और **बहुसूवरी**=अनेक सन्तानों को जन्म देनेवाली है—अनेक सन्तानों को जन्म देने का सामर्थ्य रखती है। २. **तस्यै**=उस

विश्पत्न्यै=प्रजाओं का उत्तम पालन करनेवाली, **सिनीवाल्यै**=उत्तम व्रत बन्धनोंवाली पत्नी के लिए **हविः जुहोतन**=हवि को देनेवाले बनो। पति को चाहिए कि अपने प्रतिमास अर्जित धन को पत्नी के लिए दे दे। वह घर की सम्राज्ञी है। जैसे प्रजा सम्राट् को कर देती है और सम्राट् उस कर-प्राप्त धन से प्रजा का हित करता है उसी प्रकार पति गृहपत्नी को अपना वेतन दे दे। घर की सम्राज्ञी उसके द्वारा घर की सुव्यवस्था करने का यत्न करे।

भावार्थ—पत्नी क्रियामय जीवनवाली है। वह उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली है। वह घर की सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये हुए है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आदर्श पत्नी

या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती। इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये ॥ ८ ॥

१. **या**=जो **गुङ्गूः**=अव्यक्त, अर्थात् न बहुत ऊँचा बोलनेवाली है—उचित लज्जा modesty वाली है। **या**=जो **सिनीवाली**=उत्तम व्रतों के बन्धनवाली व उत्तम अन्नादि की व्यवस्थावाली है। **या राका**=जो पूर्णचन्द्रनिशा के समान रमयित्री है। **या सरस्वती**=जो ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के समान है—खूब उत्कृष्ट ज्ञानवाली है। २. उस **इन्द्राणीम्**=इन्द्रियों की स्वामिनी—जितेन्द्रिय पत्नी को **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। ऐसी पत्नी ही इन्द्रियों की शक्ति के रक्षण के अनुकूल होती है। भोगप्रधानवृत्तिवाली पत्नी पति को क्षीणशक्ति बना देती है। २. **वरुणानीम्**= द्वेष का निवारण करनेवाली पत्नी को **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए पुकारते हैं। पत्नी वही ठीक है, जिसके कारण भाइयों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष व क्रोध बढ़ न जाएँ।

भावार्थ—पत्नी को 'गुङ्गू-सिनीवाली-सरस्वती-इन्द्राणी व वरुणानी' बनना चाहिए।

सूक्त का भाव यह है कि हम प्रभु की मित्रता द्वारा जीवन को पवित्र बनाएँ। उत्तम पत्नी प्राप्त करके घर को सद्गृह बना पाएँ।

अगले सूक्त में जीवन की उत्तमता के लिए रुद्र से आराधना करते हैं।

चतुर्थोऽनुवाकः

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व दीर्घजीवन

आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः।
अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥ १ ॥

१. 'रुद्र' (रुत्+र)=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देनेवाले प्रभु हैं। ये प्रभु हमारे में प्राणों का स्थापन करते हैं। ये प्राण ही मरुत् हैं। रुद्र इनके पिता हैं। गृत्समद ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हे **मरुतां पितः**=हमारे प्राणों के रक्षक प्रभो! हमें **ते**=आपका **सुम्नम्**=स्तवन (Hymn) **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आप **नः**=हमें **सूर्यस्य सन्दृशः**= सूर्य के सन्दर्शन से **मा युयोथाः**=पृथक् मत करिए। आपके रक्षण में हम दीर्घजीवी बनें। २. **नः**=हमारी **वीरः**=वीर सन्तान **अर्वति**=शत्रु के विषय में **अभिक्षमेत**=पराभव करने में समर्थ हो—शत्रुओं को वह सदा पराजित करनेवाली हो। हे **रुद्र**=प्रभो! हम **प्रजाभिः प्रजायेमहि**=उत्तम सन्तानों से वंश के विकासवाले हों। हमारे वंश में प्रजातन्तु विच्छिन्न न हो जाए।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम दीर्घजीवी हों। हमारे सन्तान भी शत्रुओं का अभिभव

करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्द्वेषता-निष्पापता-नीरोगता

त्वाद॑त्तेभी रुद्र॒ शंत॑मेभिः श॒तं हिमा॑ अशीय भेष॒जेभिः॑।
व्य१॒॑स्मद् द्वेषो॑ वित॒रं व्यंहो॒ व्यमी॑वाश्चातयस्वा॒ विषू॑चीः॥ २॥

१. हे **रुद्र**=(रुत्+र) रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वादत्तेभिः**=आप से दी गई, **शन्तमेभिः**=अधिक-से-अधिक शान्तिप्राप्ति की साधनभूत **भेषजेभिः**=ओषधियों से **शतं हिमा**=सौ हेमन्त ऋतुओं को, अर्थात् सौ वर्षों को **अशीय**=व्याप्त करनेवाला बनूँ—सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ। २. इस दीर्घजीवन की प्राप्ति के लिए ही **अस्मत्**=हमारे से **द्वेषःवि**=द्वेष की भावनाओं को पृथक् करिए। **अहः**=पाप व कुटिलता को **वितरम्**=अत्यन्त **वि चातयस्व**=दूर विनष्ट करिए तथा **विषूचीः**=विविध प्रकार से शरीर में व्याप्तिवाले **अमीवाः**=रोगों को **विचातयस्व**=आप विशेषरूप से नष्ट करिए। द्वेष व पाप से ऊपर उठकर हम रोगों से बचते हैं और रोगाक्रान्त न होने से दीर्घजीवी बनते हैं। ओषधिद्रव्यों का ठीक प्रयोग करते हुए भी हम रोगों को शान्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की ओषधियाँ हमारे रोगों को शान्त करें। हम द्वेष व पाप से ऊपर उठकर विविध रोगों को विनष्ट करनेवाले हों। यही दीर्घजीवन का मार्ग है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप से पार

श्रेष्ठो॑ जा॒तस्य॑ रुद्र श्रि॒यासि॑ त॒वस्त॑मस्त॒वसां॑ वज्रबाहो।
पर्षि॑ णः पा॒रमंह॑सः स्व॒स्ति विश्वा॑ अ॒भीती॒ रप॑सो युयोधि॥ ३॥

१. हे **रुद्र**=परमात्मन्! आप **जातस्य**=इस ब्रह्माण्ड में **श्रिया श्रेष्ठः असि**=श्री के दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठ हैं! ठीक-ठीक बात तो यह है कि जहाँ-जहाँ श्री है वह आपकी ही है। 'यद् यद् विभूतिमतां सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशं सम्भवम्'। २. हे **वज्रबाहो**=आयुधहस्त अथवा सतत क्रियाशील प्रभो! (वजगतौ) आप **तवसाम्**=बढ़े हुओं में **तवस्तमः**=सबसे अधिक बढ़े हुए हैं। सर्वव्यापक हैं, सब गुणों की चरमसीमा हैं। आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप के **पारम्**=पार **स्वस्ति**=क्षेमेण (=कुशलतापूर्वक) **पर्षि**=प्राप्त कराइए। पाप से हमें दूर कीजिए ताकि हम मंगलमय जीवन बिता पाएँ। **विश्वाः**=सब **रपसः**=पाप व दोष की **अभीतीः**=(अभि इतीः) प्राप्तियों—अभिगमनों को **युयोधि**=हमारे से पृथक् करिए। हमारा पाप के साथ सम्पर्क न हो। पाप के आक्रमण को हम निष्फल कर सकें।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें पाप से पार ले जानेवाला हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भिषजां भिषक्तमम्

मा त्वा॑ रुद्र चुक्रुधामा॒ नमो॑भि॒र्मा दुष्टु॑ती वृषभ॒ मा सहू॑ती।
उन्नो॑ वी॒राँ अ॑र्पय भेष॒जेभि॑र्भि॒षक्त॑मं त्वा भि॒षजां॑ शृणोमि॥ ४॥

१. हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले व रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानोज्ज्वल व शरीरों को नीरोग बनानेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपको **नमोभिः**=हर समय नमस्ते ही नमस्ते करते

हुए और अपने आपसे निर्दिष्ट, कर्त्तव्यों को न करते हुए **मा चुक्रुधाम**=मत क्रुद्ध करलें। हर समय के नमस्ते की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यों को करनेवाले बनें। २. **दुष्टुती मा**=गलत स्तुति से हम आपको क्रुद्ध न कर लें। गलत स्तुति क्या है? प्रभु को दयालु नाम से स्मरण करना और स्वयं क्रूरवृत्ति का बनना—प्रभु को न्यायकारी कहना और स्वयं सदा अन्याय में प्रवृत्त होना। इस दुष्टुति को हम करनेवाले न हों। ३. हे **वृषभ**=सब सुखों के व सुखसाधनों के वर्षण करनेवाले प्रभो! हम **सहूती मा**=आपके साथ अन्य बातों की पुकार द्वारा आपको क्रुद्ध न कर लें। आप तो स्वयं सब चीजों को हमारे लिए दे रहे हैं। हम व्यर्थ की प्रार्थनाओं से आपको क्रुद्ध न कर लें। ४. आप **नः वीरान्**=हमारी वीर सन्तानों को भी **भेषजेभिः**=रोगनिवारक ओषधियों से **उत् अर्पय**=उत्कर्ष से संयुक्त करिए। **त्वा**=आपको मैं **भिषजाम्**=वैद्यों में **भिषक्तमम्**=सर्वमहान् वैद्य **शृणोमि**=सुनता हूँ। आप हमारे सब रोगों का निवारण करके हमें उत्कर्ष को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम नमस्ते ही नमस्ते न करते रहें, गलत स्तुति न करें, बहुत माँगते न रहें। प्रभु स्वयं सब कुछ देनेवाले हैं—हमारे सब रोगों का प्रतिकार करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हवीमभिः+हविर्भिः

हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय ।
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो रुद्र **हवीमभिः**=पुकारों द्वारा—आराधनाओं द्वारा तथा **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन द्वारा **हवते**=स्तुत किया जाता है (हूयते) उस **रुद्रम्**=रुद्र को **स्तोमेभिः**=स्तुतिमन्त्रों द्वारा **अवदिषीय**=(अपगतक्रोधं करोमि सा०) क्रोधरहित करता हूँ। मैं केवल प्रभु को पुकारता ही नहीं रहता। प्रभु की आराधना के साथ त्यागपूर्वक अदन व यज्ञात्मकवृत्ति को भी अपनाता हूँ। केवल नमस्ते से ही मैं प्रभु का कोपभाजन हुआ था (मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिः)। नमस्ते के साथ यज्ञों को अपनाकर—वास्तविक स्तवन को करता हुआ—मैं प्रभु का प्रिय बनता हूँ। २. वह प्रभु **ऋदूदरः**=कोमलहृदय-दयालु हैं। **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य हैं—हम सुगमता से उन प्रभु को आराधित कर सकते हैं। **बभ्रुः**=वे सबका भरण करनेवाले हैं। **सुशिप्रः**=शोभन हनू वा नासिकाओं को देनेवाले हैं। (शोभने शिप्रे हनू नासिके वा यस्मात्) अर्थात् प्रभुस्मरण करनेवाला उत्तम जबड़ोंवाला होता है—हितकर वस्तुओं को ही परिमित रूप में खाता है यह उत्तम नासिकाओंवाला, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला होता है। ये सुशिप्र प्रभु **नः**=हमें **अस्यै**=इस **मनायै**=(हन्मीति मन्यमाना बुद्धिः=मना सा०) हनन बुद्धि के लिए **मा रीरधत्**=मत सिद्ध करें, अर्थात् हम प्रभु के हननयोग्य न हों। उत्तम कर्मों को करते हुए प्रभु के कृपापात्र ही बनें।

भावार्थ—हम प्रार्थना के साथ यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए सदा प्रभु के प्रिय बने रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दीप्त व गतिमय' जीवन

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीव च्छायामरपा अशीयाविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ६ ॥

१. वह **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला—प्राणशक्तियों को प्राप्त करानेवाला—**वृषभः**=सब सुखों का वर्षक प्रभु **नाधमानम्**=याचना करते हुए **मा**=मुझको **त्वक्षीयसा वयसा**=दीप्त व गतिमय (त्विष्, त्वक्ष्) जीवन से **उन्ममन्द**=खूब आनन्दित करे। प्रभुकृपा से मेरी प्राणशक्ति ठीक हो। इसके ठीक होने से मेरा जीवन दीप्त व गतिमय हो। यह जीवन मेरे आनन्द का कारण बने। २.

घृणी=सूर्यसन्तापवाला पुरुष **इव**=जैसे **छायाम्**=छाया को प्राप्त करता है और ताप के सन्ताप से बचकर शान्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार **अरपाः**=दोषरहित—निर्दोष जीवनवाला बनकर **रुद्रस्य सुम्नम्**=उस रुद्र प्रभु के स्तोत्र को **आविवासेयम्**=सेवित करूँ। मैं प्रभु के स्तोम को सेवन करता हुआ विषयों के संताप से बचा रहूँ।

भावार्थ—प्रभु से दी गई प्राणशक्ति मेरे जीवन को निर्दोष बनाए। मैं स्तोत्रों को अपनाकर विषयसन्ताप से बचनेवाला होऊँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मृळयाकुः हस्तः

क्व१॒ स्य ते॑ रुद्र मृळ॒याकु॒र्हस्तो॒ यो अस्ति॑ भेष॒जो जला॑षः।
अ॒प॒भ॒र्ता रप॑सो॒ दैव्य॑स्या॒भी नु मा॑ वृषभ चक्षमीथाः ॥ ७॥

१. हे **रुद्र**=सब दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **स्यः**=वह **मृडयाकुः**=अत्यन्त सुख प्राप्त करानेवाला **हस्तः**=हाथ **क्व**=कहाँ है? **यः**=जो **भेषजः**=सब रोगों का औषध है और अतएव **जलाषः**=सुखकर है या सब जनों से चाहने योग्य है। (जनैः अभिलष्यते) २. आपका यह हाथ **दैव्यस्य**=सब देवों के विषय में होनेवाले **रपसः**=दोषों का **अपभर्ता**=दूर करनेवाला है। प्रभु का हाथ जब हमारे सिरों पर होता है तो (क) हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता—(ख) सब रोग दूर हो जाते हैं (ग) यह सुखकर होता है (घ) दोषों व अपराधों को दूर करता है। (३) हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! आप **नु**=अब **मा**=मुझे **अभिचक्षमीथाः**=क्षमा करिए। अल्पज्ञता के कारण होनेवाले अपराधों के लिए इस प्रकार प्रेरित कीजिए कि मैं उन अपराधों से ऊपर उठ सकूँ।

भावार्थ—प्रभु का वरदहस्त=आशीर्वाद हमारे पर सदा बना रहे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्मलीकी का उपासन

प्र ब॒भ्रवे॑ वृष॒भाय॑ श्विती॒चे म॒हो म॒हीं सु॑ष्टु॒तिमी॑रयामि।
न॒म॒स्या क॑ल्मली॒किनं॒ नमो॑भिर्गृणी॒मसि॑ त्वे॒षं रु॒द्रस्य॒ नाम॑॥ ८॥

१. **बभ्रवे**=सबका पोषण करनेवाले, **वृषभाय**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले, **श्वितीचे**=(श्वैत्यमञ्चते) शुद्ध पवित्र जीवन प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **महः महीम्**=महान् से भी महान् **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **प्र ईरयामि**=प्रेरित करता हूँ। इस प्रभु के स्तवन से मैं भी धारण करनेवाला—सुखों का वर्षण करनेवाला व पवित्र जीवनवाला बनता हूँ। २. 'कलयति अपगमयति मलं इति कल्मलीकं तेजः' **कल्मलीकिनम्**=इस तेजस्वी प्रभु को **नमस्य**=तू पूजा करनेवाला हो। **नमोभिः**=नमस्कारों के साथ हम **रुद्रस्य**=उस दुःख द्रावक प्रभु **त्वेषम्**=दीप्त **नाम**=नाम का **गृणीमसि**=उच्चारण करते हैं। इस नामोच्चारण से प्रेरणा को प्राप्त होते हुए हम अपने जीवन में दीप्त बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें तेजस्वी—निर्मल व दीप्त बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्वास्थ्य व ज्ञान' प्राप्ति द्वारा उपासन

स्थि॒रेभि॒रङ्गैः॑ पुरु॒रूप॑ उ॒ग्रो ब॒भ्रुः शु॒क्रेभिः॑ पिपिशे॒ हिर॑ण्यैः।
ईशा॑नाद॒स्य भुव॑नस्य॒ भूरे॒र्न वा उ॑ योषद्रुद्रा॒दसु॒र्य॑म् ॥ ९॥

१. वह **पुरुरूपः**=एक रूप को अनेक रूप कर देनेवाला प्रभु 'एकं रूपं बहुधा यः करोति', **उग्रः**=अत्यन्त तेजस्वी है। **बभ्रुः**=वह सबका भरण करनेवाला है। वह प्रभु **स्थिरेभिः अङ्गैः**=दृढ़ अङ्गों से तथा **शुक्रेभिः**=दीप्त **हिरण्यैः**=ज्ञानज्योतियों से (हिरण्यं वै ज्योतिः) **पिपिशे**=(पिश अवयवे) अपना अङ्ग बनाया जाता है, अर्थात् शरीर के अङ्गों को स्वस्थ व दृढ़ बनाने से तथा ज्ञान प्राप्त करने से हम अपने जीवनों को प्रभु द्वारा अलंकृत करते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो कि (क) शरीर को स्वस्थ रखता है और (ख) स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाता है। २. **अस्य**=इस **भुवनस्य ईशानात्**=भुवन के स्वामी, **भूरेः**=सबका भरण करनेवाले **रुद्रात्**= दुःखद्रावक प्रभु से **असुर्यम्**=शक्ति **न वा उ**=नहीं ही **योषत्**=पृथक् होती है वे प्रभु सदा शक्ति के आधार हैं। उपासक भी अपने जीवन को इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना स्वास्थ्य व ज्ञान की प्राप्ति से होती है। उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अर्हन्

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥ १०॥

१. हे **अर्हन्**=पूजनीय रुद्र! आप ही **सायकानि बिभर्षि**=सब दुःखों का अन्त करने के साधनों को धारण करते हैं—शत्रुओं को विद्रावण करने के साधनभूत शरों को आप ही धारण करनेवाले हैं। इसी उद्देश्य से **धन्व**=धनुष को आप अपने हाथ में लेते हैं। २. **अर्हन्**=पूजा के योग्य होते हुए आपही **निष्कम्**=सम्पूर्ण स्वर्ण (gold) को धारण करते हैं—सब धनों के स्वामी आप ही हैं, जो निष्क **यजतम्**=(यज दाने) दान करने योग्य है तथा **विश्वरूपम्**=सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाला है। धन के मुख्य उपयोग दो ही हैं (क) दान (ख) निर्माण। ३. **अर्हन्**= हे पूज्य प्रभो! आप ही **इदम्**=इस **अभ्वम्**=महान् **विश्वम्**=संसार को **दयसे**=रक्षित करते हैं। हे **रुद्र**=सब रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वद्**=आपसे अधिक **ओजीयः**=अधिक ओजस्वी **न वा**=नहीं ही **अस्ति**=है। ओजस्वितम होते हुए आप सब कष्टों का निवारण करते हैं, और सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु धनुर्धर होकर सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण कर रहे हैं। सम्पूर्ण धनों के स्वामी वे ही हैं, उनसे अधिक ओजस्वी कोई नहीं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गर्तसद् युवा

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः॥ ११॥

१. उस **श्रुतम्**=प्रसिद्ध व ज्ञानस्वरूप प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन करो। जो कि **गर्तसदम्**=हृदय रूप गुफा में आसीन है अथवा (गर्त=रथ) शरीररूप रथ में विद्यमान हैं। **युवानम्**=हमारे से दुर्गणों को पृथक् करनेवाले तथा सुगुणों को हमारे से मेल करनेवाले हैं। **मृगम्**=हमारा शोधन करनेवाले हैं, **न भीमम्**=हमारे लिए भयंकर नहीं। **उपहत्नुम्**=हमारे शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। २. हे **रुद्र**=हे परमात्मन्! आप **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **जरित्रे**=स्तोता के लिए **मृडा**=सुख को करिए। स्तोता का जीवन शत्रुरूप वासनाओं के संहार से कल्याणमय हो। हे प्रभो! **ते**=आपकी **सेनाः**=शत्रुविनाशकारिणी सेनाएँ **अस्मत् अन्यम्**=हमारे से भिन्न पुरुष को

ही **निवपन्तु**=काटनेवाली हों।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमारे जीवन के शोधन के लिए प्रेम से सुन्दर प्रेरणा दे रहे हैं। उस प्रभु के अस्त्र हमारे से भिन्न को ही नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

संसार में रहें, पर प्रभु को न भूलें

कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम्।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे॥ १२॥

१. **कुमारः चित्** (कुमार क्रीडायाम्)=संसार में क्रीड़ा करता हुआ भी मैं **वन्दमानम्**='आयुष्मान् भव सौम्य' 'दीर्घजीवी होवो' इन शब्दों में प्रत्यभिवादन करते हुए **पितरम्**=रक्षक, हे **रुद्र**=प्रभो! **उपयन्तम्**=समीप प्राप्त होते हुए आपको **प्रतिनानाम**=प्रणत होता हूँ—आपको नमस्ते करता हूँ। 'संसार में क्रीड़ा तो करना, परन्तु प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हुए इसमें न उलझना' यही उत्तम जीवन है। २. **भूरेः दातारम्**=पालन-पोषण के लिए पर्याप्त धन देनेवाले **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक आपका मैं **गृणीषे**=स्तवन करता हूँ। **स्तुतस्त्वम्**=स्तुति किये गये आप **अस्मे**=हमारे लिए **भेषजा**=सब औषध-द्रव्यों को **रासि**=देते हैं। आपकी इन औषधों से हम नीरोग, निर्मल व दीप्त बन पाते हैं।

भावार्थ—संसार में हम क्रीड़ा करनेवाले बनें—उस क्रीड़ा में ऐसे आसक्त न हों कि प्रभु को भूल जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुचि-शन्तम-मयोभु

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥ १३॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **या**=जो **वः**=आपकी **भेषजाः**=औषध **शुचीनि**=(शुच दीप्तौ) मस्तक को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाली हैं। **या**=जो औषध **शन्तमा**=मन को अधिक-से-अधिक शान्त करनेवाली हैं। **वृषणः**=हे शक्तिशाली प्राणो! **या मयोभु**=जो आपके औषध नीरोगतारूपकल्याण को उत्पन्न करनेवाले हैं वस्तुतः प्राणसाधना से शक्ति का रक्षण होकर शरीर स्वस्थ व सुखी बनता है। २. **यानि**=जिन भेषजों को **नः**=हमारे **पिता**=रक्षक **मनुः**=ज्ञानस्वरूप प्रभु ने **अवृणीता**=हमारे लिए वरा है व चुना है, मैं **रुद्रस्य**=उस रुद्र—दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभु के **ता**=उन भेषजद्रव्यों को, जो कि **शं**=शान्ति देनेवाले हैं **च**=और **योः**=भयों का यावन—पृथक्करण करनेवाले हैं, **वश्मि**=चाहता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से उत्पन्न किये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही हम सेवन करें और प्राणायाम करें तो हम ज्ञानदीप्त, शान्त मनवाले व नीरोग शरीरवाले होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की हेति व दुर्मति से दूर

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ॥ १४॥

१. **रुद्रस्य**=उन दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाले रुद्र का **हेतिः**=हनन साधन आयुध **नः**=हमें

परिवृज्याः=छोड़नेवाला हो। हमें प्रभु का दण्डभाजन न बनना पड़े। **त्वेषस्य**=उस दीप्तप्रभु की **मही**=अतिप्रबल **दुर्मतिः**=दुःख की कारणभूत दुष्टबुद्धि **परिगात्** (परेर्वर्जने)=हमें छोड़कर अन्यत्र जानेवाली हो। हमें दुर्मति न प्राप्त हो। 'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये, मत्त एवेति तान् विद्धि' सात्त्विक राजस व तामसभावों को जन्म देनेवाले वे प्रभु ही हैं। जिनका प्रभु ने रक्षण करना होता है, उन्हें सुबुद्धि देते हैं और जिनका विनाश करना होता है उनकी बुद्धि हर लेते हैं। २. हे रुद्र! आप **स्थिरा**=अपने दृढ़ धनुषों को **मघवद्भ्यः**=हम यज्ञशील-पुरुषों के लिए **अवतनुष्व**=उतारी हुई डोरीवाला करिए—अवततज्यावाला करिए। हमारे पर आपके कठिन बन्धन न पड़े। हे **मीडवः**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभो! **तोकाय**=हमारे पुत्रों के लिए तथा **तनयाय**=पौत्रों के लिए **मृड**=सुख करिए। हमारे पुत्र-पौत्रों का जीवन भी सुखी हो।

भावार्थ—हम प्रभु के दण्डपात्र न हों। हमें दुर्बुद्धि न प्राप्त हो। हमारे सन्तान भी सुखी हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

न हृणीषे, न हंसि

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १५ ॥

१. हे **बभ्रो**=भरण करनेवाले प्रभो! **वृषभ**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **चेकितान**=सर्वज्ञ प्रभो! **एवा**=हम इस प्रकार व्यवहार करें, **यथा**=जिससे हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **न हृणीषे**=न तो आप हमारे पर क्रुद्ध हों, **न हंसि**=न हमारा हनन करें, **यथा**=जिससे हे **रुद्र**=हमारे सब कष्टों को व रोगों को दूर करनेवाले प्रभो! **इह**=इस जीवन में **हवनश्रुत्**=हमारी पुकार को सुननेवाले आप **नः बोधि**==हमारा ध्यान करिए। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **बृहद् वदेम**=खूब ही आपका स्तवन करें।

भावार्थ—हम ऐसे वर्तें कि प्रभु के क्रोध के पात्र न हों। प्रभु हमारी पुकार को सुनते हैं—हमारा ध्यान करते हैं। हम प्रभु का स्तवन करें।

सूक्त का भाव यही है कि 'रुद्र' की प्रेरणा के अनुसार चलें। उससे दिये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें। संसार में रहते हुए भी संसार में फंस न जाएँ। प्रभु का स्मरण करे और उत्तम व्यवहारवाले हों। इसके लिए प्राणसाधना द्वारा प्राणों का संयम आवश्यक है। अगले सूक्त में इन्हीं प्राणों का विषय है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मरुतः (प्राण)

धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसो मृगा न भीमास्तविषीभिरर्चिनः।
अग्रयो न शुशुचाना ऋजीषिणो भृमिं धमन्तो अप गा अवृण्वत ॥ १ ॥

१. **मरुतः**=प्राण **गाः**=इन्द्रियों को **अप अवृण्वत**=विषयों से पृथक् करके वासनाजनित अन्धकार के आवरण से दूर करते हैं। प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। 'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'। ये प्राण **धारावराः**=अपनी धारणात्मक शक्ति से सब रोगों का निवारण करनेवाले हैं (धारया वारयितारः) **धृष्णु ओजसः**=ये शत्रुओं के धर्षक बलवाले हैं—काम-क्रोध-लोभ को नष्ट करनेवाले हैं। **मृगाः न**=सिंहों के समान **भीमाः**=शत्रुओं के लिए भयङ्कर हैं। **तविषीभिः**=बलों के द्वारा—शक्तियों को स्थिर करने के द्वारा **अर्चिनः**=प्रभु का पूजन करनेवाले हैं। (नायमात्मा बलहीनेन

लभ्यः)। शक्तियों को स्थिर करके हम प्रभु का अर्चन करते हैं। २. ये प्राण **अग्नयः न**=अग्नियों की तरह **शुशुचानाः**=खूब दीप्त हैं। वस्तुतः प्राणसाधना द्वारा ज्ञानाग्नि का दीपन होता है। प्राणायाम से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती हैं—ये रेतःकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। **ऋजीषिणः**=ये प्राण पिष्ट का पाचन करनेवाले हैं। दाँतों से पिष्ट होकर जो भोजन पेट में पहुँचता है, उसका उदर में पाक होने में ये सहायक होते हैं। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'। **भृमिं धमन्तः**=भटकानेवाली लोभवृत्ति को संतप्त करके दूर करनेवाले हैं। इस प्रकार प्राणसाधना शरीर, मन व बुद्धि सबको बड़ा सुन्दर बनानेवाली है।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। इससे हमारा मस्तिष्क, मन व शरीर सब ठीक होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राष्ट्र के सैनिक (मरुतः)

द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यश्रियो न द्युतयन्त वृष्टयः।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥ २ ॥

१. अध्यात्म में 'मरुतः' प्राण हैं तो आधिभौतिक क्षेत्र में 'मरुतः' सैनिक हैं। इन राष्ट्र के रक्षक सैनिकों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **न**=जैसे **द्यावः**=द्युलोक **स्तृभिः**=सितारों से **चितयन्त**=प्रकाशित होते हैं इसी प्रकार **खादिनः**=ये शत्रुओं को खा जानेवाले सैनिक अपने (खादः कटकम्) कटक आदि आभूषणों से शोभायमान होते हैं। २. ये **वृष्टयः**=शत्रुओं पर बाणों की वर्षा करनेवाले सैनिक **अभ्रियाः न**=मेघों में होनेवाली विद्युत् के समान **विद्युतयन्तः**=विशेष रूप से दीप्त होते हैं। ३. हे **मरुतः** (म्रियन्ते) रणांगण में पीठ न दिखाकर मरनेवाले सैनिको! **रुक्मवक्षसः**=चमकती हुई छातीवाले **वः**=आप लोगों को वे **यत्**=जो **रुद्रः**=महान् सेनापति प्रभु (रोरूयमाणो द्रवति), **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु हैं, वे **पृश्न्याः**=आदित्य के (पृश्निः आदित्यः नि० २.१४) **शुक्रे**=चमकते हुए **ऊधनि**=(उद्धते प्रदेशे सा०) उन्नत प्रदेश में **अजनि**=जन्म देते हैं। रणांगण में मृत्यु को प्राप्त करनेवाले वीर सैनिक सूर्यलोक में जन्म प्राप्त करते हैं। इनकी क्षत्रियों में वही स्थिति है जो कि ब्राह्मणों में योगयुक्त परिव्राट् की।

भावार्थ—वीर सैनिक खूब ही शोभा प्राप्त करते हैं। रणांगण में मृत्यु होने पर ये स्वर्ग प्राप्त करते हैं 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का सम्पर्क

उक्षन्ते अश्वाँ अत्याँइवाजिषु नदस्य कर्णैस्तुरयन्त आशुभिः।
हिरण्यशिप्रा मरुतो दविध्वतः पृक्षं याथ पृषतीभिः समन्यवः ॥ ३ ॥

१. मरुतः प्राण **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को, शरीर में रक्षित किये हुए रेतःकणों से **उक्षन्ते**=सिक्त करते हैं। रक्षित रेतःकणों की शक्ति से इन्द्रियों को परिपूर्ण करते हैं। इस प्रकार शक्ति से सिक्त करते हैं **इव**=जैसे कि **आजिषु**=संग्रामों में **अत्यान्**=घोड़ों को। संग्राम में घोड़ों को स्वेदादि के अपनोदन के लिए जल से सिक्त करते हैं, इसी प्रकार यहाँ अध्यात्म-संग्राम में इन्द्रियाश्वों को रेतःकणों से सिक्त करते हैं। २. **नदस्य**=स्तोता के **आशुभिः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **कर्णैः**=स्तुति-शब्दों से **तुरयन्तः**=इन अश्वों को शीघ्र गतिवाला करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला पुरुष प्रभु का स्तवन करता है और इन्द्रियों से कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है ३. **हिरण्यशिप्राः**=(शिप्रं शिरस्त्राणम्) ज्योतिर्मय शिरस्त्राणवाले—ज्ञान ही जिनके मस्तिष्क का रक्षक

है, ऐसे **दविध्वतः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **मरुतः**=प्राणो! आप **समन्यवः**=ज्ञानयुक्त होकर (मन्=अवबोधने) **पृषतीभिः**=अपने इन इन्द्रियाश्वों से **पृक्षं याथ**=प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हो। प्राणसाधना से (क) रेतःकणों का रक्षण होकर, ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ये रेतःकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। (ख) काम-क्रोध आदि शत्रु कम्पित होकर दूर हो जाते हैं। (ग) अन्ततः सब इन्द्रियाँ अपने नियत कर्मों को करती हुई हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। रेतःकणों का रक्षण होकर ज्ञानवृद्धि होती है और अन्ततः हमें प्रभु का सम्पर्क प्राप्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राणसाधक का जीवन

पृक्षे ता विश्वा भुवना ववक्षिरे मित्राय वा सदमा जीरदानवः।
पृषदश्वासो अनवभ्रराधस ऋजिप्यासो न वयुनेषु धूर्षदः॥ ४॥

१. **पृक्षे**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर **मित्राय**=इस प्रभुमित्र के लिए **ता विश्वा भुवना**=वे सब भुवन **ववक्षिरे**=प्राप्त कराये जाते हैं। प्रभुप्राप्ति के होने पर सारे ब्रह्माण्ड की प्राप्ति हो जाती है। प्रभु के प्राप्त हो जाने पर कुछ आप्तव्य नहीं रह जाता। २. इस प्रभुमित्र के लिए वे प्राण (मरुत्) **वा**=निश्चय से **सदम्**=सदा **आ जीरदानवः**=शीघ्रता से देनेवाले होते हैं (जीरा इति क्षिप्रनाम नि०) अथवा दीर्घजीवन को देनेवाले होते हैं। **पृषदश्वासः**=(पृषत्=speinkle) इन्द्रियाश्वों को शक्ति से सिक्त करनेवाले होते हैं। **अनवभ्रराधसः**=अनष्ट सम्पत्तिवाले होते हैं। **ऋजिप्यासः**=अकुटिलता को प्राप्त करानेवाले होते हैं तथा **वयुनेषु**=प्रज्ञानों में **धूर्षदः**=धुरा में स्थित होनेवाले अर्थात् ज्ञानधुरन्धर होते हैं। प्राणसाधना से ज्ञानाग्नि तो दीप्त होती ही है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करनेवाले का जीवन (क) दीर्घ होता है (ख) इसके इन्द्रियाश्व शक्तिसम्पन्न होते हैं (ग) अनष्टसम्पत्तिवाला यह होता है (घ) ऋजुमार्ग से चलनेवाला (ङ) तथा ज्ञानधुरन्धर यह बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्रह्मलोक रूप गृह में लौटना

इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभिः पथिभिर्भ्राजदृष्टयः।
आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः॥ ५॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **मधोः मदाय**=इस शरीर में मधु के समान सारभूत सोम के हर्ष के लिए—वीर्यरक्षण से उत्पन्न प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए **समन्यवः**=ज्ञान से युक्त होकर, **हंसासः न**=हंसों के समान, अथवा 'हन हिंसायाम्'=पाप नष्ट करनेवालों के समान, **भ्राजदृष्टयः**=(भ्राजत् ऋष्टयः) देदीप्यमान आयुधोंवाले आप **स्वसराणि आगन्तन**=अपने घरों को पुनः प्राप्त होनेवाले होवें। मनुष्य प्राणसाधना करे। प्राणसाधना से शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होगी। उससे जहाँ ज्ञानाग्नि दीप्त होगी वहाँ अशुभवृत्तियाँ भी विनष्ट होंगी। ऐसा होने पर हम ब्रह्मलोकरूप घर में फिर लौटनेवाले होंगे। कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि वर्षा से नदीजल के मलिन होने पर हंस मानसरोवर को लौट जाते हैं। इसी प्रकार यह प्राणसाधक ब्रह्मलोकरूप गृह को वापिस लौट जाता है। इसी उद्देश्य से यह अपने 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को बड़ा सुन्दर बनाता है। २. 'यह किन **पथिभिः**=मार्गों से अपने गृह को लौटता है?' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि (क) **इन्धन्वभिः**=दीप्तिवाले—ज्ञान के प्रकाशवाले मार्गों से, अर्थात् प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवर्धन करता हुआ। (ख) **धेनुभिः**=प्रीणित करनेवाले मार्गों से, अर्थात् ज्ञान द्वारा

प्रभु को प्रीणित करता हुआ प्रभु को पाता है। (ग) **रप्शदूधभिः**=(रप् व्यक्तायां वाचि, ऊधस् उद्धत-समुच्छ्रित-प्रदेश, (शब्दायमानोच्छ्रितप्रदेशैः सा०) शब्दायमान उच्छ्रित प्रदेशवाले मार्गों से, अर्थात् जिन में सदा उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति का निश्चय किया गया है। 'पृथिवीलोक से अन्तरिक्षलोक में, अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में तथा द्युलोक से ब्रह्मलोक में मैं पहुँचूँगा' ऐसा जिनमें निश्चय किया गया है। (घ) **अध्वस्मभिः**=जो मार्ग भ्रंशनरहित हैं—जिन मार्गों में हम न्याय्यपथ से विचलित नहीं होते, उन मार्गों से चलते हुए हम ब्रह्मलोक रूप गृह को प्राप्त हों।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा वीर्यरक्षण से ज्ञानप्रकाश का वर्धन करते हुए ब्रह्मलोक रूप गृह में लौटनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान+स्तवन+व यज्ञ

आ नो ब्रह्माणि मरुतः समन्यवो नरां न शंसः सवनानि गन्तन।
अश्वामिव पिप्यत धेनुमूधनि कर्ता धियं जरित्रे वाजपेशसम्॥ ६॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **समन्यवः**=ज्ञानवाले—सदा ज्ञान की रुचिवाले—**मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! तुम **नः**=हमारे **ब्रह्माणि**=इन ज्ञानों को इस प्रकार **आगन्तन**=प्राप्त होओ **न**=जैसे कि **नरां शंसः**=नर=मनुष्यों के स्तवन को। आलसियों का स्तवन वह होता है, जिसमें वे प्रभु का कीर्तन तो करते हैं, परन्तु उन स्तवनों के अनुसार अपने जीवनों को बनाने का यत्न नहीं करते। नरों का शंसन यह है कि प्रभु दयालु हैं तो वे दयालु बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु न्यायकारी हैं तो वे भी न्याय्य पथ का अनुसरण करते हैं। साथ ही **सवनानि**=यज्ञों को तुम प्राप्त होओ। समझदार पुरुष ज्ञान-स्तवन व यज्ञों की ओर झुकते हैं। २. **अश्वाम् इव धेनुम् ऊधनि पिप्यत्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली (अश् व्याप्तौ) कर्मेन्द्रियों की भाँति, (धेनुं) ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को समुच्छ्रित प्रदेश में (ऊधनि) आप्यायित करो। कर्मेन्द्रियाँ उत्कृष्ट कर्मों में व्यापृत हों तथा ज्ञानेन्द्रियां ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक हों। ३. वे प्रभु **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वाजपेशसम्**=शक्ति का निर्माण करनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **कर्ता**= करनेवाले हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं—प्रभु हमें शक्तियुक्त-ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें। पुरुषार्थ के साथ प्रार्थना व स्तवन करें। यज्ञशील हों। कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को उत्कृष्ट कर्मों व ज्ञानप्राप्तियों में व्याप्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शक्ति-ज्ञान-चेतना

तं नो दात मरुतो वाजिनं रथं आपानं ब्रह्म चितयद्दिवेदिवे।
इषं स्तोतृभ्यो वृजनेषु कारवे सनिं मेधामरिष्टं दुष्टरं सहः॥ ७॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **रथ**=इस शरीररूप रथ में **तम् इषं दात**=उस अन्न को प्राप्त कराओ जो कि **वाजिनम्**=शक्ति देनेवाला है, **ब्रह्म आपानम्**=ज्ञान प्राप्त करानेवाला है (आप्नुवन्तम्) **दिवे दिवे चितयत्**=दिन-प्रतिदिन चेतना को बढ़ानेवाला है। २. हे मरुतो! **कारवे**=कुशलता से कर्म करनेवाले के लिए **वृजनेषु**=पापों का वर्जन होने पर **सनिम्**=संभजनीय धन को व उपासनावृत्ति को **मेधाम्**=बुद्धि को **अरिष्टम्**=अहिंसन को—नीरोगता को तथा **दुष्टरं सहः**=शत्रुओं से न तैरनेयोग्य बल को प्राप्त कराओ। ३. प्राणसाधना के साथ उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करने पर शक्ति व ज्ञान बढ़ते हैं (वाजिनं ब्रह्म आपानम्)। मानसवृत्ति

उत्तम बनने से चेतना ठीक बनी रहती है (चितयत् दिवे दिवे)। पापवृत्ति इस प्राणसाधना से नष्ट होती है (वृजनेषु)। मनुष्य उपासना की वृत्तिवाला (सनिं) मेधावी (मेधाम्) नीरोग (अरिष्टं) तथा सहनशील (सहः) बनता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा सब प्रकार के मल नष्ट होकर जीवन उत्तम बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राष्ट्ररक्षकों का मूलकर्त्तव्य (धन का उचित विभाग)

यद्युञ्जते मरुतो रुक्मवक्षसोऽश्वान्रथेषु भग आ सुदानवः।
धेनुर्न शिश्वे स्वसरेषु पिन्वते जनाय रातहविषे महीमिषम्॥ ८॥

१. **यद्**=जब **रुक्मवक्षसः**=देदीप्यमान छातीवाले (=शक्तिशाली) **मरुतः**=राष्ट्ररक्षक पुरुष **रथेषु अश्वान् युञ्जते**=रथों में घोड़ों को जोत लेते हैं, अर्थात् अपना कार्य करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, उस समय ये **भगे आसुदानवः**=ऐश्वर्य के विषय में चारों ओर उत्तम दानवाले होते हैं। राष्ट्ररक्षकों का मूल कर्तव्य यह होता है, कि वे इस बात का ध्यान करें कि राष्ट्र में Haves (अत्यधिक धनी) व Have-nots (अति दरिद्रों) के दो वर्ग न पैदा हो जाएँ। ऐसा होने पर समाज की स्थिति उस शरीर के समान हो जाती है, जिसमें कहीं तो खून अत्यधिक जमा हो जाए और कहीं रुधिर की पहुँच ही न हो। सब अपराधों का उद्गम इन दो वर्गों की उत्पत्ति में ही है। भूखे मरनेवाले सम्पन्नों को लूटेंगे ही। २. राष्ट्ररक्षक पुरुषों का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि यज्ञशील पुरुषों के लिए धन का अभाव न होने दें। **न**=जैसे **धेनुः**=गाय **शिश्वे**=बछड़े के लिए दूध प्राप्त कराती है, इसी प्रकार से मरुत् **रातहविषे जनाय**=हवि देनेवाले यज्ञशील पुरुष की **महीम्**=अत्यन्त इषम्=इच्छा को **स्वसरेषु**=गृहों में ही **पिन्वते**=धन का सेचन करते हैं। राष्ट्र की सेवा के लिए—लोकहित के कार्यों को करने के लिए—इन्हें धन की कमी नहीं होने देते।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षकों का मूलकर्त्तव्य यह है कि अतिधनी व अतिदरिद्र इन दो वर्गों को न पैदा होने दें तथा यज्ञात्मकवृत्तिवालों को धन की कमी न होने दें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'लोभी घातक' का नाश

यो नो मरुतो वृकतातिं मर्त्यो रिपुर्दधे वसवो रक्षता रिषः।
वर्तयत तपुषा चक्रियाभि तमव रुद्रा अशसो हन्तना वधः॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=राष्ट्ररक्षक पुरुषो! **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **वृकतातिं**=आदान की वृत्तिवाला होकर, औरों के धन को छीननेवाला बनकर **नः**=हमारा **रिपुः दधे**=शत्रु बनकर अपने को स्थापित करता है, हे **वसवः**=सबके उत्तम निवास के कारणभूत वसुओ! उस **रिषः**=हिंसक शत्रु से **आ रक्षत**=हमारा रक्षण करो। मरुतों का यह कर्त्तव्य है कि लोभ के कारण चोरी आदि वृत्ति को अपनानेवाले पुरुषों से प्रजाओं का रक्षण करें। २. **तम्**=उस वृकतातिं पुरुष को **तपुषा**=संतप्त करनेवाले **चक्रिया**=ऋष्टि नामक आयुध से **अभिवर्तयत**=सब ओर से दूर करो। तापकचक्र से उसे संतप्त करके चोरी आदि से दूर करने का यत्न करो। हे **रुद्राः**=प्रजा के कष्टों का निवारण करनेवाले पुरुषो! अथवा दुष्टों को रुलानेवाले पुरुषो! **अशसः**=इन प्रजाभक्षकों के **वधः अवहन्तन**=आयुधों को नष्ट करो। इनके आयुधों का हमारे पर प्रहार न होने दो।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षकों का कर्त्तव्य है कि लोभ के कारण चोरी में प्रवृत्त लोगों से प्रजा का रक्षण करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राष्ट्ररक्षकों के तीन कर्त्तव्य

चित्रं तद्वो मरुतो यामं चेकिते पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहुः।
यद्वा निदे नवमानस्य रुद्रियास्त्रितं जराय जुरतामदाभ्याः॥ १०॥

१. हे **मरुतः**=राष्ट्ररक्षक पुरुषो! **वः**=आपका **तद्**=वह **याम**=गमन **चित्रम्**=अद्भुत **चेकिते**=जाना जाता है **यद्**=जब **आपयः**=राष्ट्र में सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले आप **पृश्न्या ऊधः**=('इयं पृथिवी वै पृश्निः' तै० १.४.१५) पृथिवी के ऊधस् का **दुहुः**=दोहन करते हो, अर्थात् पृथिवी में पर्याप्त अन्न उपजाते हो। २. **वा**=अथवा **यद्**=जब **रुद्रियाः**=(रुद्रस्य इमे) दुःखद्रावक राजा के पुरुषो! आप **अदाभ्याः**=अहिंसित होते हुए **नवमानस्य**=स्तुति करनेवाले के **निदे**=निन्दा करनेवाले के **जराय**=हिंसन के लिए होते हो तथा **त्रितम्**=काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाले के **जुरताम्**=हिंसन करनेवालों के विनाश के लिए होते हैं, प्रभुस्तोताओं की जो निन्दा करें—उनके उपहास द्वारा स्तवनवृत्ति का ह्रास होता है तथा 'त्रित' जैसे सज्जनों का हिंसन करनेवाले दुर्जन दण्डनीय होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षकों का कर्त्तव्य है कि (क) पृथिवी से अधिक से अधिक अन्न प्राप्त करने की व्यवस्था करें ताकि राष्ट्र में कोई भूखा न रहे। (ख) प्रभुस्तोताओं का समुचित आदर हो (ग) काम आदि को जीतनेवाले पुरुषों को दुष्टों का शिकार न होने दें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उन्नति के शिखर पर

तान्वो महो मरुत एवयाव्नो विष्णोरेषस्य प्रभृथे हवामहे।
हिरण्यवर्णान्ककुहान्यतस्रुचो ब्रह्मण्यन्तः शंस्यं राध ईमहे॥ ११॥

१. हे **महः मरुतः**=महत्त्वपूर्ण प्राणो! **तान् वः**=उन आप को, जो आप **एवयाव्नः**=मार्ग पर चलनेवाले हो (एव=मार्ग), **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु की **एषस्य**=(आ इषस्य) व्यापक प्रेरणा के **प्रभृथे**=प्रकर्षेण धारण के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्राणसाधना होने पर अशुद्धि का क्षय होने से मनुष्य कभी मार्ग से विचलित नहीं होता। हृदय की शुद्धता के कारण प्रभुप्रेरणा को सुनने योग्य बनता है। २. इन **हिरण्यवर्णान्**=ज्योतिर्मय वर्णवाले **ककुहान्**=श्रेष्ठ-शिखर पर पहुँचानेवाले प्राणों को, **यतस्रुचः**=यज्ञार्थ चम्मचों को हाथ में लेनेवाले—यज्ञशील, **ब्रह्मण्यन्तः**=ज्ञान की कामनावाले हम **शंस्यम्**=प्रशंसनीय **राधः**=धन को **ईमहे**=मांगते हैं। प्राणसाधना से मनुष्य तेजस्वी बनता है—चमकते हुए वर्णवाला होता है। इससे उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और श्रेष्ठ धन को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा सब दोषों का नाश होकर पवित्र हृदय में प्रभुप्रेरणा सुन पड़ती है। तेजस्विता व श्रेष्ठता प्राप्त होती है और मनुष्य श्रेष्ठ धन को प्राप्त करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सत्संग व उत्तम प्रेरणा

ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे ते नो हिन्वन्तूषसो व्युष्टिषु।
उषा न रामीररुणैरपोर्णुते महो ज्योतिषा शुचता गोअर्णसा॥ १२॥

१. **ते**=वे गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाले व्यक्ति **दशग्वाः**=जीवन के दशम दशक तक जानेवाले होते हैं। **प्रथमाः**=ये उन्नति के मार्ग में प्रथम स्थान पर स्थित होते हैं। **यज्ञम्**

ऊहिरे=यज्ञ को धारण करते हैं—यज्ञशील होते हैं। **ते**=वे **नः**=हमें **उषसः व्युष्टिषु**=उषाकालों के आने पर **हिन्वन्तु**=प्रेरित करें—उत्कृष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। २. **नः**=जैसे **उषाः**=उषाकाल **अरुणैः**=अपने अरुण प्रकाशों से **रामीः**=रमण व आनन्द की साधनभूत कृष्णावर्ण रात्रियों को **अप ऊर्णुते**=दूर करता है, इसी प्रकार ये 'दशग्व' **गो अर्णसा**=ज्ञानवाणीरूप जलवाले **शुचता**=देदीप्यमान **महो ज्योतिषा**=महान् ज्ञान से हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। वेदवाणी का ज्ञानरूप जल हमारे सब मलों को धो डालता है।

भावार्थ—हमें उत्कृष्ट दीर्घायुष्यवाले यज्ञशील व्यक्तियों द्वारा मार्ग का उपदेश प्राप्त हो। वे ज्ञान द्वारा हमारे जीवनों को शुद्ध करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शासकों की विशेषताएँ

ते क्षोणीभिररुणेभिर्नाञ्जिभी रुद्रा ऋतस्य सदनेषु वावृधुः।
निमेघमाना अत्येन पाजसा सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्॥ १३॥

१. **ते**=वे गतमन्त्र के 'दशग्व' **क्षोणीभिः**=पृथिवियों से—पृथिवीरूप शरीरों से (पृथिवी शरीरम्) **अरुणेभिः**=अरुण प्रकाशों से, अर्थात् असंतापक ज्ञानरूप प्रकाशों से, जो कि **अञ्जिभिः**=उनकी शोभा बढ़ानेवाले अलंकारों के समान हैं, इनसे युक्त हुए-हुए **रुद्राः**=लोगों के दुःखों का द्रावण करनेवाले राष्ट्र के अध्यक्ष **ऋतस्य सदनेषु**=ऋत के घरों में **वावृधुः**=वृद्धि प्राप्त करते हैं। ऋतपूर्वक सब क्रियाओं को करते हुए जीवन में बढ़ते हैं। इनका कोई भी काम अनृत को लिए हुए नहीं होता। २. **निमेघमानाः**=प्रजा पर सुखों का वर्षण करते हुए, **अत्येन पाजसा**=निरन्तर गतिशील शक्ति से **सुश्चन्द्रम्**=उत्तम आह्लाद के जनक **वर्णम्**=वर्ण को **दधिरे**=धारण करते हैं। यह वर्ण **सुपेशसम्**=उत्तम आकृतिवाला है—एक-एक अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक आकार से बना हुआ है। ये सदा सुन्दर अङ्गोंवाले, प्रसन्न मुखवाले होते हैं। वस्तुतः शासक की आकृति का उत्तम होना भी नितान्त आवश्यक है—अन्यथा वह उत्तम प्रभाव नहीं पैदा कर पाता।

भावार्थ—शासकों के शरीर भी अच्छे हों—वे ज्ञान के तेज से युक्त हों। ऋत का पालन करें—गतिशील शक्तिवाले हों। सदा प्रसन्नमुख व सुन्दर आकारवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राणसाधना व महनीय धन

ताँ इयानो महि वरूथमूतय उप घेदेना नमसा गृणीमसि।
त्रितो न यान्पञ्च होतॄनभिष्टय आववर्तदवराञ्चक्रियावसे॥ १४॥

१. **तान्**=उन मरुतों को—प्राणों को **महि वरूथम्**=महनीय धन को **ऊतये**=रक्षा के लिए **इयानः** (इयानाः)=मांगते हुए **घा इत्**=निश्चय से **एना नमसा**=इस नमन द्वारा **उपगृणीमसि**=स्तुत करते हैं। हम प्राणायाम के साथ प्रभुस्तवन करते हुए अपने रक्षण के लिए आवश्यक धन माँगते हैं। २. **यान् पञ्च होतॄन्**=जिन पाँच जीवनयज्ञ के होतृभूत 'प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान' को **त्रितः**='काम-क्रोध-लोभ' से तैरनेवाला अथवा 'ज्ञान कर्म उपासना' तीनों का विस्तार करनेवाला **अभिष्टये**=इष्टप्राप्ति के लिए, अथवा रोगों पर आक्रमण के लिए **आववर्तत्**=शरीर में समन्तात् आवृत्त करता है। **अवरान्**=(Most excellent नास्ति वरो यस्मात्) इन अवर प्राणों को—अत्यन्त उत्कृष्ट प्राणों को **चक्रिया**=चक्राकार गति से—मेरुदण्ड में स्थित चक्रों में गति से (अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या) **अवसे**=रक्षण के लिए आवृत्त करता है। एक चक्र से दूसरे चक्र में

उन प्राणों का धारण करता हुआ मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक उन्हें पहुँचाता है। इसे ही योग की भाषा में चक्रभेदन कहते हैं। इससे शरीर में अद्भुत शक्तियों का विकास होता है। योगदर्शन का विभूतिपाद उन शक्तियों के वर्णन से भरा हुआ है। उन शक्तियों में भी न फंसकर आगे बढ़ने से प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से महनीय धन की प्राप्ति होती है। चक्रों का भेदन होकर अद्भुत शक्ति का विकास होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप व निन्दा से दूर, सुमति के समीप

यया॑ र॒ध्रं पा॒रय॒थात्यंहो॒ यया॑ नि॒दो मु॒ञ्चथ॑ वन्दि॒तार॑म्।
अ॒र्वाची॒ सा म॑रुतो॒ या व॑ ऊ॒तिरो षु वा॒श्रेव॑ सुम॒तिर्जि॑गातु॥ १५॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यया** (ऊत्या)=जिस रक्षण से आप **रध्रम्**=आराधना करनेवाले साधक को **अंहः अतिपारयथ**=कुटिलता व पाप से पार करते हो। और **यया**=जिस रक्षण से **वन्दितारम्**=स्तोता को **निदः**=निन्दा से **मुञ्चथ**=मुक्त करते हो, **सः**=वह **वः**=आपका **ऊतिः**=रक्षण **अर्वाचीः**=अस्मदभिमुख हो—हमें प्राप्त हो। प्राणसाधना से मनुष्य कुटिलता व पाप से ऊपर उठता है और कभी स्तुति-निन्दा में फंसता नहीं। प्रभु का स्तवन करते हुए वह अपने कर्त्तव्य-कर्मों में व्यापृत रहता है। २. हे प्राणो! **वाश्रा इव**=जैसे रंभाती हुई गौ बछड़े को प्राप्त होती है, इसी प्रकार **सुमतिः**=उत्तम बुद्धि **ओ सुजिगातु**=हमें अच्छी प्रकार सर्वथा प्राप्त हो। इस सुमति से सुविचार व सदाचारवाले बनकर हम जीवन को सुन्दर बनायें और अन्ततः उस प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से पाप दूर होते हैं और मनुष्य स्तुति-निन्दा से ऊपर उठ जाता है। यह प्राणसाधना सुमति को देनेवाली है।

इस मरुत् सूक्त में अध्यात्म में प्राणों का महत्त्व स्पष्ट किया गया है और आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्ररक्षक पुरुषों के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। अध्यात्म में 'मरुत्' प्राण हैं, आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्ररक्षक पुरुष। आधिदैविक क्षेत्र में मरुतों का—वायुओं का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ। प्राणसाधना से मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बनता है। यह शक्ति का रक्षण करनेवाला पुरुष 'अपां न पात्' है **अपाम्**=वीर्यकणों का **न पात्**=न गिरने देनेवाला। अगले सूक्त का देवता यही 'अपान्नपात्' है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति रक्षण के साधन व फल

उपे॑मसृक्षि वाज॒युर्व॑च॒स्यां चनो॑ दधीत ना॒द्यो गिरो॑ मे।
अ॒पां नपा॑दाशु॒हेमा॑ कु॒वित्स सु॒पेश॑सस्करति॒ जोषि॑ष॒द्धि॥ १॥

१. **वाजयुः**=शक्ति की कामना वाला मैं **ईम्**=निश्चय से **वचस्याम्**=स्तुति को **उप असृक्षि**=उपासना के साथ करनेवाला होता हूँ। 'वाजयुः' शब्द में प्रत्यय का अंश 'प्रार्थना' के भाव को व्यक्त करता है, 'वचस्याम्' शब्द 'स्तुतिवाचक' है। 'उप' उपासना का संकेत करता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रार्थना-स्तुति-उपासना' का समन्वय हो जाता है। २. **नाद्यः**=उत्तम स्तुति के योग्य वह प्रभु अथवा स्तोताओं में निवास करनेवाला वह प्रभु **मे**=मेरे लिए **चनः**=अन्न को तथा **गिरः**=ज्ञानवाणियों को **दधीत**=धारण करे। प्रभुकृपा से मैं अन्न का सेवन करनेवाला बनूँ और ज्ञानवाणियों को अपनाऊँ। ३. **अपां न पात्**=शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला **आशुहेमा**=शीघ्रता

से कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला **सः**=वह अपने को तपस्या द्वारा **कुवित्**=खूब **सुपेशसः**=उत्तम आकृति व अवयवोंवाला **करति**=करता है। **हि**=निश्चय से **जोषिषत्**=वह हमें प्रीतिपूर्वक कार्यों का सेवन करानेवाला होता है। प्रस्तुत मन्त्र में यह कहा गया है कि (क) प्रभु की उपासना से उसके गुणों को देखकर उन गुणों द्वारा प्रभु का स्तवन करना और उन गुणों के धारण से अपने को शक्तियुक्त करना ही योग है—प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करना। (ख) इस योग के लिए अन्न का सेवन करना तथा ज्ञानवाणियों को अपनाना आवश्यक है (ग) योगी का जीवन चार बातोंवाला होता है (१) ब्रह्मचर्य-शक्ति को यह नहीं गिरने देता (२) गृहस्थ में शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला बनता है (३) वानप्रस्थ में अपने को तप व स्वाध्याय द्वारा फिर से उत्तम आकृतिवाला बनाता है (४) संन्यास में स्वयं कार्य करता हुआ लोगों को क्रियामय जीवन की प्रेरणा देता है (जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्)।

भावार्थ—शक्ति रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम सात्त्विक वानस्पतिक आहार करनेवाले हों और ज्ञानवाणियों में रुचिवाले हों। शक्तिरक्षण का परिणाम यह होगा कि हम उत्तम आकृतिवाले व स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

हृदय से मन्त्रोच्चारण

इमं स्वस्मै हृद आ सुतष्टं मन्त्रं वोचेम कुविदस्य वेदत्।
अपां नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान॥ २॥

१. हम **स्वस्मै**=अन्तःस्थित आत्मतत्त्व के लिए **हृदः**=हृदय से **सुतष्टम्**=उत्तमता से निर्मित **इमं मन्त्रम्**=इस मन्त्र का **आवोचेम**=सतत उच्चारण करें। वे प्रभु **अस्य**=इस हमारे मन्त्र को **कुवित् वदेत्**=खूब ही जानें। २. **अपां न पात्**=वह शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला प्रभु **असुर्यस्य**=(अस्यति) शत्रुक्षेपक बल की **मह्ना**=महिमा से **अर्यः**=स्वामी होता है और **विश्वानि भुवना जजान**=सब लोकों को जन्म देता है—सब लोकों का निर्माण करता है। ३. इस प्रकार प्रभु का स्मरण करनेवाला उपासक (क) स्वयं 'अपां न पात्' बनता है—शक्तियों का संयम करता है (ख) इस प्रकार शत्रुक्षेपक बल का अपने में संचय करता है (ग) जितेन्द्रिय बनता है (घ) इन्द्रियों का स्वामी बनकर सब लोकों के हित के लिए प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम हृदय से प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करें। प्रभु के लिए मन्त्र बोलें। उस मन्त्र को अपने जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'आश्चर्यवत् पश्यति का कश्चिदेनम्'

समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यः पृणन्ति।
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः॥ ३॥

१. **अन्याः**=कुछ विलक्षण पुरुष ही **संयन्ति**=इस संसार में मिलकर चलते हैं। सामान्यतः प्रकृति के वरण के परिणामस्वरूप परस्पर वैर-विरोध में ही लोगों का जीवन बीत जाता है। **अन्याः**=उनमें भी कुछ ही व्यक्ति **उपयन्ति**=उस परमात्मा की ओर आनेवाले होते हैं—परमात्मा के उपासक बनते हैं। **नद्यः**=ये प्रभु के स्तोता **समानम्** (सम्यक् आनयति)=उस प्राणित करनेवाले **ऊर्वम्**=विशाल प्रभु को **पृणन्ति**=अपने नियत कर्मों को करने के द्वारा प्रीणित करते हैं। २. **तम् उ**=उस प्रभु के स्तोता को ही जो कि **शुचिम्**=पवित्र जीवनवाला बनता है, तथा **दीदिवांसम्**=

ज्ञान से दीप्त होता है, जो **अपां न पात्**=यथासम्भव रेत:कणों का पतन नहीं होने देता, इस स्तोता को **शुचयः**=शरीर, मन व बुद्धि को पवित्र बनानेवाले **आपः**=रेत:कण **परितस्थुः**=(परिवृत्य तस्थुः सा०) घेर कर ठहरते हैं। इसके रेत:कण शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित होते हैं। इन्हीं के कारण उसका जीवन पवित्र व आधि-व्याधि से शून्य बनता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर झुकाव विरल ही व्यक्तियों का होता है। ये प्रभु को अपने नियत कर्मों के करने से प्रीणित करते हैं। रेत:कणों का शरीर में ही संयम करते हैं। इन्हीं से इनका जीवन स्वस्थ होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निरभिमान-निर्मल दीप्त जीवन

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥ ४ ॥

१. **तम्**=उस 'अपां न पात्' रेत:कणों के न नष्ट होने देनेवाले **युवानम्**=अपने से दोषों को पृथक् करनेवाले तथा अपने साथ गुणों का मिश्रण करनेवाले पुरुष को **आपः परियन्ति**=ये रेत:कण शरीर में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। रुधिर में व्याप्त हुए-हुए ये रेत:कण उसके सर्वशरीरव्यापी बनते हैं। ये आपः (रेत:कण) **अस्मेराः**=विस्मय व अभिमान से रहित होते हैं। रेत:कणों का रक्षण करनेवाला व्यक्ति कभी अभिमानी नहीं होता **युवतयः**=ये रेत:कण इसे दुरित से दूर तथा सुवित के समीप करनेवाले होते हैं और **मर्मृज्यमानाः**=ये उसे शुद्ध करनेवाले होते हैं। रेत:कणों के रक्षण से अशुभवृत्तियाँ दूर होती हैं और जीवन बड़ा शुद्ध हो जाता है। २. **अप्सु**=इन रेत:कणों का रक्षण होने पर **सः**=वह प्रभु जो कि **अनिध्मः**=किसी प्रकार के ईंधन से तो दीप्त नहीं होते पर **घृतनिर्णिक्**=दीप्तरूपवाले हैं, **रेवत्**=धनयुक्त होकर **शुक्रेभिः**=निर्मल शुभ्र **शिक्वेभिः**=तेजों से **दीदाय**=दीप्त होते हैं। प्रभु इस व्यक्ति को जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं और निर्मलदीप्ति से युक्त करते हैं। वे प्रभु इसे दर्शन देते हैं। ये प्रभु को दीप्तरूप में देखता है—उस अग्नि के रूप में जो कि बिना किसी ईंधन के ही दीप्त हो रही है।

भावार्थ—रक्षित रेत:कण मनुष्य को निरभिमान व निर्मल जीवनवाला बनाते हैं। यह उचित धन प्राप्त करता हुआ दीप्तरूपवाला होता है। उस दीप्तरूपवाले प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तीन पत्नियाँ (ज्ञानामृत का पान)

अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम् ।
कृताइवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ ५ ॥

१. **अस्मै**=गतमन्त्र में वर्णित इस **अव्यथ्याय**=शक्तिशाली होने के कारण न थकनेवाले—अनथक रूप में कर्म करनेवाले **देवाय**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष के लिए **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=ज्ञान-प्रकाश को देनेवाली **नारीः**=उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाली 'ऋग्-यजुः-साम' रूप वाणियाँ (नृ नये) **अन्नम्**=ज्ञानरूप भोजन को **दिधिषन्ति**=धारण करती हैं। 'परीमेगाम् अनेषत' इस मन्त्र में वेदवाणी रूप गौ के साथ परिणय का उल्लेख है। इस प्रकार ये 'ऋग्, यजु, साम' रूप वाणियाँ मनुष्य की पत्नी बनती हैं। प्रभु की ये पुत्रीरूप हैं। सो प्रभु इस अव्यथ्य नर के 'श्वशुर' हो जाते हैं। २. **अप्सु**=रेत:कणों का रक्षण होने पर **हि**=निश्चय से **कृताः इव**=अध्यात्म-संग्राम में विजय के उपहाररूप में ये वेदवाणियाँ **उप प्रसर्स्रे**=इसमें विजेता के समीप उपस्थित होती हैं। **सः**=वह

विजेता **पूर्वसूनाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में जिनको जन्म दिया गया है, उन वेदवाणियों के **पीयूषम्**=ज्ञानामृत को **धयति**=पीता है। इस ज्ञानामृत के पान से वह अमृत बनता है।

भावार्थ—रेत:कणों का रक्षण होने पर 'ऋग्, यजु: व साम' रूप वाणियाँ मनुष्य का मार्गदर्शन करनेवाली होती हैं। यह उनके ज्ञानामृत का पान करता है।

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

अरातित्व व अनृत से दूर

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः संपृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणियों के ज्ञानामृत का पान करने पर **अत्र**=इस जीवन में **अश्वस्य जनिम**=शक्तिशाली पुरुष का विकास होता है। **अस्य च स्व:**=और इसी का प्रकाश होता है—इसका जीवन प्रकाशमय व स्वर्गतुल्य होता है। २. हे प्रभो! आप इन **सूरीन्**=वेदवाणियों के ज्ञानामृत का पान करनेवाले विद्वानों को **द्रुह:**=द्रोह की वृत्तियों के तथा **रिष:**=हिंसाओं के **सम्पृच:**=सम्पर्क से **पाहि**=बचाओ। न इनमें द्रोह की वृत्ति उत्पन्न हो, न ये किसी की हिंसा करें। ३. **आमासु पूर्षु**=ज्ञानाग्नि में जिनका परिपाक नहीं हुआ उन शरीरनगरियों में भी **पर:**=वह परम प्रभु (सर्वोत्कृष्ट प्रभु) विद्यमान हैं, परन्तु उस **अप्रमृष्यम्**=अधर्षणीय प्रभु को **अरातय:**=न दान देनेवाले **न विनशन्**=नहीं प्राप्त होते और **न अनृतानि**=न असत्य बोलनेवाले प्राप्त होते हैं। ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करके जब मनुष्य दान की वृत्तिवाला बनता है और अनृत से ऊपर उठता है, तभी वह प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। लोभवृत्ति के कारण अदानशील धनार्जन के लिए अनृत को अपनानेवाला व्यक्ति प्रभुदर्शन नहीं कर पाता।

भावार्थ—रेत:कणों के रक्षण से मनुष्य शक्तिशाली बनता है—प्रकाश को प्राप्त करता है। द्रोह हिंसा आदि से ऊपर उठकर असत्य से धनार्जन न करता हुआ यह दानशील बनता है और प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

अपां नपात् का सुन्दर जीवन

स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।
सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्व१न्तर्वसुदेयाय विधते वि भाति॥ ७॥

१. **अपां नपात्**=रेत:कणों का न नाश होने देनेवाला पुरुष **स्वे दमे**=अपने घर में ही निवास करता है, अर्थात् यह औरों के जीवन की आलोचना न करता हुआ अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। अपने अन्दर ही देखता है, बाहर नहीं। २. यह अपां न पात् वह होता है **यस्य**=जिसकी **धेनु:**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ **सुदुघा**=सुख से दोहने योग्य होती है। यह ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता है। ३. **स्वधाम्**=आत्मधारण शक्ति को **पीपाय**=बढ़ाता है और इसी उद्देश्य से **सुभु अन्नम्**=उत्तम स्वास्थ्य-जनक अन्न को **अत्ति**=खाता है। ४. **स:**=वह **अपां न पात् अर्जयन्**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ **अप्सु अन्त:**=इन रेत:कणों में निवास करता हुआ **विधते वसुदेयाय**=प्रभु का पूजन करनेवाले के लिए धन देने के लिए **विभाति**=शोभायमान होता है। प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो कि "सर्वभूतहिते रत:" सब प्राणियों के हित में लगा हुआ है। इस व्यक्ति के लिए यह अपां न पात् धन देनेवाला होता है।

'अराति'=धन को न देनेवाले कृपण व्यक्ति तो प्रभु को प्राप्त करते ही नहीं। यह अपां न पात् इन प्रभुस्तोताओं के लिए—लोक सेवकों के लिए धन को देनेवाला होता है। इसकी शोभा इस दान से होती है।

भावार्थ—अपां न पात्=शक्ति का रक्षण करनेवाला पुरुष अपने में निवास करता है—ज्ञान को प्राप्त करता है—आत्मधारण-शक्तिवाला होता है—सात्त्विक अन्न का सेवन करता है—प्रभुभक्तों व लोकसेवकों के लिए खूब दान देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दिव्य प्रकाश', 'धन' तथा 'उत्तम सन्तान'

यो अप्स्वा शुचिना दैव्येन ऋतावाजस्र उर्विया विभाति।
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः ॥ ८ ॥

१. **यः**=जो **अप्सु**=रेतःकणों में रहता है—इनका रक्षण करता है, वह **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला **अजस्रः**=(न जस्रं यस्य, जस्रं=Exhaustion, fatigue) न थकनेवाला (अव्यथ्य ३.५.५) तथा **शुचिना**=पवित्र **दैव्येन**=दिव्य प्रकाश से **उर्विया विभाति**=खूब ही चमकता है। २. **अन्या**=इस दिव्य प्रकाश से भिन्न **भुवनानि**=ऐश्वर्य तो (भुवनं=becoming prosperous) **अस्य**=इसके **वयाः इत्**=शाखाएँ ही होती हैं। इसकी मुख्य सम्पत्ति तो वह दिव्य प्रकाश होता है—सांसारिक ऐश्वर्य भी गौणरूप से इसके समीप होते ही हैं। **च**=और ये **वीरुधः**=विशिष्ट रोहण-प्रादुर्भाववाले ये व्यक्ति **प्रजाभिः**=उत्तम सन्तानों से **प्रजायन्ते**=प्रजावाले होते हैं।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षक 'दिव्य प्रकाश' प्राप्त करता है। सांसारिक-सम्पत्ति व उत्तम सन्तान भी प्राप्त करता है। इसका मौलिक धन दिव्यप्रकाश होता है और बाह्य धन व उत्तम सन्तान इसके आनुषंगिक धन होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण, अकुटिलता व ज्ञान

अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः ॥ ९ ॥

१. **अपां न पात्**=शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाला पुरुष **हि**=निश्चय से **उपस्थम् आ अस्थात्**=उपासना में सदा स्थित होता है। इसका प्रतिदिन का पहला कार्य प्रभु का उपस्थान होता है। अब यह दिनभर के कार्यों में **जिह्मानाम् ऊर्ध्वः**=कुटिलताओं से ऊपर उठा रहता है। कुटिलता से कोई कार्य नहीं करता। छलछिद्र से रहित जीवनवाला होता है। 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं'=कुटिलता मृत्यु का मार्ग है—इस बात को यह नहीं भूलता **विद्युतं वसानः**=विशिष्ट ज्ञानज्योति को यह धारण करनेवाला होता है। धन कमाने के लिए कार्यों से अवकाश होते ही यह स्वाध्याय द्वारा ज्ञानज्योति बढ़ाने का प्रयत्न करता है। २. **तस्य**=उस प्रभु की **ज्येष्ठं महिमानम्**=सर्वश्रेष्ठ महिमा को **वहन्तीः**=धारण करती हुई—अर्थात् प्रभु की महिमा को हृदय से स्मरण करती हुई ये **यह्वीः**=(या, ह्वे) उस प्रभु की ओर जानेवाली-उस प्रभु को पुकारनेवाली प्रजाएँ **हिरण्यवर्णाः**=उस ज्योतिर्मय प्रभु का वर्णन करनेवाली बनकर (हिरण्यं वर्णयन्ति) **परियन्ति**=अपने विविध कार्यों में प्रवृत्त होती हैं।

भावार्थ—संयमी पुरुष (क) प्रभु का स्मरण करता है (ख) छलछिद्र से शून्य होकर कार्यों को करता है (ग) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानज्योति को बढ़ाता है (ग) प्रभु की महिमा का हृदय से स्मरण

करता हुआ विविध कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यरूप-हिरण्यसंदृक्-हिरण्यवर्ण

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥ १०॥

१. **सः**=वह **अपां नपात्**=शक्ति न नष्ट होने देनेवाला पुरुष **हिरण्यरूपः**=(रूपं शरीरम्) तेजस्वीरूपवाला होता है। **हिरण्यसंदृक्**=(संपश्यन्ति इति संदृशः इन्द्रियाणि सा०) दीप्त इन्द्रियोंवाला होता है। **सः इत् उ**=वही निश्चय से **हिरण्यवर्णः**=उस ज्योतिर्मय प्रभु का वर्णन (=कीर्तन स्मरण) करनेवाला होता हैं। २. इस **हिरण्ययात्**=दीप्त तेजस्वी **योनेः**=शरीररूप गृह से **परि निषद्या**=ऊपर उठकर (परेर्वर्जने)—शरीर में रहता हुआ भी शरीर में अनासक्त हुआ-हुआ सदेह होते हुए भी विदेह की भाँति रहता हुआ **हिरण्यदाः**=वह धनों का दान करनेवाला होता है। ३. **अस्मै**=इस प्रभुप्राप्ति के लिए इस अपां नपात् की वृत्तिवाले पुरुष **अन्नं ददति**=अन्न देनेवाले होते हैं। इनके द्वार से कोई भूखा विना अन्नप्राप्ति के लौटता नहीं। ये भूखे के लिए अन्न देते ही हैं। संसार में आसक्त न होने से ये अपने भोगों को ही नहीं बढ़ाते जाते।

भावार्थ—संयमी पुरुष तेजस्वी, दीप्त इन्द्रियोंवाला, व प्रभु का उपासक बनता है। यह शरीर में आसक्त न हुआ-हुआ दान देनेवाला बनता है। भूखे के लिए अवश्य अन्न देता है। यह वृत्ति इसे प्रभु प्राप्त करानेवाली होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बल तथा प्रभुस्मरण

तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम्।
यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य॥ ११॥

१. **अस्य अपां नप्तुः**=इस शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाले का **तद् अनीकम्**=वह बल, **उत**=और **चारु**=सुन्दर **अपीच्यम्**=अन्तर्हित—ऊँचे उच्चरित न होकर हृदय में ही उच्चरित होने-वाला—**नाम**=प्रभु का नाम स्मरण **वर्धते**=बढ़ता है। शक्तिकणों के रक्षण से बल में भी वृद्धि होती है और हृदय में प्रभुस्मरण की भावना भी बढ़ती है। २. यह 'अपां नप्ता' वह होता है **यम्**=जिसको **युवतयः**=गुणों से मिश्रण व अवगुणों से अमिश्रण करनेवाली वेदवाणीरूप युवतियाँ **इत्था**=सचमुच **समिन्धते**=दीप्त जीवनवाला बनाती हैं। यह शक्तिरक्षक पुरुष वेदवाणियों का अध्ययन करता हैं और उनसे अपने जीवन को दीप्त बनाता है। **अस्य**=इसका **अन्नम्**=अन्न **हिरण्यवर्णम्**=ज्योतिर्मय वर्णवाला और **घृतम्**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाला होता है, अर्थात् यह उसी अन्न को खाता है, जो अन्न उसे तेजस्वी, नीरोग व दीप्त जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—शक्तिकणों के रक्षण से बल की वृद्धि होती है और प्रभुस्मरण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ+नमन व हवि

अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
सं सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परि वन्द ऋग्भिः॥ १२॥

१. **अस्मै**=इस **बहूनाम्**=बहुत देवताओं में=तैंतीस देवों में **अवमाय**=अन्तिकतम **सख्ये**=

उस मित्र प्रभु के लिए **यज्ञैः**=यज्ञों से—श्रेष्ठतम कर्मों से—लोकहित के लिए किये जानेवाले कर्मों से, **नमसा**=नमन द्वारा तथा **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष के सेवन से **विधेम**=हम पूजा करें। सब सूर्यादि देव मानव-कल्याण में प्रवृत्त हैं, परन्तु इन सबके अन्दर भी तो प्रभुशक्ति ही काम करती है। ये प्रभु ही हमारे अन्तिकतम मित्र हैं। इस प्रभु का उपासन यज्ञों से, नमन से व हवि से होता है। २. इस प्रभु का उपासन करता हुआ मैं **सानु संमार्ज्मि**=पर्वतशिखर को—मेरुदण्ड (मेरुपर्वत) के शिखरभूत मस्तिष्क को शुद्ध करता हूँ—मेरा मस्तिष्क पवित्र विचारोंवाला बनता है। **बिल्मैः**=(भेदनैः) वासनाओं के भेदन से (भासनैः) अथवा बुद्धि को ज्ञानोज्ज्वल करने द्वारा **दिधिषामि**=प्रभु को धारण करता हूँ। **अन्नैः दधामि**=अन्नों से शरीर का धारण करता हूँ—मद्यमांसादि के सेवन से दूर रहता हूँ और **ऋग्भिः परिवन्दे**=ऋचाओं द्वारा—(ऋच् स्तुतौ) स्तुत्यात्मक मन्त्रों द्वारा प्रभु का वन्दन करता हूँ। मद्यमांसादि का सेवन हमें प्रभु से दूर ले-जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञों, नमन व त्यागपूर्वक अदन से प्रभु का पूजन करें। मस्तिष्क को पवित्र करें, वासनाओं को नष्ट करें, वानस्पतिक भोजनों को ही करें और प्रभु की स्तुति करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का ही छोटा रूप

स ईं वृषाजनयत्तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति।
सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष॥ १३॥

१. **सः**=वह शक्तिकणों का रक्षण करनेवाला **ईम्**=निश्चय से **वृषा**=शक्तिशाली होता है। यह **तासु**=ग्यारहवें मन्त्र में वर्णित युवतियों में—वेदवाणियों में **गर्भम् अजनयत्**=गर्भ को प्रकट करता है। कण-कण के अन्दर वर्तमान होने से—प्रत्येक पदार्थ के अन्दर रहने से प्रभु गर्भ हैं। यह 'अपांनपात्' ज्ञानवाणियों का अध्ययन करता है और उनमें इस अन्तःस्थित प्रभु के प्रादुर्भाव को करनेवाला होता है। २. **सः**=वह अपांनपात् **ईम्**=निश्चय से **शिशुः**=(शो तनूकरणे) अपनी बुद्धि को सूक्ष्म करनेवाला होता है और इस सूक्ष्मबुद्धि द्वारा **धयति**=वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध का पान करता है। **तं रिहन्ति**=ये ज्ञान की वाणियाँ उसको आस्वाद देती हैं। यह उनमें एक आनन्द का अनुभव करता है। ३. **सः अपांनपात्**=वह शक्तिकणों कों न नष्ट होने देनेवाला व्यक्ति **अनभिम्लातवर्णः**=न मुरझाये हुए वर्णवाला होता है—खिला हुआ होता है—प्रसन्नवदन हमेशा मुस्कराता हुआ। यह तो **इह**=इस जीवन में **अन्यस्य इव तन्वा**=उस दूसरे, अर्थात् परमात्मा के ही रूप से **विवेष**=व्याप्त हो रहा होता है। इसके अन्दर प्रभु की चमक, चमक रही होती है। यह प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—'अपांनपात्' शक्तिशाली बनता है। ज्ञानवाणियों में प्रभु का दर्शन करता है तीव्रबुद्धि बनकर उन ज्ञानवाणियों का आस्वाद लेता है। सदा प्रसन्न होता है। प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परम पद पर स्थित होना

अस्मिन्पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा दीदिवांसम्।
आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु के तेज से ही यह अपने को व्याप्त कर लेता है तो

अस्मिन्=इस **परमे पदे**=सर्वोच्च स्थान में **तस्थिवांसम्**=ठहरे हुए और **अध्वस्मभिः**=ध्वंसनरहित—न विनष्ट होनेवाले—तेजों से **विश्वहा**=सदा **दीदिवांसम्**=चमकनेवाले को **यह्वीः**=महत्त्वपूर्ण (आपः=) रेतःकण स्वयं **परिदीयन्ति**=अपने आप (परिगच्छन्ति) शरीर में चारों ओर प्राप्त होते हैं, परन्तु प्राप्त ये तभी होते हैं जबकि यह व्यक्ति गतिशील होता है '**अत्कैः**'=सतत गमनों द्वारा ये उसे प्राप्त होते हैं। क्रियाशीलता से मनुष्य वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। वासनाओं के अनाक्रमण से वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है। २. ये '**यह्वी आपः**'=ये महत्त्वपूर्ण रेतःकण **आपोनप्त्रे**=शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाले के लिए **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को तथा **अन्नम्**=(यत्तदन्नं स विष्णुर्देवता श० ७.५.१.२१) इस व्यापक देव प्रभु को **वहन्तीः**=प्राप्त कराते हुए हैं, अर्थात् जितना-जितना मनुष्य इन शक्तिकणों का रक्षण करता है, उतना-उतना ज्ञानदीप्ति व प्रभु को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—शक्तिकणों का रक्षक अपांनपात् सर्वोच्चस्थान में स्थित होता है—तेज से दीप्त होता है। ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके प्रभु को पानेवाला बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुवृक्ति (पापवर्जन)

अयांसमग्ने सुक्षितिं जनायायांसमु मघवद्भ्यः सुवृक्तिम्।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १५॥

१. **अग्ने**=हे परमात्मन्! मैं **जनाय**=अपनी शक्तियों के विकास के लिए **सुक्षितिम्**=उत्तम है निवास व गति जिनके कारण उन आपको (शोभना क्षितिः यस्मात्, क्षि निवासगत्योः) **अयांसम्**=प्राप्त होता हूँ। आपके स्मरण से मेरा जीवन उत्तम बनता है—मैं अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला बनता हूँ। २. **उ**=और **मघवद्भ्यः**=अपने ऐश्वर्यों को यज्ञों में विनियुक्त करनेवाले पुरुषों से **सुवृक्तिम्**=अच्छी प्रकार पापवर्जन को **अयांसम्**=प्राप्त करता हूँ। ऐसे पुरुषों के संग में मैं भी यज्ञशील बनता हूँ और इस प्रकार पापों का वर्जन करनेवाला होता हूँ। ३. **विश्वम्**=सब **यद्**=जो **भद्रम्**=शुभ है—कल्याण व सुखजनक है **तद्**=उसको **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अवन्ति**=अपने में रक्षित करते हैं। हम भी **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें। प्रभु का स्तवन करते हुए हम अशुभ से अपने को बचानेवाले हों।

भावार्थ—हम यज्ञशील पुरुषों का संग करें—प्रभु का स्तवन करें। यही देव बनने का मार्ग है।

सारा सूक्त 'शक्ति के नष्ट न होने देने के महत्त्व' को स्पष्ट कर रहा है। 'यह शक्ति का रक्षण किस प्रकार प्रभु की ओर गमनवाला होता है' इस बात को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रो मधुश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिरक्षण व त्यागपूर्वक अदन

तुभ्यं हिन्वानो वसिष्ट गा अपोऽधुक्षन्त्सीमविभिरद्रिभिर्नरः।
पिबेन्द्र स्वाहा प्रहुतं वषट्कृतं होत्रादा सोमं प्रथमो य ईशिषे॥ १॥

१. गत सूक्त में वर्णित 'अपांनपात्' शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला **तुभ्यं हिन्वानः**=हे प्रभो! आपके लिए प्रेर्यमाण होता है। यह प्रभु की ओर चलता है—प्रकृति-प्रवण नहीं होता। **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **वसिष्ट**=धारण करता है। इनसे अपने को आच्छादित करता हुआ पापों

से अपने को बचाता है। २. ये **नरः**=(नृ नये) अपने को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले मनुष्य **सीम्**=निश्चय से **अविभिः**=वासनाओं के आक्रमण से अपने रक्षणों द्वारा **अद्रिभिः**=(adore) प्रभुपूजनों द्वारा **अपः**=शक्तिकणों को **अधुक्षन्**=अपने में प्रपूरित करते हैं। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्वाहा प्रहुतम्**=उत्तम त्याग द्वारा आहुति दिये गये, **वषट्कृतम्**=देवों के निमित्त अर्पित किये गये **सोमम्**=सोम को—वीर्य शक्ति को **होत्रात्**=होत्र के दृष्टिकोण से, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति के दृष्टिकोण से **आपिब**=सर्वथा पीनेवाला हो। शरीर में सोम का रक्षण तभी होता है, जबकि सब राजस व तामस भोजनों का त्याग किया जाए तथा दिव्यगुणों के वर्धन का निश्चय होने पर भी सोम सुरक्षित हो पाता है। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष ही 'होता' बन पाता है। ४. सोमरक्षक पुरुष **प्रथमः**=सर्वप्रथम स्थान को प्राप्त करता है। तू वह बनता है **य**=जो **ईशिषे**=अपना ईश होता है। अपना ईश बनकर औरों पर भी शासन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलें—वेदवाणियों को अपना अस्त्र बनाएँ—शक्तिकणों को अपने में रक्षण करें। इससे ही हमारे अन्दर त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति उत्पन्न होगी।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतो माधवश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भरत के पुत्र

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामञ्छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत।
आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः॥ २॥

१. **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले मनुष्यो! **बर्हिः आसद्य**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होकर आप **दिवः**=ज्ञानप्रकाश के हेतु से तथा **पोत्रात्**=पोतृ कर्म के हेतु से—अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **सोमं आपिबत**=सोम शक्ति का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करो। इस प्रकार तुम **भरतस्य सूनवः**=भरत के पुत्र बनो—अपना भरण बड़ी उत्तमता से करनेवाले बनो। २. **यज्ञैः सम्मिश्लाः**=ये सोम का पान करनेवाले यज्ञों से युक्त होते हैं—इनका जीवन यज्ञमय बनता है। ये लोग **यामन्**=इस जीवनयात्रा के मार्ग में **पृषतीभिः**=(पृष् सेचने) जिनका शक्ति से सेचन किया गया है, ऐसे **ऋष्टिभिः**=आयुधों से—इन्द्रियों मन व बुद्धिरूप साधनों से **शुभ्रासः**=उज्ज्वल होते हैं। इनकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी चमकते हैं। **उत**=और ये सोम का पान करनेवाले लोग **अञ्जिषु**=आभरणों में **प्रियाः**=बड़े प्यारे लगते हैं। स्वास्थ्य, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता ही इनके आभरण होते हैं। इन आभरणों से इनकी शोभा बड़ी बढ़ जाती है।

भावार्थ—पवित्रता के उद्देश्य से हम शक्ति का रक्षण करें। इससे हमारा जीवन यज्ञमय, प्रकाशमय व शक्तिमय होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**त्वष्टा शुक्रश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवों का सह निवास

अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥ ३॥

१. **सुहवाः**=हे शोभन आह्वान व पुकारवाले देवो! **नः**=हमें **अमा इव**=साथ-साथ ही **हि**=निश्चय से **आगन्तन**=प्राप्त होओ। एक दिव्यगुण को अपनाने का प्रयत्न करें तो सब अच्छाइयाँ हमारे अन्दर आती ही हैं। सब अच्छाइयाँ एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप हैं। हे देवो! **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदय में **निसदतन**=निश्चय से बैठो और **रणिष्टन**=वहाँ उत्तमता से रमण करो (रमध्वम् सा०) २. **अथा**=अब हे **त्वष्टः**=निर्माण के देव! **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों के साथ

जनिभिः=शक्तियों के विकास के साथ **सुमद्गणः**=(सु मत् गण) उत्तम चेतना युक्त इन्द्रियगणोंवाला होकर **अन्धसः जुजुषाणः**=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ तू **मन्दस्व**=आनन्द का अनुभव कर। हम स्वयं निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त हों, दिव्यगुणों को धारण करें, शक्तियों का विकास करें, इन्द्रियगण को चैतन्य से युक्त करें। इस सबके लिए सोमरक्षण करें। इसी में आनन्द है।

भावार्थ—हमारे जीवन में सब दिव्यगुणों का रमण हो। सोम के रक्षण से हमारी प्रवृत्ति निर्माण की हो, न कि ध्वंस की। हम दिव्यगुणों के साथ शक्ति का विकास करें। हमारी सब इन्द्रियाँ चैतन्ययुक्त हों—ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः शुचिश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण और अग्नितत्त्व की शरीर में स्थिति

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन्होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात्तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ४ ॥

१. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानिन्! **इह**=इस जीवन में **देवान्**=देवों को—दिव्यगुणों को—**आवक्षि**=(आवह्) प्राप्तकर **च**=और **उशन्**=प्रभुप्राप्ति की कामना करता हुआ **यक्षि**=उन गुणों को अपने साथ संगत कर। **त्रिषु योनिषु**=तीनों घरों में **निषद**=तू आसीन होनेवाला बन। स्थूल शरीर में आसीन हुआ-हुआ पूर्ण स्वस्थ बन। सूक्ष्म शरीर में आसीन हुआ-हुआ ज्ञान बढ़ानेवाला हो। कारणशरीर में स्थित हुआ-हुआ सबके साथ एकत्व का अनुभव कर। २. इस **प्रस्थितम्**=निरन्तर गतिवाले—चलने के स्वभाववाले **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी मधु को—सारभूत वस्तु को **प्रतिवीहि**=तू प्रतिदिन भक्षण कर—इसे तू शरीर में ही सुरक्षित कर। **आग्नीध्रात्**=अपने अन्दर अग्नितत्त्व के धारण के उद्देश्य से तू इसे **पिब**=अपने अन्दर पान कर। तू **तव**=तेरे **भागस्य तृप्णुहि**=इस भजनीय सोमपान से प्रीति का अनुभव कर। इस सोमपान से तुझे मन में प्रसन्नता का अनुभव हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर में अग्नितत्त्व की स्थिति ठीक बनी रहती है। इससे मनुष्य को अपने मन में प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रो नभश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नृम्ण-सहः-ओजः

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत्पिब ॥ ५ ॥

१. **एषः स्यः**=गतमन्त्रों में वर्णित यह वह सोम **ते तन्वः**=तेरे शरीर के **नृम्णवर्धनः**=बल-वर्धन करनेवाला है। इसके द्वारा **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान होने पर **सहः**=शत्रुमर्षक बल (षह मर्षणे) तथा **ओजः**=इन्द्रिय-शक्तियों का वर्धक बल **बाह्वोः**=तेरी भुजाओं में **हितः**=स्थापित किया जाता है। २. **तुभ्यं सुतः**=तेरे लिए इस सोम को उत्पन्न किया गया है। हे **मघवन्**=यज्ञशील पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे हित के लिए ही **आभृतः**=यह शरीर में समन्तात् भृत हुआ है **त्वम्**=तू **ब्राह्मणात्**=ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के हेतु से **आतृपत् पिब**=खूब तृप्त होता हुआ इसे पी। इसे तू अपने अन्दर ही व्याप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम बल व सुख का बढ़ानेवाला है। यह रोगकृमिरूप शत्रुओं को कुचलनेवाला है—इन्द्रियशक्तियों का वर्धक है। अन्ततः यह ब्रह्मप्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ नभस्यश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिरक्षण व स्वायत्तशासन

जुषेथां यज्ञं बोधतं हवस्य मे सत्तो होता निविदः पूर्व्या अनु।
अच्छा राजाना नम एत्यावृतं प्रशास्त्रादा पिबतं सोम्यं मधु॥ ६॥

१. यह सोमपान करने की कामनावाला—शक्तिरक्षण की कामनावाला 'गृत्समद' समझता है कि रागद्वेष की वृत्तियाँ भी सोमरक्षण के प्रतिकूल होती हैं। सोमरक्षण के लिए इनसे ऊपर उठना भी आवश्यक है। सो यह 'मित्रावरुणौ' को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि तुम **यज्ञं जुषेथाम्**=मेरे जीवनयज्ञ का सेवन करो। मेरे जीवन में मित्र और वरुण का निवास हो—मैं सदा स्नेह व निर्द्वेषता की वृत्ति से चलूँ। **मे हवस्य बोधतम्**=मेरी पुकार को आप जानो मेरी प्रार्थना को आप सुनो। **पूर्व्याः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई **निविदः**=ऋचाओं के **अनु**=अनुसार **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला यह आपका उपासक **सत्तः**=इस शरीररूप-वेदि में स्थित हुआ है। मैं यथासम्भव अपने जीवन को वेदज्ञान के अनुसार चलाने का प्रयत्न करता हूँ। इस शरीर में होता बनकर स्थित होता हूँ। २. हे **राजाना**=दीप्त होनेवाले तथा मेरे जीवन का नियमन करनेवाले मित्रावरुणो! यह **आवृतम्**=सब दृष्टियों से वरण किया गया, अर्थात् सब दृष्टियों से जो महत्त्वपूर्ण है वह **नमः**=सोमरूप अन्न (नमः=अन्न) **अच्छा एति**=आपकी ओर आता है—आपको प्राप्त होता है। आप इस **सोम्यम् मधु**=सोम सम्बन्धी सारभूत वस्तु को **प्रशास्त्रात्**=प्रकृष्ट शासन के दृष्टिकोण से **आपिबतम्**=पीनेवाले होओ। इस सोम के शरीर में ही व्यापन से शरीर में रोगों व वासनाओं का शासन न होकर, हमारा अपना शासन बना रहता है। शरीर के हम स्वयं शासक होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर हम सोमरक्षण करनेवाले बनें। इसके रक्षण से शरीर पर हमारा शासन होगा न कि रोगों व वासनाओं का।

सूक्त का भाव यह है कि हम सोम का शरीर में रक्षण करेंगे तो (क) हम दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले बनेंगे (ख) हमारा जीवन पवित्र होगा (ग) सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहेगी (घ) शरीर में अग्नितत्त्व ठीक स्थिति में होगा (ङ) हमें नृम्ण, सह व ओज प्राप्त होगा (च) हम अपने शासक स्वयं होंगे।

इस सोमरक्षण का ही महत्त्व अगले सूक्त में भी द्रष्टव्य है—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण से आनन्द व प्रभुप्राप्ति

मन्दस्व होत्रादनु जोषमन्धसोऽध्वर्यवः स पूर्णां वष्ट्यासिचम्।
तस्मा एतं भरत तद्वशो ददिर्होत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ १॥

१. **होत्रात्**=दानपूर्वक अदन द्वारा, अर्थात् सदा यज्ञशेष का सेवन करने से, वासनाओं से ऊपर उठने द्वारा, **अन्धसः**=इस आध्यानीय सोम के **जोषम् अनु**=प्रीतिपूर्वक सेवन के अनुसार **मन्दस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। जो मनुष्य दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है, वह भोगप्रधान जीवनवाला नहीं बनता। पवित्र जीवनवाला होने से वह सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित कर पाता है। जितना-जितना सोमरक्षण होता है, उतना-उतना ही आनन्द का अनुभव होता है। २. हे **अध्वर्यवः**=यज्ञों की कामनावाले—यज्ञों को अपने साथ संपृक्त करनेवाले पुरुषो! **सः**=वह प्रभु **पूर्णां आसिचम्**=पूर्णरूप से इस सोम के शरीर में ही सेचन को **वष्टि**=चाहते हैं। प्रभु हमारे से

यही चाहते हैं कि हम इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनें। ३. **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **एतं भरत**=इस सोम को शरीर में धारण करो। **तद्वशः**=प्रभु इस बात की ही कामनावाले हैं—प्रभु हमारे से यही चाहते हैं। इस सोमरक्षण के होने पर वे प्रभु **ददिः**=हमारे लिए सब कुछ देते हैं। इसलिए हे **द्रविणोदः**=धनों का दान करनेवाले पुरुष—भोगविलास में धनों का अपव्यय न करनेवाले पुरुष! तू **होत्रात्**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति द्वारा **सोमम्**=इस सोम को **ऋतुभिः पिब**=समय रहते पीनेवाला बन। किशोरावस्था में ही इस सोमपान का ध्यान करना चाहिए। वृद्धावस्था में जाकर ध्यान आया तो क्या लाभ? यही है 'समय रहते सोमपान करना'। 'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते'।

भावार्थ—जितना-जितना हम सोम का शरीर में रक्षण करेंगे, उतना-उतना आनन्द का अनुभव करेंगे। प्रभुप्राप्ति भी इसी प्रकार होगी।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुस्मरण व यज्ञों में लगे रहना

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते ।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ २ ॥

१. **यम् उ**=जिस प्रभु को ही **पूर्वम् अहुवे**=मैं दिन के प्रारम्भ में पुकारता हूँ। **तम् इदम्**=उस प्रभु को ही अब सायं भी **हुवे**=पुकारता हूँ। **सः इत् उ**=वह प्रभु ही **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं—आराधना के योग्य हैं। **ददिः**=वे प्रभु ही देनेवाले हैं, **यः**=जो **नाम**=निश्चय से **पत्यते**=सारे संसार के पति व ईश हैं। २. **अध्वर्युभिः**=जीवनयज्ञ को चलानेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि से **प्रस्थितम्**=इस प्रस्थान व गति के स्वभाववाले **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी मधु का तू **पिब**=पान कर। यज्ञों में लगी हुई इन्द्रियादि से सोमरक्षण सम्भव होता है। ३. हे **द्रविणोदः**=धनों का दान करनेवाले यज्ञशील पुरुष! **पोत्रात्**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **ऋतुभिः सोमं**=समय रहते सोम का तू पान कर। युवावस्था में ही सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाला बन, समय बीत जाने पर पछताना ही होता है।

भावार्थ—'हम प्रभु का स्मरण करें—यज्ञों की वृत्तिवाले बनें' यही सोमरक्षण का मूल साधन है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण से सर्वांगसुदृढ़ता

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीळयस्वा वनस्पते।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ ३ ॥

१. हे **द्रविणोदः**=धनों का दान करनेवाले, न कि भोग-विलास में व्यय करनेवाले! **त्वं**=तू **नेष्ट्रात्**=जीवन के उत्तम प्रणयन के दृष्टिकोण से **ऋतुभिः सोमं पिब**=समय रहते सोम का पान करनेवाला बन। किशोरावस्था में ही शरीर में सोम को सुरक्षित कर। ताकि **ते वह्नयः**=तेरे कार्यवाहक इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि **मेद्यन्तु**=हृष्ट-पुष्ट हों। सोम की शक्ति से ही तो ये सब शक्तिसम्पन्न बनते हैं। वे वह्नि **येभिः**=जिनसे **ईयसे**=तू जीवनयात्रा में गतिवाला होता है, वे सब इस सोम द्वारा ही पुष्ट होते हैं। हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के रक्षक पुरुष! तू **अरिषण्यन्**=सोमरक्षण द्वारा अहिंसित होता हुआ **आ वीडयस्व**=दृढ़ अङ्गोंवाला बन। २. हे **धृष्णो**=वासनाओं का धर्षण करनेवाले पुरुष! **आयूय**=सोम को अपने साथ मिश्रित करके **अभिगूर्य**=सोम का शरीर में उद्यमन

(ऊर्ध्वगति) करके तू इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब इन्द्रियाँ सशक्त होंगी और सब अङ्ग दृढ़ बनेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तुरीय स्थिति

अपाद्धोत्रादुत पोत्राद॑मत्तोत नेष्ट्राद॑जुषत प्रयो॑ हितम्।
तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः॥ ४॥

१. **होत्रात्**=दानपूर्वक अदन के दृष्टिकोण से इसने **अपात्**=सोमपान किया। इसने यह समझ लिया कि दानपूर्वक अदन की वृत्ति से मैं भोगमार्ग से ऊपर उठूँगा और सोमरक्षण कर सकूँगा, साथ ही जितना-जितना सोमरक्षण करूँगा, उतनी-उतनी मेरी वृत्ति सुन्दर बनेगी। मैं अकेला खानेवाला न रहकर सबके साथ मिलकर खानेवाला बनूँगा। २. **उत**=और **पोत्रात्**=पोतृकर्म के दृष्टिकोण से—अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **अमत्त**=यह सोमपान करके हर्ष को अनुभव करनेवाला हुआ। सोमरक्षण से जीवन पवित्र बनता है। ३. **उत**=और **नेष्ट्रात्**=नेष्टृ कर्म के दृष्टिकोण से—अपने को प्रभु के समीप प्राप्त कराने के दृष्टिकोण से **हितं प्रयः**=शरीर में स्थापित सोमरूप अन्न का **अजुषत**=इसने प्रीतिपूर्वक सेवन किया। ४. इसके सोमपान का **तुरीयं पात्रम्**=चतुर्थपात्र **अमृक्तम्**=वे अहिंसित **अमर्त्यम्**=न नष्ट होनेवाले प्रभु हुए। सबसे प्रथम 'दानपूर्वक अदन' के हेतु से इसने सोमपान किया। दूसरे स्थान पर 'अपने को पवित्र करने' के दृष्टिकोण से पुनः अपने को आगे ले चलने के दृष्टिकोण से और अन्ततः प्रभु प्राप्त करने के दृष्टिकोण से इसने सोम का सेवन किया। सोम अर्थात् वीर्यरक्षण से हमारे अन्दर देने की वृत्ति होगी—हम पवित्र बनेंगे—आगे बढ़ेंगे और प्रभु को प्राप्त करेंगे। उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णन का ध्यान करते हुए यही उचित है कि **द्रविणोदाः**=धनों का दान करनेवाला व्यक्ति **द्राविणोदसः**=उस सम्पूर्ण धनों के देनेवाले प्रभु के सोम का **पिबतु**=पान करे। इस सोमरक्षण के लिए धनों का दान आवश्यक है। अन्यथा भोगवृत्ति बढ़कर मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य नहीं रहने देती।

भावार्थ—पहला चरण यह है कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। दूसरा—अपने जीवन को पवित्र बनाएँ। तीसरा—अपने को निरन्तर आगे ले चलें। चौथा—उस अहिंसित-अमर्त्य प्रभु को प्राप्त करें। इन सबके लिए सोमरक्षण करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अश्विनी देवों का रथ

अर्वाञ्चमद्य यय्यं नृवाहणं रथं युञ्जाथामिह वां विमोचनम्।
पृङ्क्तं हवींषि मधुना हि कं गतमथा सोमं पिबतं वाजिनीवसू॥ ५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' है—प्राणापान। इनसे प्रार्थना करते हैं कि **अद्य**=आज आप **रथं युञ्जाथाम्**=शरीररूप रथ को जोतो। जो रथ **अर्वाञ्चम्**=बहिर्मुखी गतिवाला न होकर **अन्तः**=अर्वाङ्मुखी गतिवाला है—विषयों की ओर न जाकर आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाला है। **यय्यम्**=गतिशील है। **नृवाहणम्**=नर-मनुष्यों का जो वाहन है—जिसमें आगे बढ़ने की वृत्तिवाला व्यक्ति स्थित है। २. यह **वाम्**=आपका रथ **इह**=यहाँ इस मानवजीवन में **विमोचनम्**=हमारा विमोचयिता हो—विषयों से हमें मुक्त करनेवाला हो। हे प्राणापानो! आप **हवींषि पृङ्क्तम्**=हवियों को ही हमारे साथ संयुक्त करो—दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले ही हम सदा बनें। **मधुना**=माधुर्य से **हि**=निश्चयपूर्वक **कम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **गतम्**=प्राप्त होनेवाले होओ। हम जीवन में

मधुरता से चलें और प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों। **अथा**=अब हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप साधनवाले अथवा अन्न (वाजिनी) के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्राणापानो! **सोमं पिबतम्**=तुम सोम का पान करो। अपने इस शरीर में सोम को सुरक्षित करनेवाले बनो। प्राणसाधना से ही सोम की ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधन के द्वारा सोम का रक्षण होकर इस शरीर रथ का सौन्दर्य बना रहता है। यह रथ हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्या चाहिए?

जोष्यग्ने समिधं जोष्याहुतिं जोषि ब्रह्म जन्यं जोषि सुष्टुतिम्।
विश्वेभिर्विश्वाँ ऋतुना वसो मह उशन्देवाँ उशतः पायया हविः ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव **समिधं जोषि**=तू 'पृथिवी, द्युलोक व अन्तरिक्ष' के पदार्थों के ज्ञान रूप तीन समिधाओं का सेवन करनेवाला होता है, अर्थात् तू सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। **आहुतिं जोषि**=तू देवयज्ञ में दी जानेवाली आहुतियों को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है—देवयज्ञ को करनेवाला बनता है। **ब्रह्म जोषि**=परमात्मा का उपासन करता है—ध्यान में प्रभु का स्मरण करता है। और **जन्यम्**=लोकहित के कर्मों का सेवन करता है। लोकसेवा को ही तू ब्रह्म का आराधन जानता है। **सुष्टुतिम् जोषि**=उत्तम स्तुति का सेवन करता है—सदा प्रभु के गुणों का कीर्तन करता है। २. हे **वसो**=उत्तम निवास वाले **महः उशन्**=तेजस्विता की कामना करता हुआ तू **विश्वान्**=सब **उशतः**=प्रभुप्राप्ति की कामना करते हुए **देवान्**=इन इन्द्रियगणों को **ऋतुना**=समय बीतने से पूर्व ही **विश्वेभिः** (विश् to enter) सोम के शरीर में प्रवेशन के द्वारा **हविः**=(घृतमाज्यं हविः सर्पिः) घृत का **पायय**=पान करा ('घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यम्' घृतमायुः)। घृत आदि सात्त्विक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न सोम को शरीर में सुरक्षित करने पर ज्ञानदीप्ति बढ़ेगी, लोकहित के कर्मों की वृत्ति बढ़ेगी और अन्ततः हम प्रभु को प्राप्त होंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान को दीप्त करने की रुचिवाले हों—यज्ञशील बनें—ब्रह्म की उपासना करते हुए लोकहित के कर्म करें। सदा स्तुति करते हुए, घृतादि पदार्थों का सेवन करते हुए, उत्पन्न सोमरक्षण से इन्द्रियों की शक्ति को न्यून न होने दें।

सम्पूर्ण सूक्त का सार यही है कि सोमरक्षण से हमारा जीवन 'होतृत्व' वाला होगा—पवित्र होगा—हम आगे बढ़ेंगे और प्रभु को पानेवाले होंगे। हमारे लिए अब सवितादेव रत्नों को धारण कराता हुआ उदय होगा।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय

उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ ॥ १ ॥

१. **स्यः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक (षू प्रेरणे) सूर्य **उ**=निश्चय से **उत् अस्थात्**=ऊपर स्थित हुआ है—उदित हुआ है। यह सूर्य **शश्वत्तमम्**=सदा से **तद् अपाः**=इस प्रेरणात्मक कार्य को करनेवाला है। **वह्निः**=यह सूर्य सबका वोढा है—धारक है। सब लोकों का केन्द्र होता हुआ सबका धारण कर रहा है। इसी से जगत् का नाम ही 'सौर जगत्' (Solar System) हो गया

है। २. **नूनं हि**=निश्चय से ही **देवेभ्यः**=क्रीडा की वृत्ति से कर्म करनेवालों के लिए यह सूर्य **रत्नं विधाति**=रमणीय वस्तुओं को विशेष रूप से धारण करता है। **अथ**=और **वीतिहोत्रम्**='कान्त यज्ञ को'—सुन्दर यज्ञोंवाले पुरुष को **स्वस्तौ**=कल्याण में **आभजत्**=सर्वथा भागी बनाता है। सूर्योदय होते ही देववृत्ति का बन करके हमें उत्तम यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त होना है। यही रत्नों की प्राप्ति व कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—सूर्य उदित होता है—हमें कर्मों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है। हमें चाहिए कि देववृत्ति के बनकर सुन्दर यज्ञों में प्रवृत्त हो जाएँ। यही रमणीय वस्तुओं व कल्याण प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य के तीन महान् कार्य

विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति।
आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अयं चिद्वातो रमते परिज्मन्॥ २॥

१. **देवः**=यह प्रकाशमय सूर्य **हि**=निश्चय से **विश्वस्य**=सारे संसार के **श्रुष्टये**=सुख के लिए **ऊर्ध्वः**=आकाश में उद्गत होता है और **पृथुपाणिः**=यह विशाल किरणरूप हाथोंवाला सूर्य **बाहवा**=अपनी भुजाओं को **प्रसिसर्ति**=फैलाता है। वस्तुतः यह सूर्य हिरण्यपाणि है—स्वर्ण को हाथ में लिए हुए है। यह हमारे शरीर में स्वर्ण को निक्षिप्त (Inject) करता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=यह प्राणशक्ति को देनेवाला है। इस प्रकार अपनी किरणों से सबको नीरोग बनाता हुआ यह सूर्य सुख देनेवाला है। २. **अस्य**=इस सूर्य के **व्रते**=व्रत में **चित्**=निश्चय से **आपः**=ये जल **आनिमृग्राः**=चारों ओर से शुद्ध हो जाते हैं। सूर्य कीचड़ में से भी शुद्ध जल को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और वे वाष्प घनीभूत होकर बादल के रूप में होकर जब बरसते हैं तो यह जल अत्यन्त शुद्ध होता है। उपयुक्त होने पर यह शरीरों को नीरोग बनानेवाला होता है—यह 'देवों का मद्य' कहलाता है—देवों के हर्ष की वृद्धि का कारण बनता है। ३. **अयं वातः चित्**=यह वायु भी **परिज्मन्**=चारों ओर गये हुए—चारों ओर व्याप्त—इस अन्तरिक्ष में सूर्य के व्रत में ही **रमते**=रमण करता है। सूर्य के कारण ही वायु की गति है। सूर्य की किरणें भूमि को गरम करती हैं। भूमि की गर्मी से वायु गरम होती है—फैलकर—हल्की होकर यह ऊपर उठती है। इस प्रकार वायु का दबाव कम हो जाता है। उस समय अधिक दबाववाले स्थल की ओर से कम दबाववाले स्थल की ओर वायु चलती है। बस, यही वायु के बहाव का कारण होता है। एवं सूर्य जलों को शुद्ध करता है और वायु के बहाव का कारण बनता है।

भावार्थ—सूर्य के तीन महान् कार्य हैं—(क) हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करके उन्हें स्वस्थ करता है (ख) जलों का शोधन करता है (ग) वायु के प्रवाह का कारण बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्यास्त और गतिविराम

आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्॥ ३॥

१. **आशुभिः**=इन शीघ्रगामी व्यापक किरणों से **यान्**=गति करता हुआ **चित्**=भी यह सूर्य **नूनम्**=निश्चय से **विमुचाति**=अपने घोड़ों को खोलता है, अर्थात् सायंकाल आता है—सूर्यास्त होता है और परिणामतः यह सूर्य **अतमानं चित्**=निरन्तर गति करते हुए व्यक्तियों को भी **एतोः**=गति

से **अरीरमत्**=रोक डालता है। सब लोग सूर्यास्त होने पर कार्यों से विरत होकर गृह की ओर लौटते हैं। २. यह सूर्य **अह्यर्षूणाम्**=(अहिं आहन्तारं शत्रुम् अभिगच्छन्ति) शत्रुओं पर आक्रमण करनेवालों की **चित्**=भी **आविष्याम्**=गमनेच्छा को—शत्रु पर आक्रमण करने की इच्छा को **न्ययान्**=(नियच्छति) रोक देता है, अर्थात् रात्रि आती है तो युद्ध भी रुक जाते हैं। **सवितुः व्रतम् अनु**=सूर्य के कार्य की समाप्ति पर **मोकी**=रात्रि **आगात्**=आती है। रात्रि का 'मोकी' नाम ही स्पष्ट कर रहा है कि यह सभी को कार्यमुक्त कर देती है।

भावार्थ—सूर्यास्त होता है तो व्यापारी व्यापार से रुकते हैं और योद्धा युद्ध करने से। 'मोकी' (रात्रि) आती है और सभी को कार्यमुक्त कर देती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रम व ऋतुओं की समृद्धि

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोन्यधाच्छक्म धीरः।
उत्संहायास्थाद् व्यृतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात्॥ ४॥

१. **वयन्ती**=वस्त्र को बुनती हुई नारी के समान रात्रि **विततम्**=फैले हुए प्रकाश को **पुनः**=पहले की भाँति **समव्यत्**=संवेष्टित कर लेती है। पहले भी रात्रि फैले हुए सूर्यप्रकाश को संवेष्टित करती रही है, आज पहले की भाँति फिर उसे संवेष्टित करती है। इस रात्रि के आने पर **धीरः**=प्राज्ञ-पुरुष—बुद्धिमान् पुरुष **कर्तोः**=क्रियमाण कर्म को **शक्म**=चाहे वह अग्नि, बिजली आदि के प्रकाश में किया भी जा सकता है तो भी **मध्या**=बीच में ही **न्यधात्**=रख देता है। स्वाभाविक जीवन यही है कि सूर्योदय के साथ कर्म प्रारम्भ किया जाए और सूर्यास्त के साथ उसे रोक कर विश्राम के लिए तैयारी की जाए। यही स्वस्थ रहने का मार्ग है। २. रात्रि की समाप्ति पर यह धीर पुरुष **संहाय**=शय्या को छोड़कर **उद् अस्थात्**=उठ खड़ा होता है। **अरमतिः**=विराम न लेनेवाला (अनुपरतिः) **सविता देवः**=प्रेरक प्रकाशमय सूर्य भी तो **आगात्**=आ गया है—फिर से उदित हो गया है। **ऋतून्**=ऋतुओं को—कालविशेषों को **वि अदर्धः**=विशेषरूप (cause to succeed) से एक दूसरे के पीछे लाने का कारण बनता है—भिन्न-भिन्न ऋतुओं को यह सूर्य ही उपस्थित करता है, उन्हें समृद्ध बनाता है।

भावार्थ—रात्रि आती है और एक समझदार पुरुष कर्म को समाप्त करके विश्राम की तैयारी करता है रात्रि की समाप्ति पर यह शय्या को छोड़ता है। सूर्योदय के साथ कर्म में पुनः प्रवृत्त होता है। सूर्य ही सब ऋतुओं को समृद्ध करता है।

सूचना—यहाँ 'शय्या को छोड़ना' तथा 'ऋतुओं का समृद्ध होना' इनमें कार्यकारणभाव है। परिश्रमी के लिए सब ऋतुएं समृद्ध होती हैं। आलसी के लिए नहीं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निहोत्र

नानौकांसि दुर्यो विश्वमायुर्वि तिष्ठते प्रभवः शोको अग्नेः।
ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधादन्वस्य केतमिषितं सविता॥ ५॥

१. सूर्योदय के होने पर **नाना ओकांसि**=पृथक्-पृथक् घरों में **दुर्यः**=प्रत्येक घर का हित करनेवाला **अग्नेः प्रभवः शोकः**=अग्नि से उत्पन्न होनेवाला तेज **विश्वम् आयुः**=सम्पूर्ण जीवन में अर्थात् आजीवन **वितिष्ठते**=स्थित होता है। इस वाक्य में निम्न बाते स्पष्ट हैं—(क) अग्निहोत्र प्रत्येक घर में होना चाहिए। (ख) यह अग्निहोत्र की अग्नि का तेज घर के लिए रोगकृमि

विनाश द्वारा अत्यन्त हितकर है। (ग) अग्निहोत्र जन्मभर करना ही चाहिए 'जरया ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा'। २. इस अग्निहोत्र के होने से **माता**=पृथिवी—यह भूमिमाता **सूनवे**= अपने इस यज्ञशील पुत्र के लिए **ज्येष्ठं भागम्**=श्रेष्ठ सेवनीय अन्न को (भज सेवायाम्) **आधात्**=धारण करती है और **अनु**=इस सेवनीय अन्न के पश्चात् **सवित्रा**=इस कर्मों में प्रेरक सूर्य देव से **अस्य केतम्**=इस का ज्ञान **इषितम्**=प्रेरित किया जाता है, अर्थात् सूर्य इसके मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर जब घर-घर में अग्निहोत्र होते हैं तो पृथिवी में उत्तम अन्न उत्पन्न होता है और सूर्य हमारी बुद्धि को बढ़ानेवाला होता है।

सूचना—यहाँ सूर्य का बुद्धि के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चार आश्रम

समाववर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरतामभूत्।
शश्वाँ अपो विकृतं हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य॥ ६॥

१. आचार्यकुल में **विष्ठितः**=विशिष्टरूप से स्थित हुआ-हुआ **जिगीषुः**=सब वासनाओं को जीतने की कामनावाला यह ब्रह्मचारी अध्ययन पूर्ण करके **समाववर्ति**=आज समावृत्त होता है। जीवन के प्रथम प्रयाण में ब्रह्मचारी आचार्यगर्भ में स्थित होता है 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'। आचार्य इसके जीवन की रक्षा करता है—उसे किन्हीं भी विषयों का शिकार नहीं होने देता। यहाँ आचार्यकुल में यह सब ज्ञानों का विजय करता है। ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर ही यह आचार्यकुल से लौटता है। २. **चरताम्**=इन ज्ञान का भक्षण करनेवाले **विश्वेषाम्**=सब दीक्षित ब्रह्मचारियों की **कामः**=इच्छा **अमा**=घर के विषय में **अभूत्**=होती है, अर्थात् समावृत्त होने के बाद अब ये गृहस्थ बनते हैं। गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के लिए यत्नशील होते हैं। परन्तु गृहस्थ में कुछ-न-कुछ रागद्वेष हो ही जाता है। इस आश्रम को इसी कारण 'मलाश्रम' यह नाम ही हो गया है। यहाँ कुछ अनृत का प्रवेश हो जाता है 'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्'। ३. यथासम्भव उत्तमता से गृहस्थ को निभाकर अब यह **शश्वान्**=आज तक गृहस्थ के कर्मों में रत पुरुष (शश प्लुतगतौ) **विकृतं अपः**=इन विकारवाले कर्मों को **हित्वी**=छोड़कर **अयात्**=फिर से वन में आ जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में यह शहरों से दूर वनों में था। वहाँ से गृह में आया था। आज फिर वहीं लौटता है—वानप्रस्थ बनता है। ४. यहाँ वन में साधना को पूरा करके उस **दैव्यस्य**=(देवस्य अयं) प्रभु के प्रकाश को दिखानेवाले **सवितुः**=सूर्य के **व्रतम् अनु**=व्रत के अनुसार यह भी अपने जीवन व्रत को ग्रहण करता है। संन्यस्त होकर परिव्राजक बनता है और चारों ओर प्रकाश को फैलाता हुआ अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। यही मानवजीवन का उत्कर्ष है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य के समीप ठहर कर ज्ञान प्राप्त करना है। अब समावृत्त होकर सुन्दर घर बनाना है। घर के कार्यों से निवृत्त होने पर वनस्थ होकर साधना-सम्पन्न बनकर संन्यास में सूर्य की तरह प्रकाश को फैलाते हुए आगे बढ़ना है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रेगिस्तानों में भी जल की सुलभता

त्वया हितमप्यमप्सु भागं धन्वान्वा मृगयसो वि तस्थुः।
वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति॥ ७॥

१. **त्वया**=हे सवितः देव! आप के द्वारा **हितम्**=रखे हुए **अप्यं भागम्**=जल-सम्बन्धी सेवनीय अंश को **अप्सु**=प्रजाओं में **मृगयसः**=अन्वेषण करनेवाले लोग **धन्वा**=निर्जल मरुस्थलों में भी **अनु आवितस्थुः**=अनुक्रमेण समन्तात् अधिष्ठित करते हैं। रेगिस्तान में भी परमेश्वर की व्यवस्था के अनुसार इस सूर्य द्वारा वृष्टि होकर ऐसे शाद्वल प्रदेशों का सन्निवेश होता है, जहाँ कि लोगों के लिए यह जल सुलभ होता है और वह स्थान मनुष्यों के निवास योग्य बन जाता है। २. यह सूर्य **विभ्यः**=पक्षियों के लिए भी **वनानि**=(जीवनं भुवनं वनम्=उदकम्) जलों को प्राप्त कराता है। सूर्य, परमेश्वर की व्यवस्था के अनुसार गति करता हुआ जलों को वाष्पीभूत करके अन्तरिक्ष में पहुँचाता है। वहाँ से वृष्टि होकर सर्वत्र जल की प्राप्ति होती है। **अस्य सवितुः देवस्य**=इस प्रेरक प्रकाशमय सूर्य के **तानि व्रता**=उन व्रतों को **नकिः मिनन्ति**=कोई भी हिंसित नहीं करता। सूर्य के ये कर्म अविहतरूप से निरन्तर चलते हैं। इनसे सर्वत्र जल सुलभ होता है, वह जल जो कि प्राणियों का प्राण है 'आपोमयाः प्राणाः'।

भावार्थ—प्रभु सूर्य द्वारा वृष्टि करके रेगिस्तानों में भी जल को सुलभ कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रात्रि घरों में सबको एकत्रित कर देती है

याद्राध्यं१ वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः।
विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः॥ ८॥

१. **वरुणः**=(रात्रिर्वरुणः ऐ० ४.१०) सारे जगत् को अन्धकार से आवृत्त करनेवाली रात्रि (वृ=वरुण) रात्रि **यात्राध्यम्**=(याताम् आराधनीयम्) चलनेवालों से—कार्यार्थ इधर-उधर गति करते हुए पुरुषों से—चाहने योग्य **अप्यम्**=सबसे प्राप्त करने योग्य **अनिशितम्**=अतीक्ष्ण अर्थात् सुखकर **योनिम्**=घर को **निमिषि**=सूर्य के अस्त होने पर **जर्भुराणः**=खूब ही प्राप्त कराती है (भृशं भरति), अर्थात् सब कार्यार्थी मनुष्य अपनी गतियों को समाप्त करके घर में लौटने की चेष्टा करते हैं। २. मनुष्य ही क्या! **विश्वः मार्ताण्डः**=सब मृत-विदीर्ण अण्ड से उत्पन्न होनेवाले पक्षी तथा **पशुः**=सब गवादि पशु **व्रजम्**=अपने-अपने बाड़े में, पक्षी अपने घोंसलों में तथा पशु अपने गोष्ठों में **आगात्**=आ जाते हैं। ३. अब **सविता**=प्रातः उदय होनेवाला सूर्य **जन्मानि**=इन जन्म लेनेवाले सब प्राणियों को **स्थशः**=अपने-अपने स्थान में **वि आकः**=फिर पृथक्-पृथक् करता है। सूर्यास्त हुआ था तो लोग कार्यों को छोड़कर, घर में एकत्रित हो गये थे। अब सूर्योदय होने पर सब अपने-अपने कार्यों पर चल पड़े हैं, और इस प्रकार अलग-अलग हो गये हैं।

भावार्थ—रात्रि सबको अपने घरों में प्राप्त कराती है। सूर्योदय के साथ सब अलग-अलग अपने कार्यों पर चले जाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वह महान् सविता

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः॥ ९॥

१. सूर्य भी सविता है, परन्तु सूर्य को भी प्रकाश प्राप्त करानेवाला प्रभु महान् सविता है। वह वह सविता है **यस्य व्रतम्**=जिसके नियम को **इन्द्रः**=इन्द्र व **वरुणः**=वरुण **न**=नहीं **मिनन्ति**=तोड़ते हैं। **मित्रः**=मित्र व **अर्यमा**=अर्यमा भी **न**=नहीं तोड़ते और **रुद्रः न**=रुद्र भी उस सविता के व्रत को तोड़ता नहीं। २. जैसे सूर्यादि देव उस प्रभु के व्रत को तोड़ नहीं सकते, उसी प्रकार

अरातयः=अदानशील पुरुष भी-यज्ञादि उत्तम कर्मों को न करनेवाले पुरुष भी **न**=उस प्रभु के व्रत को तोड़ नहीं सकते। इन्हें भी उस प्रभु की व्यवस्था में मर्यादाओं के उल्लङ्घन का दण्ड भोगना ही पड़ता है। **तम् सवितारम्**=उस प्रेरक प्रभु को **इदम्**=(इदानीम्) अब **स्वस्ति**=कल्याण के लिए **नमोभिः**=नमन द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभुस्मरण से मैं मर्यादोल्लङ्घन से बचता हूँ और इस प्रकार कल्याण को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के व्रत को जड़-चेतन कोई भी तोड़ नहीं सकते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के प्रिय

भगं धियं वाजयन्तः पुरन्धिं नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।
आये वामस्य सङ्गथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितुः स्याम॥ १०॥

१. **भगम्**=सेवनीय ऐश्वर्य को **धियम्**=बुद्धि को **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक अथवा बहुत शुभगुणों की धारक बुद्धि को **वाजयन्तः**=(वाजयन्=प्राप्तुमिच्छन् द०) प्राप्त करने के लिए चाहते हुए हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु के **प्रियाः स्याम**=प्रिय बनें। २. **वामस्य आये**=सुन्दर दिव्यगुणों को हमारे जीवनों में आने के विषय में **रयीणां संगथे**=धनों की प्राप्ति के निमित्त **नराशंसः**=सब मनुष्यों से स्तुति करने योग्य **ग्नास्पतिः**=छन्दों व वेदवाणियों का पति वह प्रभु **नः**=हमें **अव्याः**=रक्षित करे। उस प्रभु से रक्षित होकर के ही हम सुन्दर दिव्य गुणों को धारण कर सकेंगे और उसी की रक्षा में सब ऐश्वर्यों का अर्जन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम उत्तम ऐश्वर्य, बुद्धि व पुरन्धि को प्राप्त करने की कामनावाले होकर प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से रक्षित होकर दिव्यगुणों व धनों का अर्जन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिलोकी का धन

अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आ गात्।
शं यत्स्तोतृभ्य आपये भवात्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥ ११॥

१. हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **दिवः**=आकाश से **अद्भ्यः**=अन्तरिक्षस्थ जलों से तथा **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **तत्**=वह **राधः**=कार्यसाधक ऐश्वर्य **आगात्**=प्राप्त हो, जो कि **काम्यम्**=कमनीय व सुन्दर है—चाहने योग्य है। तथा **त्वया दत्तम्**=आपसे दिया गया है। द्युलोक से प्राप्त होनेवाला धन 'सूर्य का प्रकाश व सूर्यकिरणों से हमारे शरीरों में स्थापित की जानेवाली प्राणशक्ति है। अन्तरिक्ष से प्राप्त होनेवाला धन चन्द्र की ज्योत्स्ना व पर्जन्यों से बरसाये जानेवाली वृष्टि धाराएँ हैं। पृथिवी से प्राप्त होनेवाला धन विविध ओषधि वनस्पतियों व विविध धातुओं के रूप में है। ये सब धन काम्य व कार्यसाधक हैं। २. हे **सवितः**=सब ऐश्वर्यों के उत्पादक प्रभो! हमें वह धन प्राप्त हो **यत्**=जो कि **स्तोतृभ्यः**=स्तवन करनेवालों के लिए **शंभवाति**=शान्ति को देनेवाला होता है तथा **आपये**=मित्रों व बन्धुओं के लिए शान्ति का कारण होता है तथा उस **शंसाय**=खूब ही शंसन करनेवाले **जरित्रे**=(जरिता, गरिता नि० १.७) गुरु व उपदेष्टा के लिए भी शान्ति का कारण बनता है। हमें वह धन प्राप्त हो जिसमें स्तोताओं, बन्धुओं व गुरुओं का भी भाग हो। हम सारे धन को स्वयं ही खा जानेवाले न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें त्रिलोकी का कमनीय धन प्राप्त हो। उस धन में स्तोताओं, मित्रों व गुरुओं का भी भाग हो।

प्रस्तुत सूक्त सूर्योदय के वर्णन से प्रारम्भ हुआ है और उस महान् सूर्य प्रभु से त्रिलोकी के धन की याचना के साथ समाप्त हुआ है 'इस त्रिलोकी के धन के सदुपयोग से हमारे प्राणापान अत्यन्त सुन्दर होंगे' इस भावना को अग्रिम सूक्त में व्यक्त करते हैं।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ग्रावाणा-गृध्रा-ब्रह्माणा-दूता'

ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ।
ब्रह्माणेव विदथ उक्थशासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा॥ १॥

१. गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार त्रिलोक का धन प्राप्त होने पर प्रस्तुत सूक्त के देवता 'अश्विनौ', अर्थात् हमारे प्राणापान **ग्रावाणा इव**=दो स्तोताओं की तरह होते हैं। ये **इत्**=निश्चय से **तद् अर्थम्**=उस सर्वव्यापक (तन् विस्तारे) गन्तव्य (ऋ गतौ) प्रभु का ही **जरेथे**=स्तवन करते हैं। हमारे प्राणापानों से प्रभु के नाम का ही जप चलता है। २. ये प्राणापान **गृध्रा इव**=दो गृध्र पक्षियों के समान होते हैं। जैसे वे निवासस्थानभूत **वृक्षम्**=वृक्ष की ओर जाते हैं उसी प्रकार ये **निधिमन्तम् अच्छ**=ऐश्वर्यसम्पन्न इस पञ्चकोशात्मक शरीर की ओर जाते हैं। यह शरीर अन्नमयकोश में 'तेज' प्राणमय में 'वीर्य' मनोमय में 'बल व ओज' विज्ञानमय में 'ज्ञान', मन्यु तथा आनन्दमय में 'सहस्' रूप ऐश्वर्यवाला है। इस निधिमान् शरीर को ये प्राणापान प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना से ही वस्तुतः यह सब ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ३. ये प्राणापान **ब्रह्माणा इव**=दो ब्रह्मपाठी वेदज्ञ ब्राह्मणों के समान हैं। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में ये **उक्थशासा**=स्तोत्रों का शंसन करनेवाले हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर ही तो मनुष्य ब्रह्मपाठी बन पाता है। ५. **दूता इव**=ये प्राणापान दूतों के समान हैं। **हव्या**=ये पुकारने योग्य हैं। जैसे हम अन्य राष्ट्रों के दूतों को आमन्त्रित करते हैं, इसी प्रकार ये प्राणापान प्रभु के हव्य दूतों के समान हैं। **जन्या**=ये लोगों का हित करनेवाले हैं और **पुरुत्रा**=पालक व पूरक तथा त्राण करनेवाले हैं। प्राणसाधना से ही सब हित सम्भव होता है।

भावार्थ—प्राणापान द्वारा प्रभु का स्तवन होता है। ये शरीर को ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाते हैं। ज्ञानवृद्धि के ये कारण हैं तथा प्रभु के दूतों के समान हैं। ये हमारा भला ही भला करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रथ्या-अजा-मेने-दम्पती

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमा वरमा सचेथे।
मेनेइव तन्वा३ शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु॥ २॥

१. ये प्राणापान **प्रातर्यावाणा**=प्रातःकाल से ही गतिवाले **रथ्या इव**=रथ वहन में उत्तम घोड़ों की तरह **वीरा**=वीर हैं। जीवन के प्रातःकाल से ही ये इस शरीर-रथ में जुतकर वीरतापूर्वक इस शरीर-रथ का वहन करने में लग जाते हैं। जीवन के सायंकाल तक इनका यह कार्य समाप्त नहीं हो पाता। २. **अजा इव**=दो बकरियों की तरह **यमा**=साथ-साथ रहकर इस शरीर का नियमन करनेवाले ये प्राणापान **वरम्**=श्रेष्ठता को **आ सचेथे**=हमारे साथ संगत करते हैं। बकरी का दूध 'सर्वरोगापहं' कहलाता है। ये प्राणापान भी सब रोगों को दूर करनेवाले और इस प्रकार शुभ को प्राप्त करानेवाले हैं। ३. **मेने इव**=दो मान्य नारियों के समान **तन्वा शुम्भमाने**=शरीर से ये अत्यन्त शोभायमान होते हैं। जैसे वे नारियाँ निर्मल वस्त्रों से दीप्त शरीरवाली होती हैं, इसी प्रकार ये प्राणापान

शरीर को नीरोग बनाकर दीप्त करनेवाले हैं। ४. **दम्पती इव**=पति-पत्नी की तरह ये प्राणापान **जनेषु**=लोगों में **क्रतुविदा**=सब यज्ञों को प्राप्त करानेवाले हैं। पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' से पत्नी शब्द बनता ही यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने के लिए है। प्राणापान इस शरीर को सशक्त व पवित्र बनाकर इसे यज्ञाभिमुख करते हैं। प्राणसाधक सदा यज्ञशील होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान द्वारा ही सब गति होती है—सब शुभों की प्राप्ति होती है—शोभायुक्त शरीर बनता है तथा यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शृंगा-शफौ-चक्रवाका-रथ्या

शृङ्गे॑व नः प्रथ॒मा ग॑न्तम॒र्वाक्छ॒फावि॑व॒ जर्भु॑राणा॒ तरो॑भिः।
च॒क्र॒वा॒केव॒ प्रति॒ वस्तो॑रुस्रा॒ऽर्वाञ्चा॑ यातं र॒थ्ये॑व शक्रा॥ ३॥

१. हे प्राणापानो! आप **शृंगा इव**=गवादि पशुओं के सींगों के समान हो। जैसे शृंग उनको शत्रुओं से बचाने में साधन बनते हैं, उसी प्रकार प्राणापान हमें सब रोगादि शत्रुओं से बचानेवाले हैं। आप **नः**=हमें **प्रथमाम्**=सर्वप्रथम **अर्वाक् गन्तम्**=हमारे अभिमुख प्राप्त होओ। आपको प्राप्त करके हम शत्रुओं से अपना रक्षण कर पाएँ। २. **शफौ इव**=आप घोड़ों के दो खुरों के समान हो। जैसे घोड़ा इन खुरों से तीव्र गतिवाला होता है, उसीप्रकार हे प्राणापानो! आप भी **तरोभिः**=बड़े वेगों से **जर्भुराणा**=खूब ही गतिवाले हो। प्राणापान के कारण ही शरीर की सब गतियाँ हो रही हैं। **चक्रवाका इव**=आप चकवा-चकवी के समान हो। **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **उस्रा**=प्रकाश की किरणोंवाले हो। चकवा-चकवी प्रकाश की किरणों के साथ प्रेमवाले हैं—प्रकाश में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। प्राणापान भी बुद्धि तीव्र करके अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले हैं। इन्हें अन्धकार से प्रेम नहीं। ४. **रथ्या इव**=ये रथ में जुतनेवाले दो घोड़ों के समान हैं। **शक्रा**=प्राणापान इस शरीर-रथ के वहन में शक्तिवाले हैं। ऐसे हे प्राणापानो! **अर्वाञ्चा यातम्**=हमारे अभिमुख आनेवाले होओ। हमें ये प्राणापान प्राप्त हों।

भावार्थ—प्राणापान सब रोगादि शत्रुओं को दूर करनेवाले हैं। तीव्रगति उत्पन्न करते हैं। प्रकाश उत्पन्न करनेवाले हैं। शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नौका व कवच

ना॒वेव॑ नः पारयतं यु॒गेव॒ नभ्ये॑व न उप॒धीव॑ प्र॒धीव॑ ।
श्वाने॑व नो॒ अरि॑षण्या त॒नूनां॒ खृग॑लेव वि॒स्त्रसः॑ पातम॒स्मान्॥ ४॥

१. **नावा इव**=ये प्राणापान नौकाओं के समान हैं। ये हमें भवसागर से पार करने के लिए साधन बनते हैं **नः**=हमें **पारयतम्**=पार प्राप्त कराओ। प्राणापान ही वासनाओं के दुस्तर समुद्र से बचाते हैं। २. शरीर-रथ है तो ये प्राणापान **युगा इव**=उस रथ के युगों के समान हैं, अथवा **नभ्या इव**=रथचक्रनाभि के फलकों के समान हैं। **उपधी इव**=या उनके पार्श्वों में स्थित फलकों के तुल्य हैं अथवा **प्रधी इव**=चक्रों के बाह्य वलयों के समान हैं। भाव यह है कि प्राणापान शरीर-रथ के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। इनके बिना शरीर-रथ व्यर्थ हो जाता है। ३. आप **श्वाना इव**=दो रक्षक कुत्तों के समान हो। **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों को **अरिषण्या**=न हिंसित होने देनेवाले हो। कुत्ते चोर आदि से गृह का रक्षण करते हैं। प्राणापान रोगों से शरीर को बचाते हैं। ५. **खृगला**

इव=तनुत्राणों (कवच) के समान ये प्राणापान हैं। कवच जैसे शरीर का रक्षण करता है, इसी प्रकार प्राणापानो! **अस्मान्**=हमें **विस्रसः**=शरीरध्वंस से **पातम्**=बचाओ। प्राणापान हमें रोगों से बचाकर असमय की मृत्यु से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान वासनासमुद्र से पार करनेवाली नाव हैं—यात्रापूर्ति के साधनभूत शरीर रथ के मुख्य अंग हैं—शरीर के रक्षक हैं व कवच के समान हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वाता-नद्या-अक्षी-हस्तौ-पादा

वातेवाजुर्या नद्येव रीतिरक्षी इव चक्षुषा यातमर्वाक्।
हस्ताविव तन्वे३ शंभविष्ठा पादेव नो नयतं वस्यो अच्छ॥ ५॥

१. **वाता इव**=दो वायुओ के समान ये प्राणापान हैं 'द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरापरावतः'। ये **अजुर्या**=हमें जीर्ण नहीं होने देते। प्राणसाधना से मनुष्य जरा पर विजय पा लेता है। **नद्या इव**=ये प्राणापान दो नदियों के समान हैं **रीतिः**=ये निरन्तर गतिवाले हैं। नदियों का प्रवाह निरन्तर चलता है—प्राणापान की गति भी कभी रुकती नहीं। २. **अक्षी इव**=ये दो आँखों के समान हैं। **चक्षुषा**=दर्शनशक्ति से **अर्वाक् यातम्**=अन्दर प्राप्त होते हैं (अर्वाक् A willin)। वस्तुतः प्राणसाधना से अन्य इन्द्रियों की तरह जहाँ आँख की शक्ति भी बढ़ती है, वहाँ प्राणसाधना से अन्तश्चक्षु भी खुलते हैं। अन्दर ही अन्दर ये अन्तश्चक्षु आत्मतत्त्व का दर्शन करानेवाले बनते हैं। ३. **हस्तौ इव**=ये प्राणापान हाथों की तरह हैं। जैसे हाथ शरीर का रक्षण करते हैं उसी प्रकार ये प्राणापान **तन्वे**=शरीर के लिए **शम्भविष्ठा**=अत्यन्त शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं। सब रोगों से बचाकर मानस-शान्ति को भी ये देनेवाले हैं। ४. **पादौ इव**=ये प्राणापान दो पादों की तरह हैं। जैसे पाँव हमें लक्ष्यस्थान की ओर ले जाते हैं, उसी प्रकार ये प्राणापान **नः**=हमें **वस्यः अच्छ**=उत्कृष्ट धन की ओर **नयतम्**=ले चलें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम अजर, गतिशील, खुले हुए अन्तश्चक्षुओंवाले, नीरोग शरीरवाले व उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ओष्ठौ-स्तनौ-नासा-कर्णौ

ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः।
नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे॥ ६॥

१. **ओष्ठौ इव**=ये प्राणापान दो ओष्ठो की तरह हैं। ये **आस्ने**=मुख में **मधुवदन्ता**=सदा मधुर शब्दों का ही उच्चारण करते हैं। प्राणसाधक की वाणी मधुर होती है—यह कभी कड़वे शब्दों को नहीं बोलता। २. **स्तनौ इव**=ये दो स्तनों की तरह हैं। जैसे स्तन दूध द्वारा बालक का आप्यायन करते हैं, उसी प्रकार ये प्राणापान **नः**=हमें **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन के लिए **पिप्यतम्**= आप्यायित करनेवाले हों। ३. **नासा इव**=ये दो नासाछिद्रों के समान हैं। जैसे ये नासाछिद्र शुद्ध वायु को ग्रहण व अशुद्ध को बाहर फेंकने द्वारा हमारा रक्षण करते हैं, उसीप्रकार ये प्राणापान **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीर की **रक्षितारा**=रक्षा करनेवाले हों। ४. **कर्णौ इव**=ये दो कानों की तरह **अस्मे**=हमारे लिए **सुश्रुता**=उत्तम श्रवण करनेवाले **भूतम्**=हों। प्राणसाधना से हमारी प्रवृत्ति सदा उत्तम बातों को सुनने की हो और इस प्रकार यह प्राणसाधना हमारे ज्ञान का वर्धन करे।

भावार्थ—प्राणसाधक की वाणी मधुर होती है, जीवन आप्यायित होता है। शरीर की शक्तियों

का रक्षण होता है और उत्तम बातों के सुनने की वृत्ति बनकर ज्ञानवर्धन होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हस्ता-क्षामा-क्ष्णोत्र

हस्तेव शक्तिमभि सन्ददी नः क्षामेव नः समजतं रजांसि।
इमा गिरो अश्विना युष्मयन्तीः क्ष्णोत्रेणेव स्वधितिं सं शिशीतम्॥ ७॥

१. **हस्ता इव**=प्राणापान दो हाथों के समान हैं। ये **नः**=हमारे लिए **शक्तिम्**=शक्ति को **अभिसन्ददी**=आभिमुख्येन प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से ही तो हाथों में शक्ति उत्पन्न होती है तभी वे विविध कार्यों के करने में समर्थ होते हैं। २. **क्षामा इव**=ये प्राणापान पृथिवी-लोक और द्युलोक की तरह हैं। जैसे द्युलोकस्थ सूर्य से पृथिवी का जल वाष्परूप में ऊपर उठता है, उसी प्रकार प्राणापान **नः**=हमारे **रजांसि**=(उदकानि) शरीररथ रेतःकणरूप जलों को **समजतम्**=सम्यक् प्रेरित करनेवाले हों। प्राणसाधना से इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। ये रेतःकण सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **इमाः गिरः**=ये ज्ञान की वाणियाँ भी तो **युष्मयन्तीः**=तुम्हें प्राप्त होने की कामनावाली हैं, अर्थात् प्राणसाधना से ही बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान की वृद्धि होती है। ४. हे प्राणापानो! आप मेरी बुद्धि को **संशिशीतम्**=सम्यक् तीक्ष्ण करनेवाले होओ। इसी प्रकार **इव**=जैसे कि **क्ष्णोत्रेण**=शाणोपल (शान का पत्थर) से **स्वधितिम्**=परशु को तेज करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्ति की वृद्धि होती है, रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है, ज्ञान बढ़ता है और बुद्धि तीव्र होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणापान का आराधन

एतानि वामश्विना वर्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्।
तानि नरा जुजुषाणोप यातं बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **एतानि**=ये हमारे सब कार्य **वाम्**=आपके **वर्धनानि**=बढ़ानेवाले हों। हम सब कार्यों को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि प्राणसाधना किसी भी प्रकार उपेक्षित न हो। २. इसी उद्देश्य से **गृत्समदासः**=(गृणाति माद्यति) प्रभु का स्तवन करनेवाले और आनन्द में रहनेवाले लोग **ब्रह्म**=ज्ञान को व **सोमम्**=स्तुति को **अक्रन्**=करते हैं। ज्ञानप्राप्ति व स्तुति की प्रवृत्तिवाला व्यक्ति प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान की और वृद्धि होती है तथा मन की वृत्ति अन्तर्मुखी होकर यह साधक को प्रभुस्तवन की ओर ले-चलती है। ३. हे **नरा**=हमें उन्नति पथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **तानि**=उन ज्ञानों (ब्रह्म) (स्तोमं) स्तुतियों का **जुजुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **उपयातम्**=हमें प्राप्त होओ, अर्थात् तुम्हारे द्वारा हम ज्ञान व स्तवन की वृत्ति को प्राप्त करें। हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही आपके महत्त्व का प्रतिपादन करें। प्राणापान के महत्त्व को अपने हृदयों पर अंकित करते हुए हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाएं।

भावार्थ—प्राणापान का हम स्तवन करें—इनके गुणों को समझकर प्राणसाधना करनेवाले बनें। इस प्राणसाधना से अपने ज्ञान व स्तवन की वृत्ति को बढ़ाएँ।

सारा सूक्त प्राणापान के महत्त्व को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त कर रहा है। इस साधना का सर्वमहान् लाभ यह होगा कि हमारे में सोम व पूषन् दोनों तत्त्वों का वर्धन होगा। 'सोम' चन्द्रमा है, यह रस का संचार करता है। 'पूषा' सूर्य है यह उस रस का परिपाक करता है। इसके संचार के अभाव में सब अन्न के दाने पत्थरों के कंकर प्रतीत होंगे तथा परिपाक के अभाव में कच्चा रस शरीर में रोगोत्पादन करेगा। मानव स्वभाव में भी सौम्यता व तेजस्विता का समन्वय ही अपेक्षित है। अकेली सौम्यता व अकेली तेजस्विता दोनों ही अभीष्ट नहीं। घर में माता पिता की सौम्यता ही सौम्यता सन्तानों को बिगाड़ देती है तथा तेजस्विता ही तेजस्विता उन्हें जला देती है—उनकी शक्तियाँ दबी रही जाती हैं—विकसित नहीं हो पातीं। प्राणसाधना से 'सोम व पूषा' दोनों का विकास होता है। अग्रिम सूक्त में इन्हीं का उल्लेख है।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ऐश्वर्य व अमृतत्व' की प्राप्ति

सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम्॥ १॥

१. **सोमापूषणा**=सोम और पूषा—सौम्यता व तेजस्विता—दोनों मिलकर **रयीणाम्**=धनों को **जनना**=पैदा करनेवाले हैं। सब ऐश्वर्य सोम और पूषा के मेल से ही उत्पन्न होते हैं। ये **दिवः**=प्रकाश के **जनना**=पैदा करनेवाले हैं तथा **पृथिव्याः** (प्रथ विस्तारे)=तथा हृदय के विस्तार को **जनना**=पैदा करते हैं। सोम व पूषा के मेल से मस्तिष्क में ज्ञानप्रकाश को हम प्राप्त करते हैं तथा हृदय में उदारता व विशालता प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. **जातौ**=उत्पन्न हुए-हुए वे सोम व पूषा **विश्वस्य भुवनस्य**=सारे विश्व के **गोपौ**=रक्षक होते हैं। सोम एक वस्तु को उत्पन्न करता है, पूषा उसे परिपक्व करता है। इस प्रकार संसार का रक्षण होता है **देवाः**=सब समझदार (ज्ञानी) व्यक्ति सोम व पूषा के समन्वय से **अमृतस्य**=अमृत के **नाभिम्**=(नह बन्धने) बन्धन को **अकृण्वन्**=करते हैं, अर्थात् अपने में अमरता का संचार करते हैं। अन्यत्र 'सोम' को 'आपः' शब्द से तथा 'पूषा' को 'ज्योतिः' शब्द से कहा है और 'आपः+ज्योतिः' के समन्वय से ही 'रसः' जीवन का रस तथा 'अमृतम्' नीरोगता की प्राप्ति का उल्लेख है 'आपो ज्योतीरसोऽमृतम्०'।

भावार्थ—जीवन में 'सोम व पूषा' के समन्वय से सब ऐश्वर्यों का प्रादुर्भाव होता है। इसी से प्रकाश व शक्तियों का विस्तार अथवा विशालहृदयता प्राप्त होती है। ये ही सबके रक्षक हैं और अमरता को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्धकार विनाश

इमौ देवौ जायमानौ जुषन्तेमौ तमांसि गूहतामजुष्टा।
आभ्यामिन्द्रः पक्वमामास्वन्तः सोमापूषभ्यां जनदुस्रियासु॥ २॥

१. **इमौ**=गतमन्त्र में वर्णित इन **देवौ**=सब उत्तमताओं को विजय करनेवाले सोम व पूषा को **जायमानौ**=प्रादुर्भूत होते हुओं को ही **जुषन्त**=सब देव प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, अर्थात् 'सौम्यता+तेजस्विता' का धारण करने पर सब दिव्यगुण हमारे में उत्पन्न होते हैं। २. **इमौ**=ये सोम और पूषा ही **अजुष्टा**=न सेवन के योग्य—घने **तमांसि**=अन्धकारों को **गूहताम्**=संवृत व नष्ट करते हैं (नाशयतः सा०) सौम्यता व तेजस्विता के होने पर अन्धकार का नामोनिशान नहीं रहता। गतमन्त्र

के अनुसार ये 'जनिता दिवः'=प्रकाश को पैदा करनेवाले हैं। ३. **आभ्यां सोमापूषभ्याम्**= इन सोम व पूषन् तत्त्वों द्वारा ही—चन्द्र व सूर्य—जल व अग्नि तत्त्वों के द्वारा ही **इन्द्रः**= परमात्मा **आमासु उस्त्रियासु अन्तः**=तरुण गौओं के अन्दर—इन गौओं के ऊधस् प्रदेश में **पक्वम्**=पूर्ण परिपक्व पयस् (=दूध) को **जनयत्**=उत्पन्न करता है। जिन गौओं को सोम (चन्द्र) द्वारा रससिक्त और पूषा (=सूर्य) द्वारा परिपक्व घास आदि के सेवन का अवसर होता है उन तरुण गौओं के ऊधस् से हमें परिपक्व=उष्ण दूध की प्राप्ति होती है। यह एक दम ताज़ा दूध सहज पक्व है—इसी का सेवन 'देवों का अमृतपान' है। इस प्रकार देव इन सोम व पूषा में ही अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं—'देवाः अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम्'। यह काव्यमयी भाषा है कि गौएँ परिपक्व नहीं, उनमें दूध परिपक्व है। 'अपरिपक्व में परिपक्व' यह विरोधाभास अलंकार है।

भावार्थ—सौम्यता व तेजस्विता के होने पर सब दिव्य गुण उत्पन्न होते हैं—ये अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। ये सोम व पूषा ही मिलकर अपरिपक्व (अवृद्ध) गौओं में परिपक्व दूध का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहुत शरीर-रथ

सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।
विषूवृतं मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पञ्चरश्मिम्॥ ३॥

१. **वृषणा**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षण करनेवाले **सोमापूषणा**=सोम व पूषन् तत्त्व सौम्यता तथा तेजस्विता **तं रथम्**=उस शरीररूप रथ को **जिन्वथ**=हमें देते हैं—हमारे प्रति प्रेरित करते हैं (अस्मान् प्रति प्रेरयथः सा०) जो कि **रजसः विमानम्**=रजोगुण के विशिष्ट मानवाला है—जिसमें रजोगुण का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण है। **सप्तचक्रम्**=जो रस-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-मेदस् व वीर्य नामक सात धातुरूप सात चक्रोंवाला है। **अविश्वमिन्वम्**=जो विश्व का अपरिच्छेद्य है (विश्वस्यापरिच्छेद्यम्)—जिसे पूरा-पूरा समझना बड़ा कठिन है अथवा जो उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का हिंसन करनेवाला नहीं, अर्थात् प्रभु का विस्मरण करनेवाला नहीं है। २. जो रथ **विषूवृतम्**=विविध उत्तम क्रियाओं में वर्तनवाला है। **मनसा युज्यमानम्**=मन से युक्त हो रहा है—मन जिसमें घोड़ों की लगाम के स्थानापन्न है। **पञ्चरश्मिम्**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों की रश्मियोंवाला है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जिसमें प्रकाश करनेवाली हैं।

भावार्थ—सोम व पूषा का समन्वय होने पर यह शरीर-रथ अत्यन्त उत्तम बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्य व चन्द्रमा

दिव्य१न्यः सदनं चक्र उच्चा पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे।
तावस्मभ्यं पुरुवारं पुरुक्षुं रायस्पोषं वि ष्यतां नाभिमस्मे॥ ४॥

१. सोम और पूषा में से **अन्यः**=एक पूषा **दिवि उच्चा**=द्युलोक में उच्चस्थान में **सदनं चक्रे**=अपना स्थान बनाता है। **अन्यः**=दूसरा सोम (चन्द्र) **पृथिव्याम्**=ओषधीश के रूप में इस पृथ्वी पर तथा **अधि अन्तरिक्षे**=अधिष्ठातृत्वरूपेण इस अन्तरिक्ष में स्थान को करता है। किसी समय यह चन्द्र इस पृथिवी से ही पृथक् हुआ था—उस पृथ्वी के चारों ओर ही अन्तरिक्ष में यह गति कर रहा है। २. **तौ**=वे दोनों **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रायस्पोषम्**=उस धन के पोषण को **विष्यताम्**=(विमुञ्चत-प्रयच्छताम्) दें। जो धन **अस्मे नाभिम्**=हमारे लिए (नह बन्धने) सब

आवश्यक भोगों का हेतुभूत होता है—साधक बनता है। **पुरुवारम्**=बहुतों से चाहने योग्य होता है—सबके लिए उपयुक्त होने के कारण सब जिसके लिए चाहते हैं। एक उदार दानी पुरुष से लोकहित के कार्यों को होते देखकर सब कहते हैं कि 'प्रभु धन दें तो ऐसों को ही दें'। **पुरुक्षुम्**=(क्षु शब्दे) जो धन बहुत कीर्तिवाला होता है। जिस धन के कारण हमारा यश बढ़े। ३. सोम और पूषा के द्वारा ही पृथिवी में सब धनधान्यों का उत्पादन होता है तथा 'सौम्यता व तेजस्विता' वाला पुरुष ही धन प्राप्त करने की योग्यतावाला होता है।

भावार्थ—सोम और पूषा ही सब धनों के जनक हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विजय

विश्वान्यन्यो भुवना जजान विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति।
सोमापूषणाववतं धियं मे युवाभ्यां विश्वाः पृतना जयेम॥ ५॥

१. सोम और पूषा में से **अन्यः**=एक सोम **विश्वानि भुवना**=सब भुवनों को **जजान**=पैदा करता है। 'सोम' अर्थात् वीर्यशक्ति से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। सोम शब्द ही 'षू' धातु से बना है—जिसका अर्थ उत्पादन करना है। उत्पादकशक्ति ही सोम नाम से कही जाती है। २. **अन्यः**=दूसरा पूषा **विश्वम्**=सारे संसार को **अभिचक्षाणः**=प्रकाशित करता हुआ **एति**=गति करता है। सूर्य प्रकाश को तो देता ही है—यह हमारे जीवनों में बुद्धि का वर्धन करनेवाला भी है। ३. **सोमापूषणा**=ये सोम और पूषा **मे**=मेरी **धियम्**=बुद्धि व कर्म को **अवतम्**=सुरक्षित करें। इन तत्त्वों के कारण मैं उत्तम बुद्धिवाला बनूँ तथा सदा उत्तम कर्मों को करनेवाला होऊँ। हे सोम व पूषन्! **युवाभ्याम्**=आपके द्वारा हम **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सेनाओं को **जयेम**=जीतनेवाले बनें। सब शत्रुओं को जीतकर हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते चलें। 'सोम व पूषा' का समन्वय हमें उस शक्ति को प्राप्त कराएगा, जिससे हम सब शत्रुओं का पराभव कर सकेंगे।

भावार्थ—'सौम्यता व तेजस्विता' का समन्वय मुझे विजयी बनाए।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धी+रयि (बुद्धि+शक्ति)

धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वो रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु।
अवतु देव्यदितिरनर्वा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ६॥

१. **विश्वम् इन्वः**=सम्पूर्ण विश्व को प्रीणित करनेवाला **पूषा**=पोषक सूर्य **धियम् जिन्वतु**=हमारे में बुद्धि को प्रेरित करे—हमें बुद्धि को प्राप्त कराए तथा **रयिपतिः**=सब ऐश्वर्यों व रयिशक्ति का स्वामी **सोमः**=चन्द्र **रयिं दधातु**=हमारे में रयि का धारण करे। सूर्य बुद्धि को उज्ज्वल करके हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय करता है और चन्द्रमा हमारे में रयि का स्थापन करके हमारे शरीर को स्वस्थ रखता है। 'वीर्यं वै रयिः' श० १३.४.२.१३ इस वीर्य के स्थापन द्वारा सोम हमें अमृतत्व व नीरोगता को प्राप्त कराता है। २. बुद्धि व वीर्य के स्थापन होने पर **देवी**=सब व्यवहारों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाली **अनर्वा**=अहिंसित **अदितिः**=यह स्वाध्याय की देवता **अवतु**=हमारा रक्षण करे। मस्तिष्क व शरीर दोनों का ठीक होना ही पूर्ण स्वास्थ्य है। इस प्रकार स्वस्थ बनकर **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद्वदेम**=खूब ही इन सोम व पूषा की महिमा का गायन करें। इनके महत्त्व को समझकर दोनों का अपने में स्थापन करे और अधिकाधिक स्वस्थ बनें।

भावार्थ—'पूषा' हमें बुद्धि दे और 'सोम' शक्ति दे। इस प्रकार हम पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करें।

सम्पूर्ण सूक्त का सार यही है कि सुन्दर जीवन वही है, जिसमें कि सौम्यता व तेजस्विता का समन्वय है। इनका समन्वय हमें बुद्धिमान् व वीर्यमान् बनाता है। 'सोम व पूषा की कृपा से हमारा शरीर-रथ सुन्दर बनता है' इसी भावना को अग्रिम सूक्त में कहते हैं—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सहस्त्री रथ

वायो ये ते सहस्त्रिणो रथासस्तेभिरा गहि। नियुत्वान्त्सोमपीतये ॥ १ ॥

१. 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्' इस मन्त्रभाग में कहा है कि शरीर भस्मान्त है तो आत्मा अपार्थिव व अमृत है। 'अत् सातत्य गमने' से आत्मा शब्द बनता है और 'वा गतौ' से वायु। इस वायु को कर्मानुसार शरीर प्राप्त होते रहते हैं। ये शरीर जीवनयात्रा के रथ हैं। मन के दृष्टिकोण से ये सहस्त्रिणः=(स+हस्) प्रसन्नता युक्त होने चाहिएं। शरीर के दृष्टिकोण से सहस्त्रिणः=दीर्घकाल तक चलनेवाले होने चाहिएं। मन्त्र में कहते हैं कि **वायो**=हे गतिशील जीव! **ये**=जो **ते**=तेरे **सहस्त्रिणः**=प्रसन्नतायुक्त तथा दीर्घकाल तक चलनेवाले **रथासः**=शरीर-रथ हैं **तेभिः**=उनसे **आगहि**=तू प्रभु के समीप प्राप्त होनेवाला हो। प्रभु को वही व्यक्ति प्राप्त होता है जो कि इस शरीर-रथ को बड़ा ठीक रखे। सामान्यतः हमें सबल व प्रसन्न बनने का प्रयत्न करना ही चाहिए—यही प्रभु का प्रिय बनने का मार्ग है। २. इस वायु नामक आत्मा के इन्द्रियरूप घोड़ों को 'नियुत्' कहते हैं, चूँकि इन्हें निश्चय से अपने-अपने कार्य में लगे ही रहना चाहिए। हे वायो! **नियुत्वान्**=इन प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला बनकर **सोमपीतये**=तू सोम का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करनेवाला हो। इस सोम को तू शरीर में ही व्याप्त कर। वस्तुतः सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम ही तुझे दीर्घजीवी व प्रसन्नचित्त बनानेवाला होगा—यह सोम ही तुझे 'सहस्त्री' बनाएगा।

भावार्थ—'हम मन में प्रसन्न हों और शरीर में दीर्घजीवी हों' तभी प्रभु को प्राप्त करेंगे। इसके लिए प्रशस्तेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ब्रह्मभुवन-प्राप्ति

नियुत्वान्वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ २ ॥

१. **नियुत्वान्**=हे प्रशस्तेन्द्रिय! **वायो**=गतिशील पुरुष **आगहि**=तू प्रभु के समीप प्राप्त हो। इस प्राप्तिरूप कार्य में साधनभूत **अयं शुक्रः**=यह सोम है। इस वीर्यशक्ति का रक्षण होनेपर ही तू प्रभु को प्राप्त करेगा। **ते**=तेरे लिए ही **अयामि**=(यमेः कर्मणि लुङ्) यह सोम नियत व गृहीत हुआ है। शरीर में संयत हुआ-हुआ सोम ही मनुष्य की सब उन्नतियों का कारण बनता है। २. इस सोम के रक्षण से तू **सुन्वतः**=इस सृष्टि-यज्ञ करनेवाले प्रभु के **गृहं गन्तासि**=गृह को प्राप्त करेगा। प्रभु का गृह ही 'ब्रह्मभुवन' कहलाता है। यह सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु इसे पाता तो वही है, जो इसे जाननेवाला होता है। यहाँ पहुँचने पर ही जन्म-मरण चक्र से एक अति दीर्घकाल तक मुक्ति मिल जाती है।

भावार्थ—शरीर में जब सोम निगृहीत होता है तभी प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रवायूः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता

शुक्रस्याद्य गवाशिर इन्द्रवायू नियुत्वतः। आ यातं पिबतं नरा ॥ ३ ॥

१. **इन्द्रवायू**=हे इन्द्र और वायु—जितेन्द्रिय व गतिशील पुरुषो! **आयातम्**=आप दोनों आवो और **नरा**=अपने को उन्नतिपथ पर प्राप्त करानेवाले इन्द्र और वायु! आप दोनों **अद्य**=आज **शुक्रस्य पिबतम्**=इस सोम का तृप्तिपर्यन्त पान करनेवाले बनो। शरीरस्थ सोम का पान वस्तुतः इन्द्र और वायु ही करते हैं। जितेन्द्रियता व गतिशीलता वे साधन हैं जिनसे कि सोमपान सम्भव होता है। २. उस सोम का आप पान करो, जो कि **गवाशिरः**=(गो आ शृ) इन्द्रियों को समन्तात् हिंसित करनेवाला है। 'मन को मार लेता' मुहावरे में मारने का भाव जीत लेना ही है। सोम का पान करनेवाला इन्द्रियों को जीत लेना है। **नियुत्वतः**=यह सोम प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है। सोमरक्षण से इन इन्द्रियाश्वों की शक्ति बढ़ती है; परन्तु साथ ही ये इन्द्रियाश्व इस सोमरक्षक की अधीनता में होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हैं। सोमरक्षण से इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं और इस सोमरक्षक के वश में होती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नीरोग व निष्पाप

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा। ममेदिह श्रुतं हवम् ॥ ४ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'मित्रावरुण' द्वारा जीव को यह कहते हैं कि 'प्रमीतेः अयते' मृत्यु व रोगों से अपने को बचानेवाला हो; 'पापात् निवारयति' पाप से अपने को निवारित करे। 'शरीर के दृष्टिकोण से रोगों से बचना तथा मन के दृष्टिकोण से पाप से दूर रहना' यही मित्र और वरुण बनना है। ये मित्र और वरुण अपने में ऋत का वर्धन करते हैं—इनके सब कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर होते हैं। हे **ऋतावृधा मित्रावरुणा**=ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले मित्र और वरुण! (नीरोग व निष्पाप जीवनवाले व्यक्ति!) **अयं सोमः**=यह सोम (=वीर्यशक्ति) **वाम्**=आप के लिए **सुतः**=उत्पादित हुआ है। इस सोम द्वारा ही तो वस्तुतः वे मित्र और वरुण नीरोगता व निष्पापता को प्राप्त करते हैं। इस सोम रक्षण के लिए सब कार्यों को ऋत से करना आवश्यक है। यह ऋत का पालन—ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्यों को करना—मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य बनाएगा। २. प्रभु इन मित्र वरुण से कहता है कि इस प्रकार ऋतपालन द्वारा सोमरक्षण करते हुए तुम **इह**=इस जीवन में **इत्**=निश्चय से **मम**=मेरी **हवम्**=प्रेरणा को **श्रुतम्**=सुनो। यह सोमरक्षक-पुरुष हृदयस्थ-प्रभु की प्रेरणा को सुनने के योग्य बनता है।

भावार्थ—ऋतपालन से वीर्य का शरीर में रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से मनुष्य नीरोग व निष्पाप बनता है। ऐसा बनने पर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को यह सुन पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

व्यवस्थित जीवन व द्रोहशून्यता

राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र में 'मित्रावरुणा' को 'ऋतावृधा' कहा था। उन्हें ही प्रस्तुत मन्त्र में 'राजानौ' कहा है। (राज् regulate) **राजानौ**=बड़े regulated=व्यवस्थित जीवनवाले तथा **अनभिद्रुहा**=किसी का द्रोह न करनेवाले पति-पत्नी **सदसि**=स्थानविशेष में उपविष्ट होते हैं। पति-पत्नी को घर में

बड़े व्यवस्थित जीवनवाला और सब प्रकार की द्रोह-वृत्ति से ऊपर उठा हुआ बनकर रहना चाहिए। २. कैसे घर में? (क) **ध्रुवे**=जो ध्रुव है—मर्यादा से विचलित नहीं होता। घर में मर्यादाओं का पालन आवश्यक है। (ख) **उत्तमे**=जो उत्तम है। भोगाधिक्यवाला गृह अधम है। अर्थरुचितावाला मध्यम है। धर्म व यश की अभिरुचिवाला गृह उत्तम है। इस उत्तम घर में रहनेवालों की मानसवृत्ति धर्मप्रवण तथा यशःप्रवण होती है। (ग) **सहस्रस्थूणे**—यह घर हजारों स्तम्भोंवाला हो—विशाल हो। अथवा हजारों के लिए स्तम्भ के समान हो—उनका धारण करनेवाला हो। आनेवाले शतशः पुरुषों को वहाँ 'न' सुनने को न मिले। **आसाते**=आधार देने योग्य अपाहिजों को तो वह धारण करता ही हो।

भावार्थ—घर मर्यादावाला—धर्म व यश की अभिरुचिवाला—विशाल व बहुतों को धारण करनेवाला हो। इसमें रहनेवाले पति-पत्नी व्यवस्थित जीवनवाले तथा द्रोहरहित हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निष्कपटता व परस्पर प्रेम

ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती। सचेते अनवह्वरम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **ता**=वे पति-पत्नी **सम्राजा**=सम्यक् दीप्त-व्यवस्थित जीवनवाले होते हैं। **घृतासुती**=(घृतस्य आसुतिर्ययोः) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति को अपने अन्दर उत्पन्न करनेवाले होते हैं। **आदित्या**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले होते हैं तथा **दानुनः पती**=(दानस्य धनस्य वा सा०) दान के पति होते हैं। सदा दानशील होते हैं। अथवा धन के स्वामी बनते हैं—धन के दास नहीं होते। २. इस प्रकार (क) सम्यक् दीप्त व्यवस्थित जीवनवाले—निर्मल व ज्ञानदीप्त—भद्र के आदाता-दानशील बनकर ये पति-पत्नी **अनवह्वरम्**=अकुटिलता के साथ **सचेते**=परस्पर समवेत होते हैं—मिलकर चलते हैं। इनमें किसी प्रकार से परस्पर वैमनस्य नहीं होता। छलछिद्र ही वैमनस्य का मूल बना करता है। न इनमें छलछिद्र होता है—ना ही वैमनस्य पैदा होता है।

भावार्थ—पति-पत्नी व्यवस्थित जीवनवाले-निर्मल-दीप्तज्ञानवाले-अच्छाइयों को लेने की वृत्तिवाले-दानशील हों। निष्कपटता से वर्तते हुए परस्पर प्रेम वाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृदद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गोमत्+अश्वावत्

गोमदू षु नासत्याश्वावद्यातमश्विना। वर्ती रुद्रा नृपाय्यम्॥ ७॥

१. हे **नासत्या**=असत्य से रहित—सब प्रकार के असत्य को हमारे से दूर करनेवाले—अथवा नासाछिन्द्रों में चलनेवाले—**अश्विना**=प्राणापानो! **रुद्रा**=(रुत्+द्रावयतः) आप रोगों को दूर करनेवाले हो। प्राणायाम से सब दोषों का दहन होकर नीरोगता प्राप्त होती है। आप **उ**= निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **वर्तिः**=(abode residence) शरीरगृह को **यातम्**=प्राप्त कराओ। २. उस शरीरगृह को जो कि (क) **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है (**गावः**=ज्ञानेन्द्रियां) (ख) **अश्वावत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला है, तथा (ग) **नृपाय्यम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों से रक्षणीय है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर शरीर उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाला होता है—इसके द्वारा हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अनभिभवनीय शरीरगृह

न यत्परो नान्तर आदधर्षद् वृषण्वसू। दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हे **वृषण्वसू**=सब धनों का वर्षण करनेवाले—निवास के लिए आवश्यक सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप हमें उस शरीरगृह को प्राप्त कराओ; **यत्**=जिसका कि **न परः**=न तो बाहर का **न आन्तरः**=और ना ही अन्दर का शत्रु **आदधर्षत्**=किसी प्रकार से धर्षण करनेवाला हो। मन में ही पैदा हो जाने वाले काम-क्रोध आदि आन्तर शत्रु हैं और बाहर से अन्दर घुसनेवाले रोग बाह्य शत्रु हैं। प्राणसाधना होने पर ये दोनों ही शरीर को आक्रान्त नहीं कर पाते। वशीभूत प्राणापान शरीर के रोगों को तथा मन की वासनाओं को विनष्ट करते हैं। २. यह हमारा शरीरगृह ऐसा हो कि **दुःशंसः**=अशुभ का शंसन करनेवाला **रिपुःमर्त्यः**= शत्रुभूत मनुष्य भी (न आदधर्षत्=) इसका धर्षण न कर पाए। प्राणसाधना से हमारा यह शरीर तेजस्वी बनता है और इन शत्रुओं से शातनीय (नष्ट करने योग्य) नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर काम-क्रोधादि से, रोगों से, तथा बाह्य-शत्रुओं से अभिभवनीय न हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अभ्युदय व तेजस्विता

ता न आ वोळ्हमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम्। धिष्ण्या वरिवोविदम् ॥ ९ ॥

१. **धिष्ण्या**=(धिषणाभवः नि० ८.३) उत्तम बुद्धि में स्थित होनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! (प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र बनती ही है) **ता**=वे आप **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आवोढम्**=प्राप्त कराओ। प्राणसाधना से बुद्धि तो तीव्र होती ही है। मनुष्य उस तीव्रबुद्धि द्वारा सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाला बनता है। २. हमें आप उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराओ, जो कि **पिशंगसन्दृशम्**=(पिशांग=reddist-brown) स्वर्ण के समान देदीप्यमान वर्णवाला है तथा **वरिवः विदम्**=सब वरणीय धनों व वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। प्राणापान से प्राप्त होनेवाला बाह्य-धन अभ्युदय के रूप में हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराने का साधन बनता है। प्राणापान से प्राप्त होनेवाला आन्तर-धन हमें स्वर्ण के समान देदीप्यमान वर्णवाला तेजस्वी बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें बाह्यधन प्राप्त करने की भी शक्ति मिले और इससे हम तेजस्वी बनकर स्वर्ण के समान चमकें। प्रभु भी तो 'रुक्मवान' हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्थिर विचर्षणि

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ १० ॥

१. 'अत् सातत्य गमने' से आत्मा, 'वा गतौ' से वायु, तथा 'अगि गतौ' से अङ्ग शब्द बनता है। हे **अङ्ग**=क्रियाशील जीव! **इन्द्रः**=वह सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु ही **महद्भयम्**=इस महान् भय के कारणभूत 'जीवन-मरण-चक्र' व संसार का **अभीषत्**=अभिभव करता है और **अपचुच्यवत्**=इसे हमारे से पृथक् करता है संसार में भय ही भय है। प्रभुकृपा होती है और इस संसार से हम ऊपर उठ पाते हैं। २. **सः हि**=वे प्रभु ही **स्थिरः**=अच्युत हैं, किसी भी शत्रु से विचलित किये जाने योग्य नहीं हैं। **विचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा हैं, सब को देखनेवाले हैं—वे ही सबका ध्यान करते हैं (Look after)।

भावार्थ—इस संसार में पदे-पदे पर भय है। नाममात्र गलती हुई और पीड़ा प्राप्त हुई। प्रभु ही हमें इससे बचानेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

न पीछे पाप, न आगे दुःख

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ११ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=भी **नः मृडयाति**=हमें सुखी करता है, प्रभु की हमारे पर कृपा होती है तो **नः पश्चात्**=हमारे पीछे **अघम्**=पाप **न नशत्**=नहीं प्राप्त होता है। प्रभुकृपा होने पर पापों से हमारा बचाव हो जाता है। प्रभु से विमुखता ही हमें पापों की ओर ले-जाती है। २. जब हम पापों से दूर होते हैं तो उस समय **नः पुरः**=हमारे आगे **भद्रं भवाति**=कल्याण होता है। पाप का ही परिणाम दुःख है। न पाप—न कष्ट। यहाँ 'पश्चात् और पुरः' शब्द का प्रयोग पाप और कष्ट में कार्यकारणभाव को सुव्यक्त कर रहा है। पाप होता है तो कष्ट भी आता है। पीछे पाप नहीं, तो आगे दुःख नहीं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें पापों से व उनसे उत्पन्न होनेवाले कष्टों से बचाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निर्भयता

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून्विचर्षणिः ॥ १२ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सर्वाभ्यः**=सब **आशाभ्यः परि**=दिशाओं से पापों का वर्जन करता हुआ (परेर्वर्जने) **अभयं करत्**=हमें निर्भय बनाए। निष्पापता से ही निर्भयता आती है। २. **शत्रून् जेता**=प्रभु ही हमारे शत्रुओं को जीतते हैं। काम-क्रोधादि को पराजित करने की शक्ति हमारे में नहीं है। प्रभु ही इन शत्रुओं को पराजय किया करते हैं। **विचर्षणिः**= इस प्रकार सबके द्रष्टा वे प्रभु ही हैं—वे ही सबका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से ही वासना-विनाश द्वारा निर्भयता प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विश्वे देवासः

विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम्। एदं बर्हिर्नि षीदत ॥ १३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें निर्भयता प्राप्त होती है। यह अभय ही दैवी-सम्पत्ति का प्रारम्भ है। इससे सब दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है। **विश्वे देवासः**=सब देव **आगत**=आइए—सब दिव्यगुण मुझे प्राप्त हों। **मे**=मेरे **इमं हवम्**=इस आह्वान को—पुकार व प्रार्थना को **आ शृणुत**=सुनो। २. **इदं बर्हिः**=मेरे इस वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=आकर बैठिए। जिस हृदय में अभय है—वहाँ अन्य दिव्यगुण भी आएँगे ही।

भावार्थ—हमारा हृदय सब दिव्यगुणों का आधार बने।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुनहोत्र

तीव्रो वो मधुमाँ अयं शुनहोत्रेषु मत्सरः। एतं पिबत काम्यम् ॥ १४ ॥

१. सब देव सोम का पान करते हैं—वीर्य का अपने में ही रक्षण करते हैं। वस्तुतः इस सोमरक्षण के अनुपात में ही उनमें दिव्यता की उत्पत्ति होती है। हे देवो! **वः**=तुम्हारा **अयम्**=यह

सोम **तीव्रः**=बड़ा तीव्र है—तुम्हें तेजस्वी बनानेवाला है—तुम्हारे शत्रुओं के लिए भयंकर है। परन्तु साथ ही यह मधुमान् है—अत्यन्त माधुर्यवाला है—जीवन को मधुर बनाता है। तेजस्विता व मधुमान् मधुरता का इनके द्वारा समन्वय होता है। २. **शुन-होत्रेषु**=(शुन गतौ) क्रियाशील (हु दाने) व दानशील पुरुषों में यह **मत्सरः**=हर्ष का संचार करनेवाला है। क्रियाशील-पुरुष ही वासनाओं से बचकर सोम का रक्षण कर पाता है। दानशीलता उसे भोगवृत्ति से बचाती है और इस प्रकार यह वीर्य के विनाश से बचा रहता है। **एतम्**=इस **काम्यम्**=अत्यन्त कमनीय, सुन्दर व चाहने योग्य सोम को **पिबत**=पीनेवाले बनो। इसे शरीर में ही सुरक्षित करो। रक्षित हुआ-हुआ यह तुम्हें 'तेजस्वी, मधुर व प्रसन्न' बनाएगा।

भावार्थ—क्रियाशील व दानशील पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सुरक्षित सोम उन्हें 'तेजस्वी, मधुर व आनन्दमय' बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवराट् इन्द्र

इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः पूषरातयः। विश्वे मम श्रुता हवम्॥ १५॥

१. हे **विश्वे देवासः**=सब देवो! आप **मम हवम्**=मेरी प्रार्थना को **आ श्रुत**=सुनो। आपकी आराधना करता हुआ मैं आपको अपने हृदय में आसीन कर सकूँ। आपको आमन्त्रित करके ही तो प्रभु के आमन्त्रण की तैयारी होती है। २. आप सब मुझे प्राप्त होओ, आप **इन्द्रज्येष्ठाः**= ज्येष्ठ इन्द्रवाले हो। आपमें सर्वाग्रणी इन्द्र ही तो है। 'इन्द्र' देवराट् कहलाते हैं। **मरुद्गणाः**= आप मरुतों के गणवाले हो। मरुत् प्राण हैं। प्राणों की साधना द्वारा ही अन्य देवों की शरीर में स्थापना होती है। अन्त में देवराट् इन्द्र (प्रभु) का साक्षात्कार भी इस प्राणसाधना से ही होता है। देवासः=आप दीप्तिवाले हो। **पूषरातयः**=पोषण के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के देनेवाले हो।

भावार्थ—हमारे अन्दर देवों का स्थान हो। देवों के स्थापन द्वारा प्रभुदर्शन की हम तैयारी करें। देवों के स्थापन के लिए ही प्राणसाधना को अपनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अप्रशस्तता से प्रशस्ति की ओर

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥ १६॥

१. 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। यह मनुष्य के लिए माता की तरह हितकारिणी है—यह उसके जीवन को बनानेवाली है—सचमुच माता है—अम्बितमा—dearest mother है। यह ज्ञान भी एक नदी के समान है—ज्ञानजल की नदी सर्वोत्तम नदी है। यह ज्ञान ही सब व्यवहारों का साधक है—अतः यह देवी है। आचार्य से शिष्य की ओर प्रवाहरूप में प्रवृत्त होने से सरस्वती है। इसमें स्नान किये बिना मनुष्य स्नातक नहीं कहलाता। इसमें स्नान से मनुष्य पवित्र बन जाता है। इस स्नान के अभाव में अपवित्रता बनी रहती है। २. इसलिए प्रार्थना करते हैं कि हे **अम्बितमे**=प्रशस्त मातृतुल्य! **नदीतमे**=सर्वोत्तम नदी के समान! **देवितमे**=सर्वोत्कृष्ट देवता! **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्रि देवि! हम तेरे विना **अप्रशस्ताः इव**=कुछ अप्रशस्त से जीवनवाले **स्मसि**=हैं। तेरे बिना हमारा जीवन पवित्र नहीं बन पाया। हे **अम्ब**=उत्तम ज्ञानोपदेश देनेवाली मातः! **नः प्रशस्तिं कृधि**=हमारे जीवन में प्रशस्ति को करिए। अप्रशस्तता को हटाकर हमें प्रशस्तता को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—ज्ञान से जीवन प्रशस्त बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

जीवन विकास

त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्। शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १७ ॥

१. मानवजीवन का आधार ज्ञान ही है। ज्ञान से ही मानव मानव बनता है—इसके बिना वह पशु के समान ही रह जाता है। इसी बात को मन्त्र में कहते हैं कि **हे सरस्वति**=ज्ञानाधिष्ठात्रि देवि! **त्वे देव्याम्**=तुझ सर्वव्यवहार साधिका प्रकाशमयी देवी में ही **विश्वा आयूंषि**=सब जीवन **श्रिता**=आश्रित हैं। जीवन की यही तो आधार है। २. हे सरस्वति! तू **शुनहोत्रेषु**=गतिशील आलस्यरहित तथा दानशील भोगों में अनासक्त पुरुषों में **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। ज्ञान वस्तुतः आलस्यशून्य, भोगों में अनासक्त, पुरुषों को ही प्राप्त होता है। ३. हे **देवि**=प्रकाशमयी मातः! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्कृष्ट विकास व प्रादुर्भाव को **दिदिड्ढि**=देनेवाली हो। ज्ञान से ही वस्तुतः सब शक्तियों का सुन्दर विकास होता है।

भावार्थ—ज्ञान से ही जीवन उत्तम बनता है—इसी से सब शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सरस्वती का आराधन

इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति ।
या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति ॥ १८ ॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिष्ठात्रि देवि! **इमा ब्रह्म जुषस्व**=इन ज्ञानवाणियों का तू प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। **वाजिनीवति**=हे उत्तम अन्नोंवाली सरस्वति! तू ज्ञानवाणियों का ही सेवन कर। वस्तुतः ज्ञान से हमें अन्नों के सम्पादन की योग्यता भी प्राप्त होती है। पर हम सदा सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करनेवाले हों। सात्त्विक अन्नों का ही सेवन सरस्वती की आराधना के लिए आवश्यक है। २. हे सरस्वति! तू उन **मन्म**=मननीय स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों को स्वीकार कर, **या**=जिन **ते**=तेरे स्तोत्रों को **गृत्समदाः**=स्तवन करनेवाले व प्रसन्न रहनेवाले लोग करते हैं। हे **ऋतावरि**=ऋत का हमारे जीवन में रक्षण करनेवाली सरस्वति! जो **प्रियाः**=तेरे प्रिय होते हैं वे **देवेषु जुह्वति**=देवों के प्रति अपने को देनेवाले होते हैं। वस्तुतः इन 'माता, पिता व आचार्य' आदि देवों के प्रति अपने को देकर ही ये ज्ञानी बनते हैं।

भावार्थ—सरस्वती का आराधन हमें ज्ञानी बनाता है, उत्तम अन्न प्राप्त कराता है, हमारे जीवनों में ऋत (सत्य) का धारण करता है। इस आराधना के लिए हमें 'माता, पिता व आचार्य' के प्रति अपना अर्पण अवश्य करना है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वास्थ्य+ज्ञान तथा यज्ञ

प्रेतां यज्ञस्य शंभुवा युवामिदा वृणीमहे। अग्निं च हव्यवाहनम् ॥ १९ ॥

१. जीवन में शरीर व मस्तिष्क दोनों ठीक हों तो यज्ञ चलते हैं। इनमें से किसी एक के भी ठीक न होने पर यज्ञ समाप्त हो जाते हैं। सो द्यावा पृथिवी से प्रार्थना करते हैं कि **यज्ञस्य शंभुवा**=इस जीवनयज्ञ को शान्ति से चलानेवाले मस्तिष्क व शरीर! आप दोनों **प्रेताम्**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त होओ। हमारा मस्तिष्क भी ठीक हो और हमारा शरीर भी ठीक हो। **युवाम् इत्**= आप दोनों

को ही निश्चय से **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरते हैं। हम चाहते हैं कि हमारा मस्तिष्क भी ठीक हो और हमारा शरीर भी ठीक हो। २. **च**=और **हव्यवाहनम्**=हव्य पदार्थों का वहन करनेवाले **अग्निम्**=अग्नि को हम वरते हैं। हम चाहते हैं कि स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाले बनकर हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क सर्वथा ठीक हो—शरीर स्वस्थ हो और हम यज्ञों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सफलता व स्वर्गप्राप्ति

द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥ २०॥

१. **द्यावापृथिवी**=देदीप्यमान मस्तिष्क तथा विस्तृत शक्तियोंवाला शरीर **नः**=हमारे लिए **इमम्**=इस **यज्ञम्**=यज्ञ को **देवेषु**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **यच्छताम्**=दें—प्राप्त कराएँ। हमारा मस्तिष्क ज्ञानसम्पन्न हो—शरीर शक्तिसम्पन्न हो। इस ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। इस यज्ञशीलता से हमारे में दिव्यगुणों का विकास हो। २. यह यज्ञ **सिध्रम्**= हमारी इष्ट कामनाओं का साधक हो। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। इस लोक में यह यज्ञ हमें सफल बनाए और **अद्य**=आज **दिविस्पृशम्**=(दिव्=स्वर्ग) स्वर्ग के स्पर्श का साधन बने। इस यज्ञ द्वारा हम अपने घर को स्वर्गोपम बना पाएँ। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम' बिना यज्ञ के तो न इस लोक में कल्याण है, न उस लोक में। यज्ञ से ही तो हमारा जीवन कल्याणमय बनता है। जिस घर में गृहवासियों की प्रवृत्ति यज्ञिय होती है—वह घर स्वर्ग सा बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। यज्ञ से इस लोक की हमारी कामनाएँ पूर्ण होंगी और हम अपने घरों को स्वर्ग बना सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अद्रुहाः-देवाः-यज्ञियाः

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये॥ २१॥

१. हे द्यावापृथिवी! **वाम्**=आपकी **उपस्थम्**=गोद में **आसीदन्तु**=बैठें। कौन? **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष जो कि **अद्रुहाः**=द्रोह की भावना से रहित हैं। **यज्ञियाः**=जो यज्ञशील हैं, अर्थात् लोग ज्ञान प्राप्त करें—शक्तिशाली हों। इस ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके वे द्रोह से रहित हुए-हुए देववृत्तिवाले व यज्ञशील बनें। (यहाँ 'अद्रुहा' को द्विवचनान्त रखें तो वह द्यावापृथ्वी का विशेषण होगा। 'अद्रुहाः' इस रूप में सन्धिछेद करने पर 'देवाः' का ही विशेषण बन जाता है) २. ये सब देव द्रोहवृत्ति से ऊपर उठे हुए यज्ञशील बनकर **इह**=इस जीवन में **अद्य**=आज **सोमपीतये**=सोमपान के लिए हों। सोम=वीर्य का रक्षण करना यज्ञियवृत्ति के होने पर ही सम्भव है। भोगवृत्ति सोम के विनाश का कारण बनती है।

भावार्थ—हमारी वृत्ति द्रोहशून्य हो—दिव्यगुणों को अपनाने का हम प्रयत्न करें—यज्ञशील हों। तभी हम सोमपान—वीर्यरक्षण कर पाएंगे।

सम्पूर्ण सूक्त भिन्न-भिन्न शब्दों में जीवन को उत्तम बनाने का उपदेश कर रहा है। इस उत्तमता की प्रेरणा देनेवाले जितेन्द्रिय (इन्द्र) आकुल-पुरुषों को (पिञ्जल) सुखी करनेवाले संन्यासी का

अग्रिम सूक्त में वर्णन है। यह कपिञ्जल है—दुःखाकुल संसार को सद्वचनामृतों से सुखी व शान्त करनेवाला है। स्वयं जितेन्द्रिय बनकर औरों को वैसा बनने का उपदेश करता है—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श परिव्राजक

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत्॥ १॥

१. **कनिक्रदत्**=प्रभु का निरन्तर आह्वान करता हुआ, **जनुषं प्रब्रुवाणः**=इस संसार में जन्म लेनेवाले इन मानवों को **प्रब्रुवाणः**=प्रकर्षेण धर्म का उपदेश करता हुआ यह **वाचम् इयर्ति**=वाणी को प्रेरित करता है। परिव्राजक की प्रथम विशेषता यही है कि (क) वह निरन्तर प्रभु के नाम का जप करता है। (ख) फिर, यह लोगों को सत्य का उपदेश देता है (ग) उपदेश के लिए ही यह वाणी का प्रयोग करता है—अन्यथा मौन रहता है। यह वाणी का प्रयोग ऐसे करता है, **इव**=जैसे कि **अरिता**=चप्पू चलानेवाला (Darsman) **नावम्**=नाव का प्रयोग करता है। नाव द्वारा वह लोगों को नदी के पार करता है, इसी प्रकार यह वाणीरूप नाव द्वारा लोगों को पाप समुद्र में डूबने से बचाता है। २. हे **शकुने**=शक्तिशालिन् संन्यासिन्! तू लोगों के लिए इन सदुपदेशों से **सुमंगलः भवासि**=उत्तम कल्याण करनेवाला होता है। **च**=और तू इस बात का पूरा ध्यान करना कि **त्वा**=तुझे **काचित्**=कोई भी **विश्व्या**=सब दिशाओं में होनेवाला—अथवा सबके अन्दर आ जानेवाला **अभिभा**=अभिभव—वासनाओं से होनेवाला तिरस्कार **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। तुझे कोई भी वासना कभी आक्रान्त न कर ले। इन्हें छोड़कर ही तू संन्यस्त हुआ है। वासनाएँ ही नहीं छुटी तो संन्यास क्या? और वासनाओं में फंसे हुए पुरुष से दिए जानेवाले उपदेश का प्रभाव भी क्या होना?

भावार्थ—परिव्राजक (क) सदा प्रभुस्मरण करनेवाला हो (ख) सत्योपदेश के लिए ही वाणी का प्रयोग करे (ग) लोगों को भवसागर में डूबने से बचानेवाला मल्लाह बने (घ) स्वयं शक्तिशाली होता हुआ वासनाओं में न फंसे। ऐसा संन्यासी ही लोककल्याण कर पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिंसा अभिमान व काम से दूर

मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विदद्विषुमान्वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह ॥ २॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों का ही कुछ व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **श्येनः**=वाज़ **मा उद्वधीत्**=मत हिंसित करनेवाला हो। यह श्येन 'हिंसा' का प्रतीक है। कोश में इसका 'हिंसा' (Violence) भी अर्थ दिया है। एक संन्यस्त पुरुष में लोभादि के कारण औरों के हिंसन की वृत्ति होनी ही नहीं चाहिए। २. **मा सुपर्णः**=सुपर्ण भी तुझे हिंसित न करे। सुपर्ण गरुड़ का नाम है। यह 'अभिमान' का प्रतीक है। एक संन्यस्त पुरुष अभिमान से ऊपर उठा हुआ ही ठीक है। ३. कामदेव पञ्चबाण कहलाता है। यह 'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य सायकाः' अथवा 'संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा। स्तंभनञ्चेति

कामस्य पंचवाणाः प्रकीर्तिताः' अरविन्दादि अथवा संमोहनादि बाणों से हमारे पर आक्रमण करता है। इस आक्रमण से हमें कम्पित कर देनेवाला यह वीर (वि+ईर=कम्पने) है। कम्पित करके धर्ममार्ग से हमें परे फेंकनेवाला यह 'अस्ता' है (असु क्षेपणे) यह **इषुमान्**=संमोहनादि बाणोंवाला **वीरः**=कम्पित करनेवाला **अस्ता**=धर्ममार्ग से दूर फेंकनेवाला कामदेव **त्वा**=तुझे **मा विदत्**=मत प्राप्त करनेवाला हो। तू हिंसा, अभिमान व काम का शिकार न बन। ४. **पित्र्यां प्रदिशम् अनु**=पितरों की प्रकृष्ट दिशा के अनुसार **कनिक्रदत्**=खूब उपदेश देता हुआ **सुमंगलः**=उत्तम मंगल कर्मोंवाला, **भद्रवादी**=सदा प्रशस्त शब्दों को बोलनेवाला **इह**=इस हमारे घर में **वद**=उपदेश देनेवाला हो। हमारे घरों में इन संन्यस्त-पुरुषों का आना हो। हम इन्हें भिक्षादि द्वारा पूजित करें और ये हमें उत्तम उपदेश दें। उसी प्रकार उपदेश दें, जैसे कि एक पिता पुत्र को उपदेश देता है। वस्तुतः सब लोग संन्यासी के लिए पुत्र तुल्य हैं। संन्यासी का यज्ञ 'प्राजापत्य' यज्ञ ही तो है। वह उपदेश द्वारा इन प्रजाओं का रक्षण करनेवाला है। स्वयं मंगलकर्मों को करता हुआ—सबके मंगल को चाहता हुआ—सदा भद्र शब्दों को बोलता हुआ सबको कल्याण का उपदेश करता है।

भावार्थ—संन्यासी 'हिंसा, अभिमान व काम' का शिकार न होकर सदा सबको हित का उपदेश करे—उसी प्रकार जैसे कि पिता पुत्र को उपदेश करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चोर व अघशंस से बचें

अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते।
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ३॥

१. संन्यासी घर में आये तो गृहस्थ उसे अपने दाहिने पार्श्व में (उत्तराभिमुख) बिठाते हैं। दाहिनी ओर बिठाना आदर का सूचक होता है। उपदेश लेनेवाले गृहस्थ लोग पूर्वाभिमुख बैठें तो इस संन्यासी को वे अपने दक्षिण हाथ की ओर उत्तराभिमुख बिठाते हैं। **गृहाणाम्**=गृहस्थ लोगों के **दक्षिणतः**=दक्षिण की ओर बैठा हुआ **शकुन्ते**=शक्तिशाली तू **अवक्रन्द**=इन नीचे बैठे लोगों को आहूत कर—इन्हें सम्बोधित करके उपदेश देनेवाला हो। 'अव' नीचे की भावना देता है, 'क्रन्द' सम्बोधन की। उपदेश लेनेवाले कुछ नीचे नम्रतापूर्वक बैठते हैं। २. संन्यासी का हृदय सबके लिए **सुमङ्गलः**=मंगलकामनावाला हो और वह सदा **भद्रवादी**=भद्र शब्दों में ही उपदेश दे। ३. हे प्रभो! **नः**=हमें कभी भी कोई छद्मवेशवाला **स्तेन**=चोर साधु **मा ईशत**=अपने वश में मत कर ले। **अघशंसः**=बुराइयों को भी अच्छाइयों के रूप में कहनेवाला भी **मा**=हमारे पर प्रभुत्ववाला मत हो। हम उसकी बातों में न आ जाएँ। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद्वदेम**=हम खूब ही आपकी चर्चा करें और **सुवीराः**=उत्तम वीर बनें व वीर-प्रजाओंवाले हों।

भावार्थ—सुमंगल भद्रवादी शक्तिशाली संन्यासी का हम आदर करें। छद्मवेश चोर व अघशंस से बचें।

इस सूक्त में आदर्श संन्यासी का सुन्दर चित्रण है। यही विषय अगले सूक्त का भी है—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इहलोक+परलोक

प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
उभे वाचौ वदति सामगाइव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति॥ १॥

१. **प्रदक्षिणिदभि**=(प्रदक्षिणं एति यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा) इस पृथ्वी की प्रदक्षिणा सी करते हुए—सर्वत्र विचरते हुए ये परिव्राजक **अभिगृणन्ति**=प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करते हैं। **कारवः**=अपने कार्य द्वारा प्रभुस्तवन करनेवाले **शकुन्तयः**=शक्तिशाली—सशक्त शरीरवाले ये संन्यासी **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **वयः वदन्तः**=(अन्तं सूचयन्तः सा०) अन्त की सूचना देते हुए आगे बढ़ते हैं। सब लोगो को खानपान के विषय में सचेत करते हुए ये उन्हें स्वस्थ रहने के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते हैं। 'वयः' का अर्थ मार्ग भी होता है (Way)। ये लोगों को मार्ग का ज्ञान देते हैं। उस-उस ऋतु की दिनचर्या की ओर लोगों के ध्यान को आकृष्ट करते हैं। २. यह परिव्राजक **सामगाः**=सामगान करनेवाला **इव**=जैसे **गायत्रं त्रैष्टुभं च**=गायत्र और त्रैष्टुभ दोनों सामों का गान करता है, उसी प्रकार **उभे वाचौ**=दोनों वाणियों को **वदति**=बोलता है। 'गायत्र' वाणी में (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणरक्षण के साधनों का संकेत करता है और 'त्रैष्टुभ' वाणी में (त्रि+स्तुभ्=Stop) काम, क्रोध, लोभ तीनों को रोकने का उपदेश देता है। गायत्र वाणी द्वारा उनके इस लोक को सुन्दर बनाता है तो त्रैष्टुभ द्वारा परलोक को। इस प्रकार वह उनको अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले मार्ग का ज्ञान देता है ३. इस प्रकार उपदेश देता हुआ वह **अनुराजति**=(अनुरागान् करोति) उन्हें इन मार्गों पर चलने के लिए अनुरागवाला करता है। केवल परलोक का उपदेश लोगों को आकृष्ट नहीं कर पाता, वह उन्हें अक्रियात्मक-सा प्रतीत होता है और केवल इस लोक का उपदेश संसार-सम्बद्ध होने से तुच्छ-सा लगने लगता है।

भावार्थ—संन्यासी ऋतु के अनुसार दिनचर्या का उपदेश दे। इहलोक व परलोक के सुधार का समन्वय करता हुआ लोगों को मार्ग के प्रति अनुरागवाला करे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उद्गाता व ब्रह्मा

उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्रइव सवनेषु शंससि।
वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद
विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥ २ ॥

१. हे **शकुने**=शक्तिसम्पन्न संन्यासिन्! तू **उद्गाता इव**=उद्गाता ऋत्विज् की भाँति **साम गायसि**=साम का गान करता है। उपासना मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ तू उद्गाता की तरह प्रतीत होता है। प्रातःसायं प्रभु की उपासना के साथ तू उद्गाता बन जाता है। **ब्रह्मपुत्रः इव**=ब्रह्मा के समान तू **सवनेषु शंससि**=(षू प्रेरणे) प्रेरणात्मक यज्ञों में लोगों को उपदेश करता है। ब्रह्मा चुप बैठा रहता है, और कुछ विकृति होने पर उस-उस ऋत्विज् को उसे ठीक कर लेने का संकेत करता है। इसी प्रकार संन्यासी लोगों को ठीक मार्ग का उपदेश देता है। २. यह संन्यासी **वृषा इव वाजी**=एक बैल के समान शक्तिशाली होता है—शक्तिसम्पन्न बने विना इसने कार्य भी क्या करना। हे **शकुने**=शक्तिशाली संन्यासिन्! तू **शिशुमतीः अपि इत्या**=सन्तानोंवाली इन प्रजाओं—अर्थात् गृहस्थों की ओर आकर **सर्वतः नः भद्रम्**=सब प्रकार से हमारे कल्याण करनेवाले वचनों को **आवद**=प्रतिपादित करनेवाला हो। **नः विश्वतः**=हमारे शरीर में प्रविष्ट सब तत्त्वों के **पुण्यम्**=कल्याण की बात को **आवद**=कह। हमें आप ऐसा उपदेश दीजिए कि बाह्यदृष्टिकोण से भी हमारा कल्याण हो और अन्दर के दृष्टिकोण से भी हम कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—संन्यासी उद्गाता के समान प्रभु के स्तोत्रों का गायन करता है और ब्रह्मा के समान लोगों को प्रेरणा देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुमति की कामना

आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।
यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ३ ॥

१. हे **शकुने**=सशक्त शरीरवाले संन्यासिन्! **आवदन्**=चारों ओर उपदेश देता हुआ **त्वम्**=तू **भद्रम् आवद**=कल्याण का ही उपदेश कर। **तूष्णीम् आसीनः**=उपासना में चुपचाप शान्त बैठा हुआ भी तू **नः**=हमारे लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति की **चिकिद्धि**=(कित् to desire) कामना कर। 'सबको शुभबुद्धि प्राप्त हो' यही तेरी आराधना हो। संन्यासी ने कभी किसी के अशुभ की तो कामना करनी ही नहीं। २. **यद्**=जब तू **उत्पतन्**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलता हुआ होता है तो ऐसे **वदसि**=उपदेश देता है **यथा**=जैसे **कर्करिः**=वाद्यविशेष। जैसे वीणा से मधुर ही स्वर निकलता है, इस प्रकार तू मधुर ही बोलता है। तेरे सम्पर्क में **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में बैठे हुए हम भी **सुवीराः**= कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले वीर बनकर **बृहद्वदेम**=खूब ही ज्ञान की बातों का प्रतिपादन करें। परस्पर ज्ञानचर्चा को करनेवाले ही हम बनें।

भावार्थ—संन्यासी कल्याण का उपदेश करे और सबके लिए शुभबुद्धि की कामना करे। उपदेश मधुर शब्दों में ही दे।

॥ इति द्वितीयं मण्डलम् ॥